Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

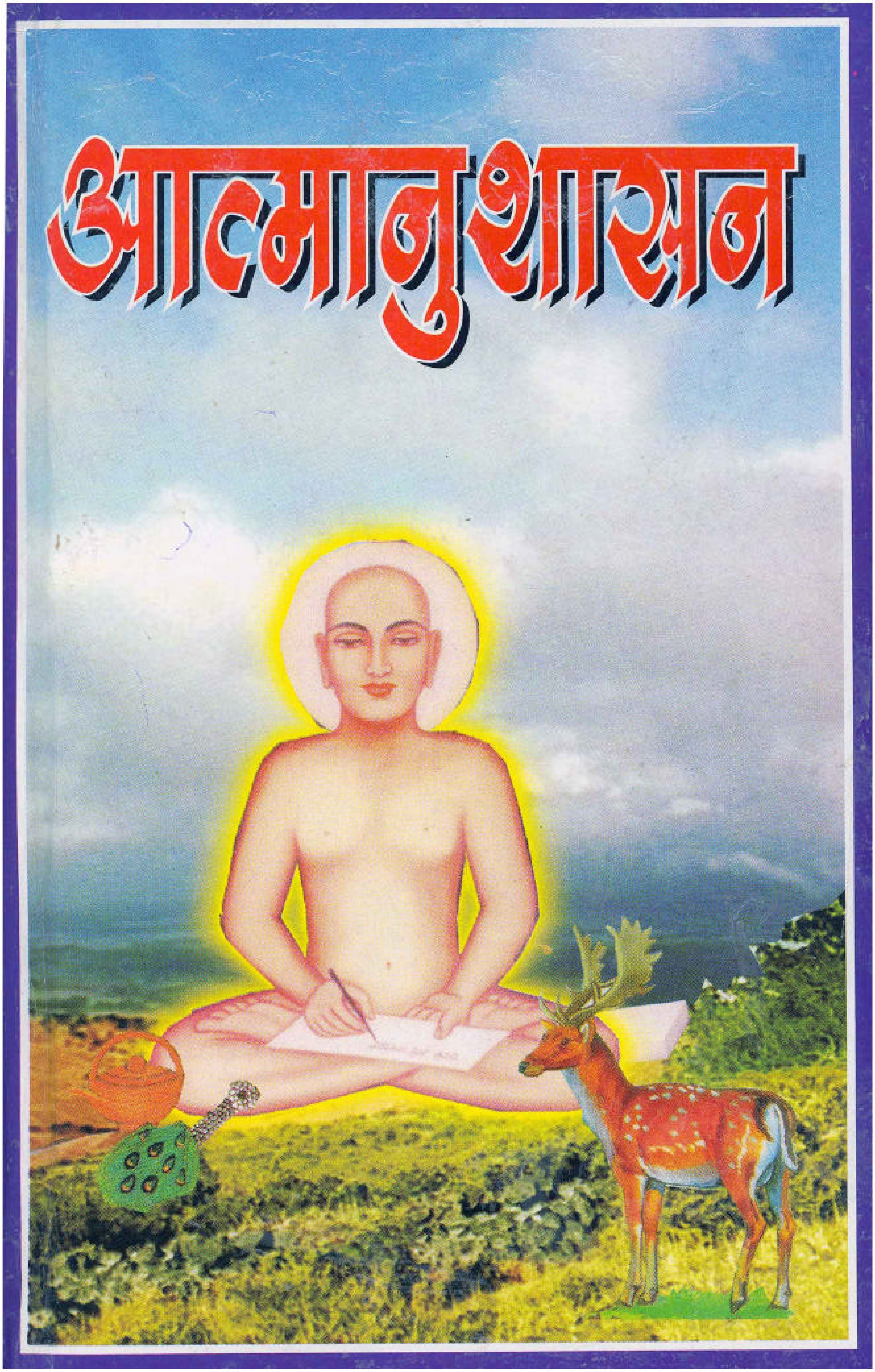

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(भगवान् महावीर २६ सौ वाँ जन्म-जयन्ती वर्ष)

आचार्य गुणभद्र विरचित

आत्मानुशासन

भाषा टीकाकार:

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

सम्पादक:

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

आधुनिक हिन्दी भाषा में अनुवाद एवं पद्यानुवाद :

पण्डित अभयकुमार जैन, शास्त्री

एम. काम., जैनदर्शनाचार्य

प्रकाशक :

श्री गम्भीरचन्द प्रकाशचन्द जैन, अहमदाबाद

एवं

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रथम दो संस्करण	:	५ हजार
(१५ अगस्त १९९९ से अद्यतन)		
तृतीय संस्करण	:	३ हजार
(२१ फरवरी २००१)		
योग	:	८ हजार

मूल्य : **बीस रुपये**

टाइपसैटिंग :
श्री ऑफसेट प्रिन्टर्स
सिवनी रोड, छिन्दवाड़ा (म.प्र.)
फोन : ०७१६२-४४६५१

मुद्रक :
जे.के. ऑफसैट प्रिन्टर्स
जामा मस्जिद, दिल्ली

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Thanks & Our Request

This shastra has been donated im memory of Pujya Shree Lalchandbhai Amarchand Modi by Rajesh & Jyoti Shah, London who have paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of Atmanushahan (Hindi) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version Number	Date	Changes
001	24 January 2010	First electronic version

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रकाशकीय

गुणभद्रसूरि विरचित **आत्मानुशासन** का प्रकाशन करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। अमूल्य शिक्षाओं से परिपूर्ण यह गुणभद्रसूरि की अमर कृति है, जिसकी गणना उत्कृष्ट धर्मशास्त्रों में होती है। नीतिशास्त्र की दृष्टि से भी यह अपूर्व ग्रन्थ है। प्रस्तुत कृति की भाषाटीका आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने की है।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक जैसे अपूर्व ग्रन्थ की रचना कर समाज का बहुत उपकार किया है। गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार जैसे गुरुतर ग्रन्थों को पठनीय बनाने हेतु आपको युगों-युगों तक याद किया जायेगा। **रहस्यपूर्ण चिट्ठी** साधर्मी जनों का समाधान करने के निमित्त से लिखी गई आपकी अनुपम रचना है। साथ ही त्रिलोकसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा इस आत्मानुशासन ग्रन्थ की आगमानुकूल टीका लिखकर आपने पामर जीवों का उद्धार किया है। वास्तव में यदि टोडरमलजी का जन्म न होता तो हमारा समाज निश्चय ही अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को समझने से वंचित रह जाता।

प्रस्तुत कृति का प्रथम संस्करण अगस्त १९९६ में प्रकाशित किया गया था, जो टोडरमलजी की मूल ढूंढारी भाषा में था। कृति का अधिक से अधिक हिन्दी भाषी समाज लाभ ले सके इस दृष्टि से इसे आधुनिक हिन्दी भाषा में परिवर्तित कराया गया है। यह महत्त्वपूर्ण कार्य पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री जैनदर्शनाचार्य, एम.काम ने जिनवाणी की सेवा के रूप में किया है, साथ ही उन्होंने श्लोकों का हिन्दी पद्यानुवाद भी किया है। जिसके लिए हम उनका हृदय से आभार मानते हैं।

जिन महानुभावों ने आर्थिक सहयोग प्रदान कर कृति को कम से कम मूल्य में उपलब्ध कराने में सहयोग दिया है, उनका हम हृदय से आभार मानते हैं। प्रकाशन व्यवस्था हेतु विभाग के प्रभारी अखिल बंसल भी बधाई के पात्र हैं।

आत्मार्थी बन्धु इस कृति का सांगोपांग अध्ययन कर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें – ऐसी हमारी भावना है।

नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
जयपुर (राज.)

गम्भीरचन्द प्रकाशचन्द जैन
(सेमारी वाले) अहमदाबाद (गुज.)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहो भाग्य

अहो यह आत्मानुशासन कृति अपूर्व महान है ।
ज्ञान अरु वैराग्य से सुरभित महा-उद्यान है ॥

जिनसेन गुरु के शिष्य श्री गुणभद्र को शत-शत नमन ।
अपूर्व टीकाकार टोडरमल हमारे श्रेष्ठ धन ॥

भक्ति से अनुवाद करके मैं हुआ अति धन्य हूँ ।
ग्रन्थ दर्शा रहा मैं पर से पृथक् चैतन्य हूँ ॥

ग्रन्थकर्त्ता और टीकाकार का उपकार है ।
आत्महित में निमित सबको वन्दना शत बार है ॥

भेद-विज्ञान और वीतरागदशा पोषक श्रुत-समुद्र के अपूर्व ग्रन्थ रत्नों में से एक दैदीप्यमान रत्न आत्मानुशासन के प्रकाश में चैतन्य चिन्तामणि को परखने का स्वर्ण अवसर पाकर मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ ।

अगस्त १९९७ में जयपुर शिविर के अवसर पर आदरणीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, पण्डित पूनमचन्दजी छाबड़ा एवं जिनागम के अन्तर्बाह्य प्रचार-प्रसार हेतु समर्पित श्रीमान गम्भीरचंदजी सेमारीवालों ने मुझसे आदेशमय अनुरोध किया - "तुम्हें आत्मानुशासन की आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी रचित टीका का आधुनिक हिन्दी अनुवाद करना है ।" आध्यात्मिक-सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के समागम से उत्पन्न आध्यात्मिक रुचि के कारण जिनवाणी के गहन अवगाहन का अवसर प्रदान करनेवाले प्रसंगों का लोभी होने से मैंने यह आदेश सहर्ष शिरोधार्य कर लिया ।

इससे पूर्व मुझे उक्त ग्रन्थ की विषय-वस्तु एवं प्रतिपादन शैली का सामान्य ज्ञान मात्र था; परन्तु उसके आद्योपान्त स्वाध्याय का प्रसंग नहीं बन पाया था । इस अनुवाद के निमित्त से तथा उसे पुनः जाँच कर कम्प्यूटर में टाईप कराकर उसकी प्रूफ रीडिंग आदि के प्रसंग में मुझे इस ग्रन्थ का अनेक बार आद्योपान्त स्वाध्याय करने का अवसर मिला ।

पण्डित टोडरमलजी कृत टीका का सम्पादन सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचंदजी शास्त्री द्वारा किया गया था, जिसका प्रकाशन पण्डित टोडरमल

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्मारक ट्रस्ट से हो चुका है। यही प्रति मेरे अनुवाद का आधार बनी। इस प्रति में टोडरमलजी कृत मूल भाषा ही रखी गई है, परन्तु वर्तमान पीढ़ी उस भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण इस ग्रन्थ के अमूल्य लाभ से वञ्चित थी; अतः इस टीका का आधुनिक हिन्दी में अनुवाद नितांत आवश्यक था।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भेद-विज्ञान की प्रेरणा देकर अनादिकालीन विषयासक्ति का विरेचन करने में आचार्य गुणभद्र के ये अमूल्य वचन रामबाण औषधि हैं। आत्मार्थी भद्र मिथ्यादृष्टि से लेकर प्रमत्त गुणास्थानवर्ती मुनिराज तक प्रत्येक मोक्षार्थी को इस औषधि का सेवन करना अनिवार्य है। अनुवाद के प्रारम्भ से लेकर अब तक निरंतर इस ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय-वस्तु का विचार मनन एवं घोलन का मुझे अपूर्व लाभ मिला, एतदर्थ यह अपूर्व स्वर्ण अवसर प्रदान करने के लिए मैं उपर्युक्त तीनों महानुभावों का चिर कृतज्ञ हूँ।

ग्रन्थ परिचय :- यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखित पद्य रचना है। जिसमें पन्द्रह प्रकार के छन्दों में २७० श्लोकों की रचना की गई है। इस ग्रन्थ में जीवों की विषयाशक्ति पर प्रहार करते हुये विषयों का स्वरूप एवं उनसे उत्पन्न होनेवाले दुःखों का वर्णन करके जीवों को आत्महित के लिए प्रेरित किया गया है।

इस ग्रन्थ का अध्यायों अथवा अधिकारों में वर्गीकरण न तो ग्रन्थकार ने किया है न टीकाकारों ने। इसके सम्पादक पण्डित बालचंदजी शास्त्री एवं सिद्धांताचार्य पण्डित फूलचंदजी शास्त्री ने भी इसकी विषय-वस्तु को अधिकारों में विभाजित नहीं किया।

वास्तव में ग्रन्थ के सभी श्लोक आध्यात्मिक उद्यान के रंग-बिरंगे पुष्पों के समान है, जो सर्वत्र ज्ञान और वैराग्य की सुगंध बिखेरते हैं। इसप्रकार संपूर्ण ग्रन्थ ही ज्ञान-वैराग्य का अखण्ड अध्याय है; क्योंकि इसमें ज्ञान और वैराग्य का पोषण करनेवाले अनेक प्रकरणों का विवेचन किया गया है। एक ही प्रकरण की चर्चा लगातार न होकर अलग-अलग श्लोकों में की गई है।

सोलापुर से प्रकाशित प्रति की प्रस्तावना में इस ग्रन्थ में समागत विषयों के वर्गीकरण का प्रयास करते हुये निम्न विषयों का उल्लेख किया है :-

अभीष्ट प्रयोजन, सुख-दुःख विवेक, सम्यग्दर्शन, दैव की प्रबलता, सत् साधु प्रशंसा, मरण अनिवार्य है, मनुष्य पर्याय और तप आराधना, ज्ञानाराधना,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

स्त्री निंदा, समीचीन गुरु कौन, साधुओं की असाधुता, मन का नियंत्रण, वास्तविक शत्रु कौन है, कषाय-विजय, आत्मा और उसकी कर्मबद्ध अवस्था, एवं यथार्थ तपस्वी।

इस ग्रन्थ में समागत विषयों का परिचय कराने के उद्देश्य से सम्पूर्ण ग्रन्थ के २७० श्लोकों में यत्र-तत्र प्रतिपादित विषय-वस्तु को प्रमुख बिन्दुओं में विभाजित करके कौन-सा प्रकरण किस-किस श्लोक में आया है - इसकी सूची "क्या ? कहाँ-कहाँ ?" शीर्षक से अलग दी गई है। पाठकगण इसके द्वारा किसी विशेष प्रकरण को उससे संबंधित श्लोकों में देखकर उसका अखण्ड ज्ञान कर सकेंगे।

टीकाकार :- इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका रत्नकरण्डश्रावकाचार के टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा लिखी गई है। इसकी हिन्दी टीका स्वनामधन्य सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने की है। इस शताब्दी के अद्वितीय आध्यात्मिक-सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी की मंगलवाणी के प्रताप से स्वाध्यायी समाज पण्डित टोडरमलजी एवं उनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मोक्षमार्ग प्रकाशक से भलीभांति परिचित हो चुका है। डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित शोधप्रबंध तो मानो टोडरमलजी के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का साक्षात्कार ही करा देता है; अतः उनके सम्बन्ध में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

इस ग्रन्थ की टीका में पण्डितजी ने मूल श्लोक का अर्थ स्पष्ट करके फिर उसका भावार्थ लिखकर श्लोक का अभिप्राय व्यक्त किया है। ग्रन्थ की भाषा ढूंढारी मिश्रित ब्रज है।

पण्डित बंशीधरजी शास्त्री सोलापुर द्वारा भी भाववाही हिन्दी टीका लिखी गई है जो जैन ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई से फरवरी १९१६ में प्रकाशित हुई है।

जैन संस्कृति संरक्षक संघ के संस्थापक स्वर्गीय ब्रम्हचारी जीवराज गौतमचन्द दोशी द्वारा पण्डित टोडरमलजी कृत टीका का मराठी अनुवाद किया गया है, जो वीरनिर्वाण सम्वत् २४३५ में सोलापुर से प्रकाशित हुआ है।

इस अनुवाद में पण्डित टोडरमलजीकृत टीका का पूरा-पूरा भाव ही आधुनिक भाषा में रखा गया है, अपनी ओर से कुछ भी नहीं लिखा गया। जहाँ

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विशेष आवश्यकता का अनुभव हुआ, वहाँ फुटनोट में उनका आशय स्पष्ट किया गया है। टीकाकार के भावों को स्पष्ट करने के लिए तथा कहीं-कहीं वाक्यों को पूरा करने के लिए कुछ शब्द अपनी ओर से कोष्टक में रखे गये हैं।

उक्त प्रति के अलावा दिगम्बर जैन संस्कृति संघ सोलापुर से प्रकाशित एंव पण्डित बालचंदजी शास्त्री द्वारा संपादित प्रति भी मुझे उपलब्ध हुई; जिसमें प्रभाचन्द्राचार्यकृत टीका का अनुवाद दिया गया है।

उपर्युक्त दोनों टीकाओं के सम्पादकों ने प्रायः प्रत्येक श्लोक की विषय-वस्तु के अनुसार शीर्षक बनाकर विषय-सूची दी है। कुछ स्थलों पर दो या अधिक श्लोकों को एक ही शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है। दोनों प्रतियों के शीर्षक में थोड़ी बहुत भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। ये शीर्षक बहुत बड़े-बड़े हैं, इसलिए इस प्रति में छन्द के मूल भाव को ध्यान में रखकर उत्थानिका के पहले ही छोटे-छोटे शीर्षक दिए गए हैं। इन्हें पढ़कर पाठकों को आगामी छन्द की विषय-वस्तु समझने में सरलता होगी।

अप्रैल १९९८ में अनुवाद कार्य पूर्ण होने के पश्चात् सहज ही यह विचार आया कि यदि इसका हिन्दी पद्यानुवाद भी तैयार हो जाये तो पाठकों को इसका पाठ करते समय ग्रन्थ का मूल भाव सीधे समझ में आ जाने से विशेष आनन्द का लाभ मिल सकेगा। यद्यपि मुझे आध्यात्मिक एवं भक्ति-रसमय काव्य रचना का शौक तो पहले से ही है, तथापि संस्कृत भाषा के मूल ग्रन्थों के पद्यानुवाद का अनुभव नहीं था, फिर भी विद्वज्जनों के मार्गदर्शन के भरोसे एवं गुणभद्राचार्यदेव के परोक्ष आशीर्वाद पूर्वक वीर-शासन जयन्ती (१० जुलाई १९९८) के मंगल दिवस से यह कार्य प्रारम्भ कर दिया। इसी समय मैंने छिन्दवाड़ा में स्थायी निवास प्रारम्भ किया। प्रतिदिन लगभग पाँच घण्टे इस कार्य हेतु बैठने से यह कार्य लगभग एक माह में ही सम्पन्न हो गया।

इस अनुवाद को आदरणीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने बहुत सूक्ष्मता से देखकर अपने अमूल्य सुझाव दिए हैं। पण्डित राकेश कुमारजी शास्त्री नागपुर ने भी सम्पूर्ण अनुवाद को भाव, भाषा और काव्य आदि अनेक दृष्टियों से पूर्ण तन्मय होकर जाँचा है और अनेक आवश्यक सुझाव दिए हैं। डॉ. उत्तमचंदजी जैन सिवनी एवं पं. मनोहररावजी मारवड़कर नागपुर के अमूल्य सुझाव मिले

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं। पण्डित दिनेशभाई शाह मुंबई एवं उनकी धर्मपत्नी सौ. डॉ. उज्ज्वला शाह, पण्डित देवचंदजी सहारनपुर एवं पण्डित किशनचंदजी अलवरवालों ने भी फ़ाईनल प्रूफ देखकर इसकी शुद्धि का स्तर ऊँचा उठाया है। कविवर राजमलजी पवैया भोपालवालों ने भी इसे देखकर मुझे बहुत प्रोत्साहित किया। एतदर्थ मैं इन सभी महानुभावों का विशेष आभारी हूँ।

संस्कृत के मूलभावों को समझने में सोलापूर से प्रकाशित प्रभाचन्द्राचार्य कृत टीका से विशेष सहायता प्राप्त हुई है; अतः आचार्यवर के प्रति भक्ति से अभिभूत होता हुआ सम्पादक एवं प्रकाशक महोदय का हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

यह अनुवाद करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि आचार्यदेव का मूल भाव सम्पूर्णरूप से पद्य में आ जाये। इसलिए कई स्थानों पर मूल श्लोक में प्रयुक्त शब्दों को ही रखा गया है; जिससे भावों को समझने में थोड़ी कठिनता भी प्रतीत होती, अतः कठिन शब्दों का अर्थ फुटनोट में दिया गया है, ताकि पाठकों को काव्य के रसास्वादन में अंतराय न हो।

काव्य में तुकबन्दी का आनन्द ही निराला है; अतः इसका ध्यान रखते हुये भी भावों की प्रधानता के कारण कहीं-कहीं इसे गौण भी किया गया है।

पद्यानुवाद में वीरछन्द का ही प्रयोग किया है, क्योंकि समाज में प्रचलित अनेक पूजाऐं तथा स्तुतियाँ इसी छन्द में निबद्ध हैं। यह छन्द बड़ा होने से इसमें अनुष्टुप्, मालिनी, वसन्ततिलका आदि छन्दों का आशय अधिक विस्तार एवं रसोत्पादक ढंग से स्पष्ट करने में सुविधा हुई है। शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे बड़े छन्दों का भाव भी इस छन्द में पूरा-पूरा आ गया है। पद्य रचना का सस्वर पाठ करने में प्रवाह भंग न हो इस उद्देश्य से विविध छन्दों का प्रयोग नहीं किया गया।

इसप्रकार हिन्दी अनुवाद एवं पद्यानुवाद में टीकाकार एवं ग्रन्थकार का आशय अस्खलित रखने में पूर्णतया सावधानी रखते हुए भी अज्ञान एवं प्रमादवश हई भूलों की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता; अतः मूल ग्रन्थकार, टीकाकार एवं सुधी पाठकों से विनम्र क्षमा याचना करते हुए

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विद्वज्जनों से विनम्र अनुरोध है कि भूलों की ओर तत्काल ध्यानाकर्षित करके अनुग्रहीत करें, ताकि उन्हें दूर किया जा सके।

इस कृति के माध्यम से न केवल स्वाध्याय प्रेमी समाज, ज्ञान और वैराग्य का लाभ प्राप्त करेगा; अपितु जनसाधारण भी इस कृति के माध्यम से स्वाध्याय में रुचिवन्त होकर आत्मकल्याण पथ पर अग्रसर होगा - यही भावना व्यक्त करते हुये मूलग्रन्थकार एवं टीकाकार के प्रति श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूँ।

- अभय कुमार जैन, शास्त्री

एम.काम. जैनदर्शनाचार्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रस्तावना

(जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर से जीवराज जैन ग्रन्थमाला के ग्रन्थ संख्या ११ के रूप सन् १९८० में आत्मानुशासन ग्रन्थ का तृतीय संस्करण प्रकाशित किया गया है । इसके सम्पादक पण्डित बालचन्दजी शास्त्री हैं । ग्रन्थमाला सम्पादक स्व. प्रो. आ. ने. उपाध्ये, स्व. प्रो. हीरालाल जैन एवं श्री (वर्तमान में स्व.) पं. कैलाशचन्दजी सिद्धांतशास्त्री हैं । इसमें ८८ पृष्ठ की प्रस्तावना दी गई है, जिसके आरम्भ या अन्त में प्रस्तावना लेखक का नाम नहीं है । सम्भवत: यह प्रस्तावना पण्डित बालचन्दजी शास्त्री द्वारा लिखी गई होगी ।

इस प्रस्तावना के ३४ पृष्ठों में ग्रन्थ की संक्षिप्त विषय-वस्तु और अन्य महत्वपूर्ण जानकारी दी गई है, जिसे विद्वानों के लिए उपयोगी जानकर यहाँ संक्षेप में दिया जा रहा है । विस्तृत जानकारी के लिए उक्त प्रति में दी गई प्रस्तावना आद्योपान्त पठनीय है ।)

-अभय कुमार जैन

काल निर्णय :- डा. ए. एन. उपाध्ये के मतानुसार इस ग्रन्थ की रचना आचार्य गुणभद्र ने अपने गुरु जिनसेनाचार्यकृत आदि पुराण को पूर्ण करने के बाद शक सम्वत् ८२० अर्थात् ईस्वी सम्वत् ८९८ के पश्चात् की है, आचार्य गुणभद्र का समय भी शक सम्वत् की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध अनुमानित किया जाता हैं।

गुरु परम्परा :- पण्डित परमानन्दजी ने इन्हें आचार्य जिनसेन का गुरु भाई एवं आचार्य दशरथ का शिष्य लिखा है[1]; किन्तु डा. नेमीचन्दजी शास्त्री के अनुसार इनके प्रमुख गुरु आचार्य जिनसेन ही थे । इतना अवश्य है कि भदन्त गुणभद्र ने आचार्य दशरथ को भी अपना गुरु माना है[2]। इनका जन्म स्थान दक्षिण आरकाट जिले का 'तिरूमरूडकुण्डम' माना जाता है।

साहित्य साधना :- उत्तरपुराण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आचार्य गुणभद्र ने अपने गुरु जिनसेनाचार्य द्वारा रचित आदि पुराण के १६२० श्लोक एवं उत्तर पुराण के ८००० श्लोकों की रचना करके शक सम्वत् ८२० में इन महान ग्रन्थों को पूर्ण किया है । इसके अतिरिक्त इनके द्वारा रचित जिनदत्त चरित्तकाव्य और प्रस्तुत ग्रन्थ आत्मानुशासन ही उपलब्ध है । इन तीन के अतिरिक्त इनकी और कोई रचना उपलब्ध नहीं होती।

---

१. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास : द्वितीय भाग पृष्ठ १८२

२. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा ३, पृष्ठ ८

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मानुशासन की काव्यगत विशेषतायें :- इस ग्रन्थ की काव्यकला का रहस्योद्घाटन करते हुये डॉ. ए.एन. उपाध्ये सोलापुर से प्रकाशित प्रति की प्रस्तावना में लिखते हैं :-

"किंवदन्ती है कि जब आचार्य जिनसेन स्वामी को अपने स्वर्गवास का समय निकट आता दिखा, तब उन्हें अपने प्रारम्भ किए हुए महापुराण के पूर्ण होने की चिन्ता हुई। उस समय उन्होंने अपने योग्य दो शिष्यों को बुलाकर उनकी योग्यता की परीक्षा करते हुए उन्हें संस्कृत में अनूदित करने के लिए यह वाक्य दिया - 'सूखा वृक्ष सामने है।' इसका अनुवाद एक ने 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' तथा दूसरे ने 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' इस रूप से किया। दूसरा अनुवाद प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता श्री गुणभद्राचार्य का था जो सरस एवं ललित पदयुक्त होने से आकर्षक था। उसे देखकर जिनसेनाचार्य को यह विश्वास हो गया कि मेरा यह सुयोग्य शिष्य अपनी प्रतिभा के बलपर इस महापुराण को अवश्य पूरा करेगा। तदनुसार उन्होंने उसे पूरा किया भी है।

उपर्युक्त लोकश्रुति में कदाचित् ऐतिहासिक दृष्टि से सत्यांश भले ही सम्भव न हो, परन्तु इस सत्य में सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माता गुणभद्र उच्च कोटि के प्रतिभासम्पन्न कवि थे। उनकी यह कृति आध्यात्मिक होकर भी उत्कृष्ट काव्य के अन्तर्गत है। कवि-सम्प्रदाय में काव्य का लक्षण यह किया जाता है :-

साधुशब्दार्थसंदर्भ गुणालंकार भूषितम्।
स्फुटरीति-रसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥

अर्थात् जिस रचना में अनर्थकत्व आदि दोष से रहित शब्दों की तथा देशविरुद्धत्व आदि दोष से रहित अर्थ की योजना की गई हो, जो औदार्य आदि गुणों एवं अनुप्रासादिरूप शब्दालंकारों और उपमा रूपकादिस्वरूप अर्थालंकारों से अलंकृत हो, तथा प्रगट रीति व रसों से सुशोभित हो; वह काव्य कहलाता है और वही कवि की कमनीय कीर्ति को दिग्दिगन्त में विस्तृत करता है।

काव्य का लक्षण प्रकृत आत्मानुशासन में सर्वथा घटित होता है। उसमें की गई शब्द और अर्थ की योजना निर्दोष है। वह गुणों से भी शून्य नहीं है - वहाँ विविध स्थलों में औदार्य, प्रसत्ति एवं ओज आदि गुण भी पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त वह अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, श्लेष

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विभावना, एवं अर्थान्तरन्यास आदि अनेक अलंकारों से अलंकृत एवं रीति और रस से भी संयुक्त है। तथा उसमें जहाँ-तहाँ विविध प्रकार के उपयुक्त छन्दों का भी उपयोग उत्तम रीति से किया है। उदाहरणस्वरूप यह श्लोक देखिए :-

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्तानुकम्पी ।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥२२५॥

इसमें सरस अर्थ और पदों की योजना की गई है; अतएव यह माधुर्य गुण से विभूषित है। साथ ही वह यम-नियम, नितान्त-शान्त अन्तरात्म, विहित-हित-मिताशी, जालं-समूलं तथा दहति-निहत इत्यादि समान श्रुतिवाले अक्षरों की पुनरावृत्ति से सहित होने के कारण अनुप्रासालंकार से अलंकृत है। यह अनुप्रासालंकार तो प्रायः समस्त ग्रन्थ में ही देखा जाता है। यह उन गुणभद्र की भद्रवाणी की विशेषता है। इस अनुप्रास का यह दूसरा स्थल भी देखिए :-

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः ।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥५॥

इस श्लोक में प्रायः प्रत्येक विशेषण के प्रारम्भ में 'प्र' का प्रयोग बड़ी सुन्दरता के साथ किया गया है। इस शब्द कौशल्य के साथ अर्थ की विशेषता भी अतिशय ग्राह्य है[१]।

उपमालंकार का उदाहरण देखिए :-

व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेऽप्यभोग्योचितं
विश्वक्क्षुत्क्षतपातकुष्टकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम् ।
मानुष्यं घुण भक्षितेक्षुसदृशं नामैकरम्यं पुनः
निस्सारं परलोकबीजमचिरात् कृत्वेह सारीकुरु ॥८१॥

यहाँ मनुष्य पर्याय को घुणभक्षित इक्षु की उपमाको ऐसे श्लेषात्मक

---

१. अनुप्रास शब्दालंकार के उदाहरण स्वरूप श्लोक क्रमांक ५७, ६१, ८९, ९१, १०१ आदि भी देखे जा सकते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विशेषण पदों के द्वारा पुष्ट किया गया है जो दोनों ओर घटित होते हैं[१]।

यह अतिशयोक्ति से अनुप्राणित अर्थान्तरन्यास अलंकार का उदाहरण है :-

क्षितिजलधिभिः संख्यातीतैर्बहिः पवनैस्त्रिभिः
परिवृत्तमतः खेनाधस्तात् खलासुरनारकान् ।
उपरि दिविजान् मध्ये कृत्वा नरान् विधिमन्त्रिणा
पतिरपि नृणां त्राता नैको ह्यलंघ्यतमोऽन्तकः ॥७५॥

यहाँ विधि-मंत्री के द्वारा मनुष्यों के संरक्षण के लिए उक्त सामग्री की योजना की कल्पना असम्बन्धे सम्बन्धरूप अतिशयोक्ति अलंकार है और उसी के द्वारा 'ह्यलङ्घ्यतमोऽन्तकः' उक्ति की सिद्धि की गई है, जिससे यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार[२] बना है।

जन्मतालद्रुमाज्जन्तुफलानि प्रच्युतान्यधः ।
अप्राप्य मृत्युभूभागमन्तरे स्युः कियच्चिरम् ॥७४॥

यह रूपकालंकार से अलंकृत है[३]।

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः ।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति ॥८६॥

यहाँ पलित को छल कहकर बुद्धि के नैर्मल्य की कल्पना की जाने से अपन्हुति अलंकार समझना चाहिए[४]।

पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि ।
पश्चात् पादोऽपिनास्प्राक्षीत् किं न कुर्याद् गुणक्षतिः ॥१३९॥

यहाँ अप्रकृत पुष्पों की गुणहीनता को दिखलाकर तपोभ्रष्ट साधुओं की निंदा की गई है, अतएव यह अप्रस्तुतप्रशंसालंकार से अलंकृत है[५]।

यह विभावना अलंकार का उदाहरण देखिए :-

---

१. उपमाअलंकार से विभूषित श्लोक क्रमांक ६३, ७७, १२०, १२१, १२३, १२९, १७८ आदि भी दृष्टव्य हैं।

२. अर्थान्तरन्यास के उदाहरणस्वरूप श्लोक क्रमांक ४४, ७६, ९३, ११८, ११९, १३६, १३९ आदि भी देखे जा सकते हैं।

३. रूपकालंकार के उदाहरणस्वरूप श्लोक क्र. ८७,१३२,१७०,१८३ आदि भी देखे जा सकते हैं।

४. अपन्हुति के उदाहरणस्वरूप श्लोक क्रमांक १२६ भी देखने योग्य है।

५. अप्रस्तुतप्रशंसालंकार का प्रयोग श्लोक क्रमांक १४० में भी देखने योग्य है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम् ।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे ॥१०९॥

यहाँ भोजनरूप कारण के बिना भी उच्छिष्टरूप कार्य के दिखलाने से विभावना अलंकार समझना चाहिए। यहाँ श्लेषालंकार का भी चमत्कार है। श्लेषालंकार का यह उदाहरण भी देखिए :-

यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावंशाः प्रदेशः परः
प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधनाः मूर्ध्नाध्रियन्ते श्रियै ।
भूयांस्तस्य भुजङ्गदुर्गमतमो मार्गो निराशस्ततो
व्यक्तं वक्तुमयुक्तमार्यमहतां सर्वार्थसाक्षात्कृतः ॥९६॥

यहाँ श्लेषरूप से भाण्डागार और धर्म इन दोनों का स्वरूप दिखाया गया है।

इसप्रकार यह आत्मानुशासनरूप कृति अनेक उत्तमोत्तम अलंकारों से अलंकृत होने से अतिशय मनोहर है।

आत्मानुशासन पर पूर्ववर्ती अन्य भारतीय साहित्य का प्रभाव :-

कोई भी अध्ययनशील विद्वान् जब कुछ स्वतंत्र मौलिक साहित्य की रचना करता है, तब उसकी कृति पर अपने से पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव किसी न किसी रूप में पड़ता ही है। तदनुसार प्रकृत आत्मानुशासन के ऊपर भी पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उसके कर्त्ता श्री गुणभद्राचार्य बहुश्रुत विद्वान् थे, उन्होंने पूर्ववर्ती जैन अजैन साहित्य का खूब परिशीलन किया था। वे सिद्धांत, न्याय, व्याकरण एवं आयुर्वेद आदि अनेक विषयों में पारंगत थे। अतएव यदि उनकी इस कृति पर अन्य साहित्य का प्रभाव रहा है तो यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द, यतिवृषभ, शिवार्य, समन्तभद्र और पूज्यपाद के साहित्य के अतिरिक्त योगी भर्तृहरि के शतकत्रय का भी प्रभाव पड़ा दिखाई देता है।

कुन्दकुन्द-साहित्य का प्रभाव :-

प्रस्तुत ग्रन्थ के १९५ वें श्लोक में शरीर को समस्त अनर्थ परम्परा का मूल कारण बतलाते हुए यह कहा है कि प्रारम्भ में शरीर उत्पन्न होता है, उसमें दुष्ट इन्द्रियां होती हैं, वे विषयों को चाहती हैं और वे विषय मानहानि, प्रयास

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पाप एवं दुर्गति के देनेवाले होते हैं[१]। लगभग इसी अभिप्राय को प्रगट करनेवाली निम्न गाथायें श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पंचास्तिकाय (१२८-३०) में मिलती हैं :-

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो हवदि गदिसु गदी ॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहि दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवेरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥

अभिप्राय इसका यह है कि संसारी जीव अशुद्ध (राग और द्वेष) परिणामों से संयुक्त होने से कारण नवीन कर्मबन्ध को करता है, उससे नरकादि गतियों में गमन होता है, गति को प्राप्त हुए जीव को शरीर होता है, शरीर से सम्बद्ध इन्द्रियाँ होती है, उनके द्वारा विषयग्रहण होता है, और उससे फिर राग एवं द्वेष भाव उत्पन्न होता है। इसप्रकार से गाड़ी के पहिये के समान संसाररूप समुद्र में परिभ्रमण करनेवाले संसारी जीव की अवस्था है। उक्त संसारपरिभ्रमण अभव्य जीव का अनादि-अनिधन तथा भव्य जीव का अनादि-सान्त होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा गया है।

श्लोक २१७ में बाहुबली का उदाहरण देकर यह बतलाया गया है कि भरत के द्वारा छोड़ा गया चक्र जब उनका घात न करके उन्हीं की दाहिनी भुजा में आकर स्थित हो गया तब उन्होंने विरक्त होते हुए उस चक्र-रत्न से मोह छोड़कर उसी समय दीक्षा ग्रहण कर ली थी। उन्हें यद्यपि उसी समय मुक्त हो जाना चाहिए था, पर वे मुक्त न होकर चिर काल तक क्लेश को प्राप्त हुए हैं। सो ठीक भी है - थोड़ा सा भी मान महती हानि को किया करता है।

उक्त बाहुबली का उदाहरण कुन्दकुन्दाचार्य ने भावप्राभृत (गा.४४) में इसप्रकार दिया है[२]।

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर ।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥

---

१. इसी आशय को पण्डितप्रवर आशाधरजी ने भी निम्न श्लोक में इसप्रकार से प्रकट किया है -
बन्धाद्देहोऽत्र करणान्येतैश्च विषयग्रहः ।
बन्धश्च पुनरेवातस्तदेनं संहाराम्यहम् ॥ सा.ध. ६-३१

२. इस गाथा की टीका में श्री श्रुतसगर सुरिने आत्मानुशासन के इस (उपर्युक्त) श्लोक को 'तथा चोक्तं' कहकर उद्घृत भी किया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थात् शरीर को आदि लेकर समस्त परिग्रह त्याग करके भी मान कषाय से कलुषित रहने के कारण बाहुबली को कितने ही काल आतापनयोग से स्थित रहना पड़ा। कायोत्सर्ग के स्थित होते हुए भी उन्हें एक वर्ष तक मुक्ति प्राप्त नहीं हुई।

आत्मानुशासन और भगवती-आराधना :-

हम यह ऊपर लिख चुके हैं कि आत्मानुशासन के श्लोक ८८ और ८९ में बाल्यावस्था की अज्ञानतापूर्ण प्रवृत्ति का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। उसका विशेष वर्णन भगवती-आराधना की निम्न गाथाओं में उपलब्ध होता है :-

बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि तह चेव लज्जणिज्जणि।
मेज्झामेज्झं कज्जाकज्जं किंचि वि अयाणंतो ॥१०२२॥
अण्णस्स अप्पणो वा सिंहाणय-खेल-मुत्त-पुरिसाणि।
चम्मट्ठि-वसा-पूयादाणि य तुंडे सगे छुभदि ॥१०२३॥
जं किंचि खादि जं किंचि जंपदि अलज्जो।
जं किंचि जत्थ तत्थ व वोसरदि अयाणगो बालो ॥१०२४॥
बालत्तणे कदं सव्वमेव जजि णाम संभरिज्ज तदो।
अप्पाणम्मि दु गच्छे णिव्वेदं किं पुण परम्मि ॥१०२५॥

अर्थात् पवित्र-अपवित्र और कार्य-अकार्य का कुछ भी विवेक न रखनेवाला अल्पवयस्क बालक हिंसा एवं लज्जा को उत्पन्न करनेवाले अनेक कार्यों को किया करता है। वह दूसरे के और स्वयं अपने भी नासिका -मल, कफ, मूत्र, चमडा, हड्डी, चर्बी और पीव आदि को अपने मुंह में डाला करता है। वह अज्ञानी बालक लज्जा रहित होकर कुछ भी खाता है, कुछ भी करता है, कुछ भी बोलता है, तथा जहां कहीं भी मल-मूत्र आदि को भी किया करता है। उस बाल्यावस्था में जो कुछ भी किया गया है उसका स्मरण मात्र भी विरक्ति को उत्पन्न करनेवाला है।यहाँ श्लोक ९० का प्रथम चरण (**बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्तुं च तन्नोचितम्**) विशेष ध्यान देने योग्य है। वह भगवती आराधना की १०२५ वीं गाथा से विशेष प्रभावित दिखता है।

आत्मानुशासन (१२६-१३६) में सत्पुरुषों को विरक्त कराने की इच्छा से स्त्रियों के कुछ दोष दिखलाते हुए उन्हें दृष्टिविष सर्प से भी भयानक, क्रोधी,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्राणघातक, निरौषधविष, ईर्ष्यालु, बाह्य में ही रमणीय, विषयानुराग को उत्पन्न करनेवाली तथा दूषित शरीर की धारक बतलाया है। ऐसे ही उनके अनेक दोष उक्त भगवती आराधना (गाथा ९३८-९०) में भी दिखलाये गये है। विशेषता यह पायी जाती है कि आगे चलकर वहां यह स्पष्ट कह दिया है कि स्त्रियों के इन निर्दिष्ट तथा अन्य अनिर्दिष्ट भी दोषों का विचार करने से उन्हें विष व अग्नि के समान संतापजनक जानकर, पुरुष का चित्त उद्वेग को प्राप्त होता है; तब वह जैसे व्याघ्रादि के दोषों को जानकर उनका भी परित्याग करता है; वैसे ही वह महिलाओं के दोषों को देखकर उनका भी परित्याग करता है[१]। इसके पश्चात् वहाँ यह भी निर्देश कर दिया है कि जो दोष महिलाओं के सम्भव हैं; वे तथा उनकी अपेक्षा और भी कुछ दोष उन नीच पुरुषों के भी हो सकते हैं, क्योंकि वे उनकी अपेक्षा अधिक बल एवं शक्ति से संयुक्त होते हैं। जिसप्रकार अपने शील का संरक्षण करनेवाले पुरुषों के लिये स्त्रियाँ निन्दित हैं उसीप्रकार अपने उस शील की रक्षा करनेवाली स्त्रियों के लिये पुरुष भी निन्दित हैं। कारण यह कि जिनकी कीर्ति दिशाओं में विस्तृत है तथा जो अनेक गुणों से विभूषित हैं ऐसी स्त्रियाँ भी लोक में सम्भव हैं। वे मनुष्य लोक की देवता हैं, उसकी वन्दना स्वयं देव भी आकर किया करते हैं। उत्तम देव-मनुष्यों से पूजित वे महिलायें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलदेव और गणधर जैसे पुरुषरत्नों को उत्पन्न करनेवाली हैं[२]।

आत्मानुशासन और समन्तभद्र-साहित्य :-

प्रस्तुत ग्रन्थ के ऊपर समन्तभद्राचार्य के ग्रन्थों का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे :-

---

१. *एए अण्णे बहु (हू) दोसे महिलाकदे विचिंतयदो ।*
महिलाहिंतो वि चित्तं उव्वियदि विसग्गि-सर (रि) सीहिं ॥
वग्घादीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो ।
तह महिलाणं दोसे दट्ठुं महिलाओ परिहरइ ॥ भ.९

२. *महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीचाणं ।*
तत्तो अहियदरा वा तेसिं बल-सत्तिजुत्ताणं ॥
जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ ।
तह सीलरक्खयाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा ॥
किं पुण गुणसहिदाओ इत्थीओ अत्थि वित्थडजसाओ ।
णरलोगदेवदाओ देवेहि वि वंदणिज्जाओ ॥
तित्थयर-चक्कधर-बासुदेव-बलदेव-गणधरवराणं ।
जण्णीओ महिलाओ सुर-णरवरेहिं महियाओ ॥
- भगवती आराधना गाथा ९९३ से ९९६ तक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्लोक ५८ में संसार के स्वरूप को दिखलाते हुए बतलाया है कि प्राणी को मृत्यु से भय रहता है, परन्तु वह निरन्तर होती अवश्य है। (**मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवम्**) इस पर स्वयंभूस्तोत्र के निम्न पद्य (३४) का प्रभाव स्पष्ट दिखता है :-

बिभेति मृत्योर्न ततोऽति मोक्षो नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः।
तथाति बालो भय-कामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः।

श्लोक १०७ में भव्यजीव को प्रेरणा देते हुए यह कहा है कि तू दया, दम, त्याग एवं समाधि के मार्ग में (जैनमत में) जाने का सरलता पूर्वक प्रयत्न कर। इससे तू अनिर्वचनीय एवं निर्विकल्प उस परम पद को अवश्य पा लेगा। यहाँ '**दयादमत्यागसमाधिसंततेः**' का आधार युक्त्यनुशासन का निम्न श्लोक रहा है :-

दयादमत्यासमाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

श्लोक १७१ में बतलाया है कि जीवादि प्रत्येक पदार्थ स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा तत्स्वरूप (विवक्षित जीव आदि स्वरूप) भी है तथा परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा वह अतत्स्वरूप (अजीव आदि स्वरूप) नहीं भी है। इसप्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्मता से विचार करने पर उसका अन्त नहीं आता[१]।

इस विषय की विशेष प्ररूपणा स्वामी समन्तभद्र ने देवागमस्तोत्र में विस्तार से की है। यथा :-

कथंचित् ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥
क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥१६॥

अर्थात् - हे भगवन्! आपको जीव आदि विवक्षित पदार्थ कथंचित् सत् ही इष्ट हैं, कथंचित् असत् ही इष्ट हैं, कथंचित् उभय (सत्-असत्) ही इष्ट हैं,

१. इसका विशेष विवेचन तत्त्वार्थवार्तिक (१,६,५और ४,४२,१५) आदि में भी किया गया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और कथंचित् अवक्तव्य ही इष्ट हैं। यह सब आपको नय के सम्बन्ध से ही इष्ट है, न कि सर्वथा। कारण कि ऐसा कौन-सा बुद्धिमान् है जो स्वरूपचतुष्टय से (अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा) वस्तु को सत् ही न माने तथा इसके विपरीत पररूपचतुष्टय से (दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा) उसे असत् ही न माने। यदि ऐसा नहीं मानता है तो फिर वह वह वस्तुस्वरूप की व्यवस्था भी नहीं कर सकता है - ऐसा मानने के बिना चेतन व अचेतन आदि पदार्थों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था नहीं बन सकती है। क्रम से विवक्षित स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा वह वस्तु उभय (सत्-असत्) ही है। कारण कि शब्द के द्वारा जब कभी भी वस्तु का कथन किया जाता है तब वह क्रम से ही किया जाता है। स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा युगपत् विवक्षा में वस्तु अवक्तव्य ही है, क्योंकि स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा एक साथ शब्द के द्वारा वस्तु का कथन करना अशक्य है। ये चार भंग हुए। इस अवक्तव्य भंग के साथ अपने-अपने हेतु से शेष तीन भंग और भी संभव है। जैसे - स्वचतुष्टय की अपेक्षा होने पर एक साथ चूंकि वस्तु का कथन नहीं किया जा सकता है अतएव वह कथंचित् सत् अवक्तव्य ही है। परचतुष्टय की अपेक्षा होने पर चूंकि उसे कहा नहीं जा सकता अतएव वह कथंचित् असत् अवक्तव्य ही है। क्रम से स्व-परचतुष्टय की अपेक्षा होने पर चूंकि एक साथ उसे नहीं कहा जा सकता है अतएव वह कथंचित् सत् असत् अवक्तव्य ही है। आत्मानुशासन के उपर्युक्त श्लोक में इसी सप्तभंगी की सूचना की गई है।

इसके आगे १७२ वें श्लोक के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय में उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य (सत्) स्वरूप है; क्योंकि, इसके बिना उसमें एक साथ जो भेद और अभेद का निर्बाध ज्ञान होता है वह संगत नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन की आधारभूत देवागम की निम्न कारिकायें सही प्रतीत होती हैं :-

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात् ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥
कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥५८॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।।५९।।
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।।६०।।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि हे भगवन् ! आपके मत में कोई भी वस्तु सामान्य स्वरूप से (द्रव्य की अपेक्षा) न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट भी होती है; क्योंकि उन दोनों ही अवस्थाओं में स्पष्टतया सामान्य स्वरूप का अन्वय देखा जाता है - सुवर्णघट को नष्ट करके उससे बनाये गये मुकुट में भी उस सुवर्ण का अस्तित्व पाया जाता है । (इससे वस्तु में ध्रौव्य या नित्यता की सिद्धि होती है ।) वस्तु जो नष्ट और उत्पन्न होती है वह विशेष (पर्याय) की अपेक्षा होती है । इसप्रकार एक ही वस्तु में एक साथ ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय इन तीनों के रहने का नाम सत् या द्रव्य है[१]। हेतु (उत्पाद का कारण) के नाश का नाम ही कार्य की उत्पत्ति है, क्योंकि उन दोनों के एक हेतुता का नियम है । जो दण्ड घट के विनाश का हेतु होता है वही ठीकरों की उत्पत्ति का भी हेतु हुआ करता है । परन्तु अपने-अपने असाधारण लक्षण की अपेक्षा वे दोनों (विनष्ट घट और उत्पन्न ठीकरे) भिन्न ही होते हैं । इसप्रकार लक्षण से भिन्न होने पर भी वे दोनों सर्वथा भिन्न नहीं हैं-कथंचित् अभिन्न भी हैं; क्योंकि उनमें मिट्टी या सुवर्णत्व जाति आदि का अवस्थान देखा जाता है । ये तीनों परस्पर सापेक्ष होकर ही वस्तु में रहते हैं, अन्यथा उनका आकाशकुसुम के समान सद्भाव ही नहीं रह सकेगा। इसको स्पष्ट करने के लिये वहां ये दो उदाहरण दिये गये हैं :-

१. क्रम से घट, मुकुट और सुवर्णमात्र के अभिलाषी तीन व्यक्ति किसी सुनार के यहाँ जाते हैं । उस समय उन्हें सुनार घट को तोडकर मुकुट को बनाता हुआ दिखता है । यह देखकर घट का अभिलाषी खिन्न और मुकुट का अभिलाषी हर्षित होता है । परन्तु सुवर्णसामान्य का अभिलाषी व्यक्ति न तो खिन्न होता है और हर्षित भी, वह मध्यस्थ रहता है, यह अवस्था उनकी निर्हेतुक नहीं है । इससे प्रगट है कि घट और मुकुट में जैसे पर्याय की अपेक्षा भेद है वैसे ही द्रव्य (सुवर्ण) की अपेक्षा भेद नहीं है । सुवर्णसामान्य की अपेक्षा वे दोनों अभिन्न हैं ।

---

१. सद्द्रव्यलक्षणम् । उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् । तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ५ : सूत्र २९-३०

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२. जिस व्यक्ति ने यह नियम किया है कि मैं आज दूध को ही ग्रहण करूंगा वह दही को नहीं खाता है, जिसने यह नियम किया है कि मैं आज दही को ही लूंगा वह दूध को नहीं लेता है, तथा जिसने यह नियम लिया है कि मै आज गोरस को ग्रहण नहीं करूंगा वह दूध और दही दोनों को ही नहीं ग्रहण करता है। इसप्रकार गोरस (सामान्य) स्वरूप से अभिन्न होने पर भी जब दूध और दही ये दोनों अवस्था विशेष से भिन्न समझे जाते हैं तभी उक्त तीनों व्यक्तियों का वैसा आचरण संगत होता है। इससे सिद्ध है कि वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों स्वरूप है।

इसके पश्चात् १७३ वें श्लोक में यह कहा गया है कि वस्तु न नित्य है, न क्षणनश्वर (क्षणिक) है, न ज्ञानमात्र है और न अभाव स्वरूप (शून्य) भी है, क्योंकि वैसी निर्बाध प्रतीति नहीं होती है, जैसी कि निर्बाध प्रतीति होती है तदनुसार वस्तु कथंचित् नित्यानित्यादि स्वरूप ही सिद्ध होती है। यह अवस्था जैसे एक वस्तु की है वैसे ही वह अनादि अनन्त समस्त वस्तुओं की ही समझना चाहिये।

इस संक्षिप्त विवेचन का आधार भी वह देवागमस्तोत्र रहा है[१]। वहां ३७-५४ कारिकाओं में नित्यत्व और अनित्यत्व एकान्तवादों का निराकरण करके ५६ वीं कारिका द्वारा कथंचित् नित्यानित्यत्वको सिद्ध किया गया है। इसीप्रकार २४-२७ कारिकाओं में सामान्य अद्वैतवाद का निराकरण करके ७९-८० कारिकाओं के द्वारा विज्ञानाद्वैतका तथा १२ वीं कारिका के द्वारा अभावरूपता (शून्यैकान्त) का निषेध किया है।

आत्मानुशासन व पूज्यपाद साहित्य :-

इष्टोपदेश और समाधिशतक ये दो ग्रन्थ आध्यात्मिक हैं जो पूज्यपाद स्वामी के द्वारा रचे गये हैं। इन दोनों ही ग्रन्थो का प्रभाव आत्मानुशासन पर दृष्टिगोचर होता है यथा :-

आत्मानुशासन के ४५ वें श्लोक में यह बतलाया है कि जिसप्रकार नदियां कभी शुद्ध जल से परिपूर्ण नहीं होती है, किन्तु नालियों आदि के गंदले पानी से ही परिपूर्ण होती है; उसीप्रकार शुद्ध धन से कभी सत्पुरूषों के भी

---

१. स्वामी समन्तभद्रविरचित युक्त्यनुशासन में भी श्लोक १८-२४ में विज्ञानाद्वैत का, श्लोक ८-९ में नित्यत्व का, श्लोक ११-१७ में क्षणिकत्व का तथा २५ वें श्लोक में अभावैकान्त (शून्यवाद) का विचार किया गया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्पत्ति नहीं बढ़ती है, किन्तु वह अन्यायोपार्जित धन से ही बढ़ती है जो सत्पुरूषों को इष्ट नहीं है। इस अन्यायोपार्जित धन की निन्दा इष्टापदेश में इसप्रकार की कई है :-

त्यागाय श्रेय से वित्तमवित्तः संचिनोति यः ।
स्वशरीरं स सङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति[१] ॥१६॥

अभिप्राय यह है कि जो निर्धन व्यक्ति यह सोचकर धनका संचय करता है कि मैं उससे पुण्यवर्धक दानादि सत्कार्यो को करूँगा उसका ऐसा करना उस मूर्ख के समान है जो यह सोचकर कि 'मैं स्नान करूँगा', अपने निर्मल शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है। कारण यह कि धन का संचय कभी न्याय्य वृत्ति से नहीं हुआ करता है।

श्लोक ५० में जीव को संबोधित करके यह कहा गया है कि जिस विषयसुख को विषयी जनों ने भोगकर विरक्त होते हुए छोड़ दिया है; उसी को तू उच्छिष्ट (वान्ति) के समान फिर भी भोगना चाहता है। इसमें तुझे ग्लानि नहीं होती ? जब तक तू उस विषयतृष्णा को नष्ट नहीं करता है, तब तक मुझे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती ह। यह भाव प्रकारान्तर से इष्टोपदेश के निम्न श्लोक में भी निहित है :-

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुग्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वघ मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥

आशय इसका यह है कि अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए मैने सब पुद्गलों को बार-बार भोगकर छोड़ दिया है। फिर जब आज वह विवेक उत्पन्न हो चुका है तब उच्छिष्ट के समान उन्ही पुद्गलों को फिर से भोगने की इच्छा मुझे क्यों करना चाहिये ? नहीं करना चाहिये।

श्लोक १८२ में कहा गया है कि जिसप्रकार बीजसे मूल और अंकुर उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार मोहरूप बीज से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसीलिये जो उनको नष्ट करना चाहता है, उसे मोहबीज को ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा जला देना चाहिये। अब इससे मिलता-जुलता यह समाधिशतक का श्लोक देखिये :-

यदा मोहात् प्रजायेते राग-द्वेषौ तपस्विनः ।
तथैव भावयेत् स्वस्थमात्मानं शा (सा) यतः क्षणात् ॥३९॥

१. इस श्लोक की टीका करते हुए पण्डितप्रवर आशाधरजी ने वहाँ आत्मानुशासन के उक्त श्लोक को उद्धृत भी किया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्लोक २३९-४० में बतलाया है कि शुभ, पुण्य और सुख ये तीन हितकारक होने से अनुष्ठेय तथा अशुभ, पाप और दुख ये तीन अहितकारक होने से हेय हैं। इन तीनों हेयों में से प्रथम अशुभका त्याग कर देने से शेष दो-पाप और दुख स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि वे दोनों उस अशुभ के अविनाभावी है। अन्त में फिर योगी शुद्ध के निमित्त उस शुभ को भी छोड़कर परम पद को प्राप्त हो जाता है। यह भाव समाधि शतक के निम्न दो श्लोकों में व्यक्त किया गया है :-

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजयेत् ॥८३॥
अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४॥

अर्थात् अव्रतों से - हिंसादि रूप अशुभ प्रवृत्ति से पाप, तथा व्रतों से - अहिंसादि रूप शुभ आचरण से पुण्य होता है। उक्त दोनों (पाप-पुण्य) के अभाव का नाम मोक्ष है। इसलिये मुमुक्षु जीव क्रम से अव्रतों के समान व्रतों को भी छोड़ देना चाहिये। वह अव्रतों को छोड़कर व्रतों में निष्ठित होवे और तत्पश्चात् अपने परम पद को प्राप्त होकर उन व्रतों को भी छोड़ दे।

आत्मानुशासन पर श्वे. आगमों का प्रभाव :-

प्रस्तुत ग्रन्थ के भीतर श्लोक १० में सम्यग्दर्शन के दो, तीन और दस भेदों का निर्देश मात्र करके उसके गुण और दोषों को दिखलाते हुए उसे संसार नाशक बतलाया गया है। इसके आगे श्लोक ११ में पूर्वनिर्दिष्ट उन दस भेदों का नाम निर्देश करके श्लोक १२-२४ द्वारा उनका पृथक-पृथक स्वरूप भी बतलाया गया है। यह दस भेद आत्मानुशासन के पूर्ववर्ती दिगम्बर ग्रन्थों में कहां और किसप्रकार से पाये जाते हैं, इसके खोजने का मैंने यथासंभव कुछ प्रयत्न किया है; परन्तु वे मुझे उपलब्ध नहीं हो सके। ये दस भेद लगभग इसी रूप से 'पन्नवणासुत्त' आदि आगम ग्रन्थों में अवश्य पाये जाते हैं। यथा :-

निसग्गुवएसरूई आणरूई सुत्त-बोयरूइमेव ।
अभिगम-वित्थाररूई किरिया-संखेव-धम्मरूई[१] ॥

- पन्नवणा १, ७४ (सुत्तागमे २, पृ २८६)

इस गाथा के अनुसार वे दस ये हैं - निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सूत्ररुचि, बीजरुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, उपदेशरुचि, संक्षेपरुचि और धर्मरुचि।

इसप्रकार आज्ञासम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व, संक्षेपसम्यक्त्व और विस्तार सम्यक्त्व ये छह सम्यक्त्वभेद तो दोनों ग्रन्थों में समानरूप से पाये जाते हैं। किन्तु पन्नवणा में मार्गसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढ़सम्यक्त्व और परमावगाढ़सम्यक्त्व इन चार भेदों के स्थान में निसर्गरुचि, अभिगमरुचि, क्रियारुचि और धर्मरुचि ये चार भेद पाये जाते हैं।

श्रावक प्रज्ञप्ति में भी कहा गया है कि इस सम्यक्त्व को उपाधि भेद से दस प्रकार का भी सम्यक्त्व इन भेदों से - पूर्वोक्त औपशमादि भेदों से अभिन्नस्वरूप है[२]।

श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन के समान उत्तरपुराण में भी इन दस सम्यक्त्व के भेदों की प्ररूपणा की।[३] है इसके उत्तरकालीन ग्रन्थों में ये दस भेद प्राय: आत्मानुशासन के उक्त १० वें श्लोक को उद्धृत कर प्ररूपित हुए देखे जाते हैं[४]।

आत्मानुशासन और सुभाषितत्रिशती :-

योगिराज श्री भर्तृहरि ने सुभाषितरूप शतकत्रय की रचना की है। इनमे प्रथम सौ श्लोकों में नीति, आगे के सौ श्लोकों में श्रृंगार तथा अन्तिम सौ श्लोकों में वैराग्य का वर्णन किया है। रचना प्रौढ, अलंकारों से अलंकृत एवं आकर्षक है। आत्मानुशासन की रचना में श्री गुणभद्राचार्य ने इसका उपयोग किया है, ऐसा ग्रन्थ के अन्त:परीक्षण से प्रतीत होता है। यथा :-

---

१. आत्मानुशासन में रुचि के समानार्थक विरुचित, श्रद्धा, दृष्टि और उस रुचि शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

२. किं चेहुवाहिभेया दसहावीमं परूवियं समए।
ओहेण पपिभेसिं भेयाणमभिन्नरूवं तु ॥ श्रा. प्र. ५२

इसकी टीका में श्री हरिभद्रसूरिने 'यथोक्तं प्रज्ञापनायाम्' लिखकर पन्नवणा की उक्त गाथा को उद्धृत किया है।

३. उत्तरपुराण ७४, ४३९-४९

४. यशस्तिलक (उत्तर खण्ड) पृ. ३२३, श्रुतसागरसूरिविरचित तत्त्वार्थवृत्ति १-७ एवं दर्शनप्राभृतटीका गा. १२; पण्डितप्रवर श्री आशाधरजी ने एक स्वतन्त्र श्लोक के द्वारा इन दस भेदों का उल्लेख किया है
आज्ञा-मार्गोपदेशार्थ-बीज-संक्षेप-सूत्रजाः।
विस्तारजावगाढासौ परमा दशधेति दृक् ॥ अ. ध. २, ६२

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मानुशासन में जो 'नेता यत्र[१] बृहस्पतिः' इत्यादि श्लोक (३२) आया है वह तथा 'यदेतत् स्वच्छन्दं' आदि श्लोक (६७) भी उपर्युक्त सुभाषितत्रिशती में (नी.श.८१ और वै.श.८२) जैसा का तैसा उपलब्ध होता है । इसके अतिरिक्त अन्य कितने ही श्लोकों में शब्द, अर्थ अथवा दोनों से भी समानता पायी जाती है जैसे-

श्लोक १२७ में स्त्रीस्वभाव का वर्णन करते हुए उन्हें सर्प से भी भयानक बतलाया है । हेतु यह दिया है कि सर्प तो क्रुद्ध होकर किसी विशेष समय में ही काटता है तथा उसके विष की विनाशक औषधियां भी बहुत पायी जाती हैं । इसके अतिरिक्त उसके काट लेने पर एकमात्र इसी जन्म में कष्ट होता है; परन्तु स्त्रियां क्रोध और प्रसन्नता दोनों ही अवस्थाओं में काटती हैं (प्राणियों को संतप्त करती हैं) तथा उनके विष की विनाशक कोई औषधि भी नहीं है । इसके अतिरिक्त उनके काटने पर इस लोक और परलोक दोनों में ही प्राणियों को संताप होता है । दूसरे, वे उन महान् ऋषियों को[२] भी काटती हैं (मोहित करती हैं) कि जिनसे सर्प भी भयभीत रहा करते हैं । अब श्रृंगारशतक का यह श्लोक भी देखिये :-

अपसर सखे दूरादस्मात् अटाक्ष-विषानलात्
प्रकृतिविषमाद्याषित्सर्पाद्विलास- फणाभृतः ।
इतरफणिना दष्टः शक्यश्चिकित्सितुमौषधै-
श्चतुरवनिता-भोगिग्रस्तं त्यजन्ति हि मन्त्रिणः ॥५२॥

इसमें भी स्त्री को सर्प के समान बतलाकर उसे स्वभावतः कुटिल, कटाक्षरूप विषाग्नि की ज्वाला से संयुक्त और विलासरूप फणा को धारण करनेवाली कहा है । साथ में यह भी बतलाया है कि लोक प्रसिद्ध सर्प के द्वारा काटे गये प्राणी की औषधियों के द्वारा चिकित्सा भी की जा सकती है, परन्तु चतुर स्त्रीरूप सर्प के द्वारा काटे गये प्राणी को असाध्य समझकर मान्त्रिक जन भी छोड देते हैं । इसलिए हे मित्र ! तू उक्त स्त्रीरूप सर्प से दूर रह ।

---

१. *नि.सा. द्वारा मुद्रित प्रथम गुच्छक में 'यस्य' पाठ है ।*

२. *विश्वामित्र-पराशरप्रभृतयो वाताम्बु-पर्णाशना-*
स्तेऽपि स्त्रीमुख-पङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यः प्लवेत् सागरे ॥ श्रृं.श. ८०

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्लोक १५१ में साधुको लक्ष्य करके कहा गया है कि तेरे पास गृह के स्थान में रहने के लिये गुफायें विद्यमान हैं, पहिनने के लिये दिशारूप वस्त्र है, इष्ट भोजन तप की वृद्धि है, अर्थ (धन) के स्थान में आगम का अर्थ (रहस्य) है, तथा कलत्र के स्थान में उत्तमोत्तम गुण हैं। इसप्रकार तेरे लिये मांगने को कुछ भी शेष नहीं है। अतएव तू व्यर्थ में याचना को प्राप्त न हो। इसकी तुलना वैराग्यशतक के इस श्लोक से कीजिये :-

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्ण वस्त्रमाशादशकमचपलं तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषां निःसंगताङ्गीकरणपरिगतस्वान्तसंतोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ।।९९।।

यहाँ भी यही बतलाया है कि जिन साधुओं के पास अपना हाथ ही पवित्र पात्र है, भ्रमण से प्राप्त हुआ भैक्ष भोजन है, विस्तृत दश दिशायें वस्त्र हैं, तथा पृथिवी ही स्थिर व विशाल शय्या है; इसप्रकार जो अपरिग्रह व्रत को स्वीकार करने से परिपक्व अवस्था को प्राप्त हुए अपने मन से सन्तुष्ट रहते हैं और इसीलिये जिन्होंने दीनता को उत्पन्न करनेवाले व्यतिकर का परित्याग कर दिया है ऐसे वे साधू धन्य हैं और वे ही कर्म का निर्मूलन करते हैं।

श्लोक २६० में कहा गया है कि जो साधु अतिशय वृद्धिगत तप के प्रभाव से प्राप्त हुई ज्ञान-ज्योति के द्वारा अन्तस्तत्त्व को जानकर प्रसन्नता को प्राप्त हैं तथा वन के भीतर ध्यानावस्था में हरिणियों के द्वारा विश्वासपूर्वक देखे जाते हैं; वे साधु धन्य हैं। ऐसे ही धीर साधु अपने अलौकिक आचरण के द्वारा चिरकाल तक दिनों को बिताया करते हैं। अब वैराग्यशतक से इस श्लोक को भी देखिये :-

गङ्गातीरे हिमगिरीशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यासनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये ।।९८।।

यहाँ योगी विचार करता है कि गंगा नदी के किनारे हिमालय पर्वत की शिला के ऊपर पद्मासन से स्थित होकर आत्मध्यान के अभ्यास की विधि से योगनिद्रा को प्राप्त हुए मेरे क्या वे उत्तम दिन कभी नहीं होंगे कि जिनमें वृद्ध

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हिरण निर्भय होकर मेरे शरीर से अपने शरीर को खुजलावेंगे।

उपर्युक्त दोनों ही श्लोक में ध्यान की वह उत्कृष्ट अवस्था निर्दिष्ट की गई है कि जिसमें निर्भय एवं निरीह योगी के स्थिर शरीर को देखकर हिरण हिरणियों को यह कल्पना भी नहीं होती कि यह कोई मनुष्य है। इसीलिए वे निर्भय होकर अपने शरीर को उसके शरीर से रगड़ने लगते हैं।

इसीप्रकार आत्मानुशासन के २५९ वें श्लोक में जिस निर्ममत्व एवं समताभाव को अंकित किया गया है। वह वैराग्यशतक के ९१ और ९४-९६ श्लोकों में दृष्टिगोचर होता है।

आत्मानुशासन और आयुर्वेद :-

प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता श्री गुणभद्राचार्य केवल सिद्धान्त एवं न्याय व्याकरणादि विषयों में ही पारंगत नहीं थे, बल्कि वे आयुर्वेद के भी अच्छे ज्ञाता थे; यह उनके इसी ग्रन्थ से सिद्ध होता है। उन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में यह कह दिया है कि यहाँ जो उपदेश दिया जा रहा है वह यद्यपि सुनने के समय कुछ कटुक प्रतीत होगा, तो भी उसका फल मधुर होगा। इसीलिये जिसप्रकार रोगी मनुष्य तीक्ष्ण (अतिशय कड़वी) औषधि से भयभीत नही होता; उसीप्रकार आत्महितैषी भव्य जीवों को इससे भयभीत नहीं होना चाहिये।

आगे श्लोक १६ और १७ में मिथ्यात्वरूप घातक व्याधि से पीडित भव्य जीव की अज्ञान बालक के समान सुकुमार क्रिया करने का निर्देश करके यह बतलाया है कि जिसप्रकार विषम भोजन से उत्पन्न हुए ज्वर से पीड़ित एवं तीव्र प्यास का अनुभव करनेवाले क्षीणशक्ति रोगी के लिये सुपाच्य पेय (दूध व फलों का रस आदि) आदिकी व्यवस्था हितकर होती है, उसीप्रकार विषय-सेवन से उत्पन्न मोह से संयुक्त होकर तीव्र विषयतृष्णाजनित संताप को प्राप्त हुए तेरे लिये पेयादि के समान अणुव्रतादि आचरण ही हितकर होगा।

श्लोक १०८ में कहा है कि परिग्रह का त्याग विवेकबुद्धि से मोह के नष्ट करनेवाले इस जीव को इसप्रकार से अजर-अमर कर देता है; जिसप्रकार कि कुटीप्रवेश क्रिया शरीर को विशुद्ध करे प्राणी को अजर-अमर (दीघायु) कर देती है।

यह कुटीप्रवेश क्रिया क्या है, इसके लिये आयुर्वेद ग्रन्थों में कहा गया है कि रसायनों का प्रयोग दो प्रकार का होता है - कुटीप्रावेशिक और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वातातपिक । इनमें कुटीप्रावेशिक मुख्य है । कुटी का अर्थ झोपड़ी होता है तदनुसार आयुर्वेदिक उपकरणों की सुलभता युक्त नगर के भीतर किसी ऐसे भवन में, जहां न वायु का संचार हो और न भय के कारण भी विद्यमान हों, उत्तर दिशागत उत्तम स्थान में एक के भीतर दूसरी और दूसरी के भीतर तीसरी इसप्रकार तीन कोठरियोंवाली कुटी की रचना करना चाहिये । यह कुटी छोटे गवाक्षों (झरोखों) से सहित, धुआँ, धूप, धूलि, सर्प, स्त्री, एवं मूर्ख जन आदि से रहित, वैद्य के उपकरणों (औषधियाँ आदि) से सुसज्जित तथा साफ-सुथरी होना चाहिये । जो व्यक्ति उस क्रिया के कराने का इच्छुक है उसे किसी शुभ दिन में पूज्य गुरुजनों की पूजा करके उस कुटी के भीतर प्रवेश करना चाहिये । उक्त रसायन के अभिलाषी व्यक्ति को पवित्र, सुखी, बलवान् ब्रह्मचारी, धैर्यशाली, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय एवं दानादि धर्मकार्यों में तत्पर होना चाहिये । साथ ही उसका औषधि में अनुराग भी होना चाहिये[१] ।

श्लोक १३३ में नारी के जघनरन्ध्र को कामदेव के आयुध (बाण) जन्य नाडीव्रण के समान निर्दिष्ट किया गया है । इस नाडीव्रण का स्वरूप आयुर्वेद में इसप्रकार पाया जाता है :-

यः शोफमाममतिपक्वमुपेक्षतेऽज्ञो या वा व्रणं प्रचूरपूयमसाधुवृत्तः ।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः ।।
तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरिष्यते तु नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी ।

- योगरत्नाकर २, पृष्ठ ३१२

इसका अभिप्राय यह है कि जो अज्ञानी एवं असाधु आचरण करनेवाला वैद्य अतिशय पके हुए सूजनयुक्त फोड़ो को कच्चा समझकर उपेक्षा करता है तथा बहुत पीववाले घाव की भी उपेक्षा करता है । उसकी पीव चूंकि पूर्वोक्त स्थानों

---

१. रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः । कुटीप्रावेशिकं मुख्यं वातातपिकमन्यथा ।। निर्वाते निर्भये हर्म्ये प्राप्योपकरणे पुरे । दिश्युदीच्यां । शुभे देशे त्रिगर्भा सूक्ष्मलोचनाम् ।। धूमातप-रजोव्याल-स्त्रीमूखविद्यिविलङःघिताम । सज्जवैद्योपकरणां सुमृष्टां कारयेत् कुटीम् ।। अथ पुण्येऽण्हि संपूज्य पूज्यांस्तां प्रविशेच्छुचिः । तत्र संशोधनैः शुद्धः सुखी जावतलः पुनः ।। ब्रम्हचारी धृतियुतः श्रद्धानो जितेन्द्रियः दान-शील-दया-सत्य-व्रत-धर्मपरायणः ।। देवतानुस्मृतौ युक्तो युक्तस्वप्न-प्रजागरः । प्रियौषधः पेशलबाक् प्रारभेत रसायनम् ।। अष्टाङःगहृदय ३९, ५-१०.

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(त्वचा, मांस, शिरा, स्नायु, सन्धि, हड्डी और मर्म) में अतिशय मात्रा में गति करती है (जाती है) इसलिये उसे गति माना जाता है तथा चूंकि वह नाड़ी के समान बहता है। इसलिये उक्त व्रण को नाड़ी भी माना जाता है।

इसप्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तर्गत स्थलों को देखते हुए यह भली भांति सिद्ध होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता श्री गुणभद्राचार्य आयुर्वेद के भी अच्छे ज्ञाता थे। उसका प्रभाव उनके इस ग्रन्थ पर भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा है।

ग्रन्थ में समागत प्रमुख सूक्ति वाक्य

कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥५१॥

काम क्रोध महाग्रह पीड़ित दुर्जन करे न क्या क्या कार्य ॥५१॥

निस्सारं परलोकबीजमचिरात् कृत्वेह सारीकुरु ॥८१॥

परभव का यह बीज बनाकर सारभूत यह तन करणीय ॥८१॥

कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेकः ॥९३॥

कहाँ हिताहित का विवेक ? जो व्यसनों में होते हैं भ्रान्त ॥९३॥

मा वमीत् किं जगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम् ॥१०३॥

ग्लानि भाव होने पर भक्षित भोजन जन क्या नहिं वमते ॥१०३॥

नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि ॥११४॥

ताप-शमनकर्त्ता इस तप में ज्ञानीजन क्यों नहीं रमें ? ॥११४॥

प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः ॥१२८॥

ईर्ष्यायुत महिला होती हैं ॥१२८॥

स्त्रियो हि विषमं विषम् ॥१३५॥

विषमरूप विष नारी ही हैं ॥१३५॥

मदनमधुमदान्धे प्रायशः को विवेकः ॥१३६॥

किन्तु मदन-मधु से मदान्ध को होती यह न विवेक कला ॥१३६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

क्या ?	कहाँ-कहाँ ?
विषय	**छन्द क्रमांक**
१. मंगलाचरण एवं भूमिका	१ से ३
२. सच्चे वक्ता की दुर्लभता एवं उनका स्वरूप	४ से ६
३. सच्चे श्रोता का स्वरूप	७
४. आप्त की उपासना की प्रेरणा	८
५. सम्यग्दर्शन का स्वरूप और महिमा	९ से १६
६. जीवों को धर्माचरण की प्रेरणा	१७ से २७, ८१, ९४, ९७, १२५, १२८, १८८, १९०, १९३
७. लौकिक अनुकूलता में पुरुषार्थ की निरर्थकता एवं पुण्य की महिमा	३१,३२,३७,४४
८. अज्ञानी एवं विषयान्ध जीवों की दुर्दशा और विषयाभिलाषा का निषेध	३४, ३८, ३९, ४३, ४७, ४९, ५०, ५१, ५५, ६४, ८५, ९२, १००, १५६, १५७, १६३, १६४, १६८, १८९, १९१, १९२, १९६, २३०, २३३
९. परिग्रह त्यागकर मुनिव्रत धारण करने की प्रेरणा और मुनियों तथा त्यागियों की महिमा	४०, ६५, ६७, ६८, १०२, १०३, १०४, १०७, १०८,११०, १२०, १५१, २३४, २४६, २५६ से २६४
१०. शरीर एवं पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि तथा राग-द्वेष का निषेध	४८,५६, ५७, ५८, १०५, १०६, १६९, १७७, १८२, १८३, १९९, २०१, २०६, २०७, २१२ से २२३, २२८ से २३२, २३५ से २३८, २४२, २४३, २५४, २५५

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

११. स्त्री का स्वरूप एवं कामवासना का निषेध एवं ब्रह्मचर्य की प्रेरणा	८०, १०१, १०९, १२६ से १३७, १९८
१२. तप समाधि एवं ध्यान, संयम, यम-नियम आदि की प्रेरणा	१११ से ११९, १३८, १६१, १९४, २२४, २२६, २२७, २४७
१३. ज्ञानियों की महिमा	१२१, १२३, १४८, १६२, २०३, २०४, २०५, २४४, २५१, २५२
१४. दोषों की निन्दा और गुणों की प्रशंसा	१३९, १४० से १४७, २४८ से २५०
१५. साधुओं की दुर्लभता एवं विपरीत वृत्ति	१४९, १५०, १६५ से १६७
१६. स्वाध्याय एवं वस्तु-विचार	१७० से १७६, १९७, २००, २०२, २०९, २१०, २११, २४१, २५३, २६५, २६६

*　　　*　　　*

भोर की स्वर्णिम छटा सम क्षणिक सब संयोग हैं।
पद्मपत्रों पर पड़े जलबिन्दु सम सब भोग हैं॥
सान्ध्य दिनकर लालिमा सम लालिमा है भाल की।
सब पर पड़ी मनहूस छाया विकट काल कराल की॥

अंजुली-जल सम जवानी क्षीण होती जा रही।
प्रत्येक पल जर्जर जरा नजदीक आती जा रही॥
काल की काली घटा प्रत्येक क्षण मंडरा रही।
किन्तु पल-पल विषय-तृष्णा तरुण होती जा रही॥

- अनित्य भावना : डॉ. हुकमचंद भारिल्ल

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रत्येक श्लोक में समागत विषय-सूची

श्लोक क्रमांक	विषय
१.	मंगलाचरण पूर्वक ग्रन्थ-रचना करने की प्रतिज्ञा
२.	पापनाशक और सुखदायक उपदेश
३.	कटु उपदेश से भी भयभीत न होने की प्रेरणा
४.	सच्चे उपदेशों की दुर्लभता
५-६.	उपदेशदाता वक्ता का स्वरूप
७.	सच्चे श्रोता का स्वरूप
८.	धर्माचरण की प्रेरणा
९.	आप्त की उपासना की प्रेरणा
१०.	सम्यग्दर्शन का स्वरूप और भेद-प्रभेद
११.	सम्यक्त्व के आज्ञा आदि दस भेद
१२.	आज्ञा मार्ग और उपदेश सम्यक्त्व का स्वरूप
१३.	सूत्र, बीज और संक्षेप सम्यक्त्व का स्वरूप
१४.	विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ सम्यक्त्व का स्वरूप
१५.	सम्यग्दर्शन से ही मंदकषाय, शास्त्रज्ञान, चारित्र और तप की पूज्यता
१६.	सुकुमार (सरल) क्रिया करने का उपदेश
१७.	अणुव्रत ग्रहण करने की प्रेरणा
१८.	संसार के सभी प्राणियों को धर्म करने का उपदेश
१९.	विषय सुख भोगते हुए भी धर्म की रक्षा करने की प्रेरणा
२०.	धर्माचरण से सुख भंग होने के भय का निराकरण
२१.	कृषक के उदाहरण से धर्म रक्षा की प्रेरणा
२२.	धर्म का फल बिना मांगे ही
२३.	आत्मा के परिणामों से ही पुण्य और पाप की उत्पत्ति
२४.	धर्म संचय न करनेवालों की निन्दा
२५.	विषय सुख भोगते हुए भी धर्मोपार्जन सम्भव है
२६.	धर्म का फल
२७.	धर्म का घात करने से पाप होता है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२८. शिकारादि कार्य प्रत्यक्ष दु:ख के कारण
२९. शिकार आदि में आसक्ति अत्यन्त निर्दयता
३०. झूठ और चोरी के त्याग की प्रेरणा
३१. पुण्यशालियों को उपसर्ग भी दु:खदायक नहीं
३२. पुण्योदय बिना पुरुषार्थ भी कार्यकारी नहीं
३३. हिंसादिक के त्यागी सत्पुरुष आज भी हैं
३४. लौकिक जीवों की मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति
३५. विषयान्ध पुरुष की दुर्दशा का वर्णन
३६. विषयाभिलाषा की व्यर्थता
३७. पुण्योपार्जन की प्रेरणा
३८. विषयों का स्वाद अत्यन्त कटु
३९. तृष्णा की विकरालता
४०. परिग्रह त्याग की प्रेरणा
४१. गृहस्थाश्रम के त्याग की प्रेरणा
४२. गृहस्थाश्रम में होनेवाले निरर्थक क्लेशों का वर्णन
४३. आशारूपी अग्नि से दग्ध व्यक्ति की चेष्टा
४४. पुण्योदय के बिना कार्यसिद्धि नहीं
४५. न्यायोपार्जित धन से कभी सम्पदा नहीं बढ़ती
४६. धर्म, सुख, ज्ञान और गति का स्वरूप
४७. धनोपार्जन छोड़कर धर्म-साधन की प्रेरणा
४८. बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के त्याग की प्रेरणा
४९. आशारूपी नदी के पार होने की प्रेरणा
५०. विषयाभिलाषा से व्याकुल जीव की चेष्टा
५१. आशा के वशीभूत जीव का अविवेक
५२. जगत की क्षणभंगुरता
५३. वर्तमान दु:खों का वर्णन
५४. आत्म कल्याण की प्रेरणा
५५. तृष्णा से उत्पन्न दु:ख का वर्णन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

५६. मोहरूपी अग्नि की विशेषता

५७. मोह-निद्रा का वर्णन

५८. मोह-निद्रा के वश हुए प्राणी की दशा

५९. शरीर की बन्दीगृह से तुलना

६०. घर-कुटुम्ब आदि का स्वरूप

६१. समभाव धारण करने की प्रेरणा

६२. ह्यनद्रश्न भबढ़ ष्त्रग्नयद्रत्तळ

६३. शरीर की नश्वरता

६४. विषयों के त्याग की प्रेरणा

६५-६६. परिग्रह रहित यती ही महासुखी

६७-६८. मुनियों के गुणों की प्रशंसा

६९-७०. शरीर का विनाश निश्चित

७१-७२. आयु की क्षणभंगुरता

७३. श्वास की उत्पत्ति में ही दुःख

७४. संसार में जीवन बहुत थोड़ा

७५. अनेक प्रयत्नों के बाद भी मनुष्यों की रक्षा संभव नहीं

७६. काल से अधिक बलवान कोई नहीं

७७. काल द्वारा प्राणियों को मारने की विधि

७८. यमराज का आकस्मिक आगमन

७९. मरण से रहित कोई नहीं

८०. स्त्री शरीर से प्रीति छोड़ने की प्रेरणा

८१. मनुष्य पर्याय की काने गन्ने से तुलना

८२. आयु की अनिश्चितता

८३. कुटुम्बीजन हितकारी नहीं

८४. विवाहादि में सहायक बन्धुजन ही वास्तविक शत्रु

८५. तृष्णारूपी अग्नि में जलने पर शान्ति की भ्रान्ति

८६. बाल सफेद होने का यथार्थ आशय

८७. संसार-समुद्र का स्वरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

८८. ज्ञान-ज्योतिवन्त जीव धन्य हैं
८९. बाल्यादि तीनों अवस्थाओं में धर्म की दुर्लभता
९०. बाल्यादि तीनों अवस्थाओं में कर्म जनित दुःख
९१. वृद्धावस्था से आत्महित की प्रेरणा
९२. विषयी जीवों को युक्तिपूर्वक उपालम्भ
९३. व्यसनी को हिताहित का अभाव
९४. बुद्धिमानों का प्रमादी होना शोचनीय
९५. ज्ञानियों का राजादिक का दास होना विचारणीय
९६. धर्म प्राप्ति का विधान
९७. यतियों का पर-हित के प्रति अनुराग
९८. शरीर : समस्त आपदाओं का स्थान
९९. गर्भावस्था के दुःख
१००. अज्ञानी की मूर्खता
१०१. कामजन्य वेदना
१०२. उत्तरोत्तर उत्कृष्ट त्याग के उदाहरण
१०३. विरक्ति होने पर सम्पत्ति के त्याग में क्या आश्चर्य ?
१०४. लक्ष्मी का त्याग होने पर विभिन्न परिणामवाले त्यागी
१०५. शरीर से मोह-त्याग की प्रेरणा
१०६. रागादि छोड़ने की प्रेरणा
१०७. दया-दम आदि के मार्ग पर चलने की प्रेरणा
१०८. भेद-ज्ञान और वीतरागता की प्रेरणा
१०९. बाल-ब्रह्मचारियों की प्रशंसा
११०. परमात्मा बनने का रहस्य
१११. तप करने की प्रेरणा
११२. ध्यान तप का ध्येय और फल
११३. तप ही समस्त सिद्धियों का साधन है
११४. तप की महिमा
११५. समाधि में ध्यान को सुरक्षित रखने की प्रेरणा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

११६. तप करने में ज्ञान की महिमा
११७. इस शरीर के साथ आधे क्षण भी रहना सह्य नहीं
११८. परीषह सहने की प्रेरणा
११९. विधि का विलास अलंघ्य है
१२०. संयमधारियों की महिमा
१२१. ज्ञानियों की दीपक से तुलना
१२२. अशुभ और शुभ छोड़ने का क्रम
१२३. ज्ञानियों का तप और श्रुत के प्रति अनुराग कल्याणकारी है
१२४. अशुभराग में दोष की अधिकता
१२५. मोक्षमार्ग की यात्रा
१२६. स्त्रियों का महाविषमय स्वरूप
१२७. स्त्रीरूपी सर्प के विष की औषधि नहीं
१२८. मुक्ति-स्त्री से ही अनुराग की प्रेरणा
१२९. नारी को सरोवर की उपमा
१३०. नारी, काम द्वारा निर्मित घातस्थल है
१३१. नारी के प्रति आसक्ति में निर्लज्जता
१३२. काम सेवन में खेद
१३३. स्त्री की योनि का वीभत्सरूप
१३४. विषय-सुख का पोषण करनेवाले ठग
१३५. नारी विष से भी अधिक भयानक है
१३६. स्त्रियों को चन्द्रमा की उपमा देना उचित नहीं है
१३७. मन की नपुंसकता
१३८. तप की श्रेष्ठता
१३९. गुण हीनता से हानि होती है
१४०. दोष का अंश भी निन्द्य है
१४१. दोष बतानेवाले दुर्जन भी हितकारी हैं
१४२. गुरु के कठोर वचन भी हितकारी हैं
१४३. धर्मात्माओं की दुर्लभता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१४४. विवेकी जन प्रशंसा में सन्तुष्ट नहीं होते
१४५. ज्ञानियों में श्रेष्ठ कौन ?
१४६. अहित का त्याग और हित में प्रवर्तन करने की प्रेरणा
१४७. गुणों का ग्रहण और दोषों के त्याग की प्रेरणा
१४८. विवेकियों का कर्त्तव्य
१४९. यथार्थ चारित्र पालनेवाले मुनि विरले ही हैं !
१५०. स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेवालों की संगति का निषेध
१५१. अयाचक वृत्ति धारण करने की प्रेरणा
१५२. कौन दीन और कौन अभिमानी
१५३. याचक का गौरव दाता में चला जाता है
१५४. वाञ्छक और अवाञ्छक की स्थिति
१५५. दरिद्रता की श्रेष्ठता !
१५६. आशारूपी खाई की अगाधता
१५७. आशारूपी खाई भरने का उपाय : तृष्णा का परित्याग
१५८. निर्ग्रन्थों द्वारा परिग्रह-ग्रहण का निषेध
१५९. कलि-काल का चक्रवर्तित्व
१६०. कर्मों के निमित्त से होनेवाली हानि
१६१. इन्द्रिय-सुख के लिए भी धैर्य की आवश्यकता
१६२. महामुनियों का कुछ भी बिगाड़ने में कर्म असमर्थ
१६३. आशा को निराश करनेवालों का कर्म कुछ नहीं बिगाड़ स
१६४. स्तुत्य और निंद्य व्यक्तियों की चरम स्थिति
१६५. विषयाभिलाषियों द्वारा तप छोड़ने पर आश्चर्य
१६६. तप से च्युत होनेवालों की निर्भयता पर आश्चर्य
१६७. तप को मलिन करनेवालों की निन्दा
१६८. आश्चर्य-उत्पत्ति के दो प्रमुख कारण
१६९. रागादि का नाश करने की प्रेरणा
१७०. शास्त्राभ्यास की प्रेरणा
१७१. वस्तु का अनेकान्तिक स्वरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१७२. प्रमाण से सिद्ध वस्तु का अनेकान्तिक स्वरूप
१७३. परस्पर विरुद्ध धर्ममय सभी पदार्थ
१७४. आत्मा का असाधारण स्वरूप
१७५. ज्ञान का फल और मोह की महिमा
१७६. भव्य और अभव्य में अंतर
१७७. ध्यान की प्रक्रिया
१७८. अज्ञानी को कर्म-बन्ध पूर्वक होने वाली निर्जरा
१७९. अविपाक निर्जरा की प्रेरणा
१८०. बन्ध और मुक्ति का कारण
१८१. पाप, पुण्य और मुक्ति का कारण
१८२. राग-द्वेष का कारण
१८३. मोह का स्वरूप और उसके विनाश का उपाय
१८४. मृत्यु के पश्चात् मित्र भी शत्रु हैं
१८५. इष्ट-वियोग में शोक करनेवाले की स्थिति
१८६. शोक का कारण और फल तथा उसके अभाव की प्रेरणा
१८७. पर-लोक में कौन सुखी और कौन दुःखी ?
१८८. जन्म की मरण से समानता
१८९. लाभ और पूजादि की कामना का निषेध
१९०. तप और श्रुत का वास्तविक फल
१९१. विषयाभिलाषा से अनर्थ
१९२. विषयों का दोष जानकर भी उनके सेवन में आश्चर्य
१९३. आत्म-हितकारी आचरण की प्रेरणा
१९४. बाह्य तप करने की प्रेरणा
१९५. शरीर ही अनर्थों की परम्परा का कारण है
१९६. अज्ञानियों द्वारा शरीर-पोषण का प्रयोजन
१९७. कलि-काल में तपस्वियों की कष्टकारक वृत्ति
१९८. ..... इससे तो गृहस्थ अवस्था ही श्रेष्ठ है
१९९. शरीर और स्त्री से राग छोड़ने की प्रेरणा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२००. दो द्रव्यों में एकत्व होना असम्भव
२०१. शरीर से ममत्व और सुख की आशा रखना आश्चर्यजनक है
२०२. शरीर को धिक्कार है
२०३. सच्चे ज्ञान और सच्चे साहस का स्वरूप
२०४.
२०५. } रोग होने पर ज्ञानियों की परिणति
२०६. रोग मिटने से सुख मानना अज्ञान है
२०७. असाध्य रोग होने पर शरीर से उदास होने की प्रेरणा
२०८. शरीर का ग्रहण जन्म का और त्याग मुक्ति का कारण है
२०९. शरीर के कारण जीव भी अस्पृश्य
२१०.
२११. } शरीर के तीन प्रकार
२१२. कषाय-शत्रु को जीतना आसान
२१३. कषायों के रहते हुए गुणों की प्राप्ति होना दुर्लभ
२१४. कषायों के आधीन होनेवालों का उपहास
२१५. साधर्मियों के प्रति ईर्ष्या के त्याग की प्रेरणा
२१६. क्रोध से होनेवाली हानि
२१७. मान से होनेवाली हानि
२१८. मान के त्याग की प्रेरणा
२१९. सब पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर हैं, अतः गर्व करना व्यर्थ है
२२०.
२२१. } माया से होनेवाली हानि
२२२.
२२३. लोभ से होनेवाली हानि
२२४.
२२५. } निकट भव्य जीवों को होनेवाले भाव
२२६. गुणों से मण्डित मुनिराज ही मुक्ति के पात्र
२२७. रत्नत्रय की रक्षा करने की प्रेरणा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२२८. संयम के उपकरणों से भी अनुराग करने का निषेध
२२९. तप और श्रुतरूपी निधि की रक्षा करने की प्रेरणा
२३०. आशारूपी शत्रु से सावधान रहने की शिक्षा
२३१. मोह का सर्वथा नाश करने की प्रेरणा
२३२. वीतरागता के अभाव में दुःख
२३३. इन्द्रिय-सुख से दुःखों की शान्ति असम्भव
२३४. ज्ञान-चारित्ररूपी मूल्य चुकाकर मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा
२३५. भोग्य और अभोग्य के विकल्पों से पार
२३६. प्रवृत्ति और निवृत्ति से पार अवस्था प्राप्त करने की प्रेरणा
२३७. प्रवृत्ति, निवृत्ति और उनके कारण
२३८. अपूर्व-अपूर्व भाव करने की प्रेरणा
२३९. हेय-उपादेय का स्वरूप
२४०. अशुभादि के त्याग का क्रम
२४१. आत्मा और बन्ध की सिद्धि पूर्वक मोक्ष की सिद्धि
२४२. शरीरादि से प्रीति ही आपत्ति
२४३. देह के प्रति एकत्व बुद्धि के त्याग की प्रेरणा
२४४. विद्वानों का अपूर्व कौशल
२४५. बन्ध और निर्जरा की परिपाटी
२४६. योगी कौन ?
२४७. प्रतिज्ञाओं के बाँध से तपरूपी सरोवर की सुरक्षा
२४८. अल्प दोष भी बहुत हानिकारक है
२४९. पर-निन्दा के त्याग की प्रेरणा
२५०. गुणवानों के अल्प दोष भी प्रसिद्ध
२५१. ज्ञानियों की वैचारिक दशा
२५२. विवेकियों का आचरण
२५३. तन और चेतन की भिन्नता
२५४. शरीर से राग छोड़ने की प्रेरणा
२५५. मोह-त्याग की प्रेरणा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२५६. साधुओं को सभी पदार्थ सुख के निमित्त
२५७. कर्मोदय होने पर मुनिराज को खेद नहीं होता
२५८. मुनिराज की ध्यानस्थ अवस्था
२५९. निस्पृह मुनिराज से प्रार्थना
२६०. चारित्रवन्त साधु धन्य हैं !
२६१. भेद-विज्ञान की महिमा
२६२. सज्जनों द्वारा परिग्रह-त्यागी वन्दनीय
२६३. कर्मोदय में उदासीन जीव को नवीन कर्म-बन्ध नहीं
२६४. यतियों की वृत्ति आश्चर्य की भूमि
२६५. मुक्ति में ज्ञानादि गुणों का नाश मानना मिथ्या
२६६. आत्मा का स्वरूप
२६७. अनन्त सुखमय हैं सिद्ध भगवान
२६८. ग्रन्थ के अभ्यास का फल
२६९. गुरुवर जिनसेनाचार्य का स्मरण
२७०. अन्तिम मङ्गलाचरण

* * *

विद्युत लक्ष्मी, प्रभुता पतंग, आयुष ते तो जल ना तरंग।
पुरंदरी चाप अनङ्ग रंग शुं राचिये त्यां क्षण नो प्रसंग ॥

- श्रीमद् राजचंद्रजी

अर्थ - बिजली के समान चंचल लक्ष्मी, पतंगे के समान क्षण-भंगुर प्रभुत्व, जल की तरंगों के समान क्षणिक आयु एवं इंद्रधनुष के समान काम-भोगों में क्या रमना ? ये सब तो क्षणिक संयोग है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

आचार्यवर्य श्री गुणभद्रस्वामी प्रणीत

आत्मानुशासन

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी विरचित हिन्दी वचनिका का आधुनिक हिन्दी भाषा में रूपान्तर एवं मूल ग्रन्थ के हिन्दी पद्यानुवाद सहित

हिन्दी वचनिका का मंगलाचरण

दोहा

श्री जिन-शासन-गुरु नमौं नानाविध सुखकार ।
आतम-हित उपदेशतैं करैं मंगलाचार ॥१॥

अर्थ :- जो अनेक प्रकार के सुख देनेवाले आत्म-हित का उपदेश देकर जगत का मंगल करते हैं; उन देव-शास्त्र-गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।

सवैया

सोहै जिनशासन में आत्मानुशासन श्रुत,
जाकी दुःखहारी सुखकारी सांची शासना।
जाको गुणभद्र कर्त्ता गुणभद्र जाको जानि,
भद्र गुणधारी भव्य करत उपासना ॥
ऐसे सार शास्त्र को प्रकाशे अर्थ जीवनि को,
बनै उपकार नाशै मिथ्या भ्रम-वासना ।
तातैं देशभाषा करि अर्थ को प्रकाश करौं,
जातैं मन्दबुद्धि हू के होत अर्थ भासना ॥२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- जिसकी सच्ची शासना (उपदेश) दुःख दूर करनेवाली और सुख उत्पन्न करनेवाली है; जिसके कर्त्ता गुणभद्र हैं, भद्र (अच्छे) गुणों के धारक भव्य जीव जिन्हें गुणभद्र अर्थात् अच्छे गुणवाले जानकर जिनकी उपासना करते हैं - ऐसा यह आत्मानुशासन शास्त्र जिनशासन में शोभित है।

यह सारभूत शास्त्र जीवों को वस्तु-स्वरूप का ज्ञान कराके, उनकी मिथ्या भ्रमरूप वासना का नाश कराके, उनका उपकार करता है; इसलिए मन्दबुद्धि जीवों को भी इसका अर्थ भासित हो - इस प्रयोजन से मैं देशभाषा द्वारा इसका अर्थ प्रकाशित करता हूँ।

मंगलाचरण पूर्वक ग्रन्थ-रचना करने की प्रतिज्ञा

अब श्री आचार्य गुणभद्र विषयों में विमोहित अपने धर्मभाई लोकसेन नामक मुनिराज को समझाने के बहाने से, सर्वजनोपकारी सन्मार्ग का उपदेश देने की भावना से इस आत्मानुशासन ग्रन्थ की रचना करते हैं।

सर्वप्रथम शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति आदि अनेक फलों की भावना से मंगलाचरण के रूप में इष्टदेव को नमस्कार करते हुए 'लक्ष्मी' इत्यादि सूत्र की रचना करते हैं; जो इसप्रकार है :-

आर्या[1]

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलयं निधाय हृदि वीरम्।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥१॥

वीरछन्द[2]

जो लक्ष्मी के निलयरूप उन अविनाशी प्रभु को उर धार।
ग्रन्थ रचूँ आत्माऽनुशासन, भव्यजनों को है शिवकार ॥१॥

अर्थ :- इस शास्त्र का कर्त्ता मैं गुणभद्र, वीर अर्थात् वर्धमान नामक तीर्थंकर देव को अथवा जो कर्मशत्रु का नाश करने के लिए सुभट हैं उन्हें, अथवा विशिष्ट लक्ष्मी को 'राति' अर्थात् ग्रहण करनेवाले सभी अरहन्तादि भगवन्तों को अपने हृदय में विराजमान करके आत्मा को हित की शिक्षा देनेवाले

---

१. प्रत्येक पद्य के ऊपर छन्द का नाम सूचित किया है।

२. सभी छन्दों का हिन्दी पद्यानुवाद वीरछन्द में किया गया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मानुशासन नामक ग्रन्थ की रचना करूँगा।

इसप्रकार ग्रन्थकर्त्ता ने अपने इष्टदेव का ध्यानरूप मंगलाचरण करके शास्त्र लिखने की प्रतिज्ञा की है। वे वीर भगवान, आत्मस्वभावरूप अथवा (अनेक) अतिशयरूप लक्ष्मी के निवास अर्थात् मन्दिर हैं; उन्होंने सर्व पापों का नाश करके अविनाशी स्वरूप को प्राप्त किया है। इन विशेषणों द्वारा आचार्यदेव ने अपने इष्टदेव के 'वीर' नाम की सार्थकता दिखाई है और उनका सर्वोत्कृष्टपना प्रगट किया है। इसलिए मैं इस शास्त्र की रचना भव्य जीवों को मोक्ष की प्राप्ति के लिए करूँगा, अन्य कुछ मान लोभादि का प्रयोजन नहीं है, क्योंकि जीवों को हित की अभिलाषा उपादेय है।

पापनाशक और सुखदायक उपदेश

अब शास्त्रों के अर्थ के सम्बन्ध में शिष्यों को होनेवाले भय को दूर करते हैं और इस ग्रन्थ में उनकी प्रवृत्ति (प्रयोजन) के अनुसार ही वर्णन है - इस आशय को स्पष्ट करनेवाला 'दुःखात्' इत्यादि सूत्र कहते हैं :-

आर्या

दुःखाद्विभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन् ।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥२॥[1]

हे आत्मन् ! तू दुःख से डरता अरु सुख की वाञ्छा करता ।
इसीलिए मैं दुःखहारी अरु सुखकारी रचना करता ॥२॥

अर्थ :- हे आत्मा ! तू दुःख से बहुत डरता है और सुख को सर्व प्रकार से चाहता है; इसलिए मैं भी दुःख दूर करनेवाले और सुख उत्पन्न करनेवाले वाञ्छित अर्थ का उपदेश करता हूँ।

भावार्थ :- कुछ लोग इस भय से शास्त्र का अनादर करते हैं (अर्थात् उनका अध्ययन नहीं करते) कि श्री गुरु हमें सुख छोड़कर कष्ट साधन का उपदेश देंगे, परन्तु ऐसा भय करके (तू) शास्त्र का अनादर मत कर। तेरा अभिप्राय दुःख दूर करने का और सुख प्राप्त करने का है; उसी प्रयोजन से हम

---

१. यही आशय पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला की निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया है।
जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुःख तें भयवन्त।
तातें दुःखहारी सुखकार, कहें सीख गुरु करुणा धार ॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तुझे (सुखी होने के) सच्चे उपाय का उपदेश देते हैं।

कटु उपदेश से भी भयभीत न होने की प्रेरणा

यद्यपि उक्त उपदेशरूप वचन तुझे कदाचित् कड़वा भी लगे, तथापि तू उससे भयभीत मत हो - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

आर्या

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किञ्चत ।
त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥३॥

मधुर-विपाकी उपदेशामृत यह यदि कटु भी भासित हो ।
कटु-औषधि-ग्राहक रोगीवत् किञ्चित् तू भयभीत न हो ॥३॥

अर्थ :- यदि तुझे इस शास्त्र में कोई उपदेश तत्काल कुछ कड़वा लगे तो जिसप्रकार रोगी अति कटुक औषधि से भी नहीं डरता है उसीप्रकार तू भी उस उपदेश से मत डर ! क्योंकि वह उपदेश फल देने के काल में मीठा है।

भावार्थ :- जिसप्रकार कोई औषधि सेवन करते समय कुछ कड़वी भी लगे तो भी उसका फल मीठा अर्थात् सुखरूप जानकर समझदार रोगी उससे नहीं डरता, अपितु उसे आदर से ग्रहण करता है; उसीप्रकार तू भी समझदार संसारी है, इसलिए यदि तुझे इस शास्त्र का उपदेश सुनते समय कुछ असुहावना (बुरा) भी लगे तो भी तू उसका सुखरूप मीठा फल जानकर उससे डर मत ! यह उपदेश तुझे आदर से ग्रहण करने योग्य है।

सच्चे उपदेशों की दुर्लभता

यहाँ कोई तर्क करता है कि उपदेश दाता तो बहुत हैं, इसलिए तुम्हारे निष्फल खेद करने से क्या सिद्ध होगा ? इसका उत्तर निम्न छन्द में देते हैं :-

अनुष्टुप्

जना घनाश्च वाचालाः सुलभाःस्युर्वृथोत्थिताः ।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः ॥४॥

हुए व्यर्थ उद्धत जो जन-घन अति वाचाल सुलभ होते ।
भीगे अन्तर वाले जग-हित-अभिलाषी दुर्लभ होते ॥४॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- खोटा उपदेश देनेवाले और निरर्थक महन्तता से उद्धत मनुष्य तथा व्यर्थ गरजनेवाले निरर्थक मेघ सुलभ हैं; परन्तु अन्तरंग में धर्मबुद्धि से भीगे हुए तथा संसार के दु:खों से जीवों का उद्धार करने की इच्छावाले मनुष्य तथा अन्तरंग में जल से भीगे हुए और अन्न उत्पादन करके लोक का उपकार करने में कारणभूत मेघ दुर्लभ हैं।

भावार्थ :- यद्यपि उपदेशदाता बहुत हैं तथापि धर्मबुद्धि से जीवों का उद्धार करनेवाला जैसा उपदेश हम देंगे,वैसा उपदेश देनेवाले कम हैं; इसलिए हमारा उद्यम[१] निरर्थक नहीं है।

उपदेशदाता वक्ता का स्वरूप

यदि ऐसा है तो उपदेशदाता कैसे गुणों से युक्त होना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर 'प्राज्ञ:' इत्यादि निम्न दो छन्दों में देते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः ।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥५॥

धर्मकथा कहने का अधिकारी हो प्रज्ञायुत शास्त्रज्ञ ।
हो प्रतिभा-सम्पन्न, क्षीण-आशामय, लोक-स्थिति का विज्ञ ॥
प्रशम, प्राग्दृष्टा प्रश्नों का, प्रश्न सहन करने वाला ।
प्रभुतायुत, गुणनिधि, मृदुभाषी, सबका मन हरने वाला ॥५॥

अर्थ :- धर्मकथा कहनेवाले सभानायक गणी में निम्न गुण होना चाहिए :-

१. वह बुद्धिमान होना चाहिए क्योंकि बुद्धिहीन में वक्तापना सम्भव नहीं है।
२. वह समस्त शास्त्रों के रहस्य का जानकार होना चाहिए क्योंकि शास्त्रों के सांगोपाँग ज्ञान बिना यथार्थ अर्थ भासित नहीं होता।
३. वह लोक-व्यवहार का ज्ञाता होना चाहिए, क्योंकि लोक-रीति के ज्ञान बिना वह लोक-विरुद्ध वर्तन करेगा।
४. वह आशावान (महत्वाकाँक्षी) नहीं होना चाहिए क्योंकि आशावान होने

---

१. ग्रन्थ की रचना करने का प्रयास

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर वह श्रोताओं का मनोरंजन करना चाहेगा, यथार्थ अर्थ का प्ररूपण नहीं करेगा।

५. वह कान्तिमान और प्रतिभाशाली होना चाहिए, क्योंकि शोभायमान न होने पर यह महान कार्य उसे शोभा नहीं देगा।

६. वह उपशम परिणामवाला होना चाहिए, क्योंकि तीव्र कषायी व्यक्ति सबके लिए अनिष्टकारी और निन्दा का स्थान होगा।

७. वह श्रोताओं द्वारा प्रश्न करने के पहले ही उत्तर का जानकार होना चाहिए, क्योंकि स्वयं ही प्रश्नोत्तर करके समाधान करने से श्रोताओं को उपदेश में दृढ़ता होगी।

८. वह प्रचुर प्रश्नों को सहने की क्षमतावाला होना चाहिए, क्योंकि यदि वह प्रश्न करने पर नाराज होगा तो श्रोता प्रश्न नहीं करेंगे तो उनका सन्देह दूर कैसे होगा ?

९. वह प्रभुता सहित होना चाहिए, क्योंकि श्रोता उसे अपने से ऊँचा जानेंगे, तभी उसका कहना मानेंगे।

१०. वह दूसरों का मन हरनेवाला (उन्हें अच्छा लगनेवाला) होना चाहिए, क्योंकि जो असुहावना लगे उसकी शिक्षा श्रोता कैसे मानेंगे ?

११. वह गुणों का निधान होना चाहिए, क्योंकि गुणों के बिना नायकपना शोभा नहीं देता।

१२. वह स्पष्ट और मिष्ट वचन कहनेवाला होना चाहिए, क्योंकि स्पष्ट वचन कहे बिना लोग समझेंगे नहीं और मिष्ट वचन कहे बिना श्रोताओं को सुनने की रुचि नहीं होगी।

भावार्थ :- जिसमें उक्त गुण हों वही शास्त्र कहने का अधिकारी हो सकता है।

हरिणी

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने,
परणतिरुरूद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा,
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम् ॥६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सत्पुरुषों के गुरु, सन्देह रहित आगमज्ञानी होते ।
शुद्ध वृत्तिमय पर-प्रतिबोधी, मार्ग-प्रवर्तक भी होते ॥
ज्ञानीजन की विनययुक्त हों, उद्धत-रहित तथा लोकज्ञ ।
मृदुतायुत, वाञ्छा-विहीन यति-पति गुण से होते समृद्ध ॥६॥

अर्थ :- जिसमें निम्न गुण हों वह सत्पुरुषों को उपदेश देनेवाला गुरु होता है।

१. सम्पूर्ण सन्देह रहित शास्त्र-ज्ञान हो ।
२. शुद्ध, निर्दोष और यथायोग्य मन-वचन-काय की प्रवृत्ति हो ।
३. दूसरों को सम्बोधित करने की भावना हो ।
४. जिन-मार्ग का प्रर्वतन करने की भली (यथार्थ) विधि में भला उद्यम करनेवाला हो ।
५. ज्ञानीजनों द्वारा जिसे नमन (सम्मानित) किया जाता हो तथा जो विशेष ज्ञानियों को विनयभाव से नमन करता हो ।
६. उद्धतपना तथा भयवान न हो ।
७. लोकरीति का ज्ञाता हो ।
८. कोमलता सहित हो ।
९. वाञ्छा रहित हो ।
१०. यतीश्वर सम्बन्धी अन्य गुण भी हों ।

भावार्थ :- पूर्वोक्त गुण सहित गुरु ही सत्पुरुषों का भला करते हैं । इसलिए हमारा भी यही आशीर्वाद है कि इन गुणों से युक्त उपदेशदाता गुरु हो । जिससे जीवों का बुरा हो - ऐसा उपदेशदाता गुरु किसी का न हो ।

सच्चे श्रोता का स्वरूप

यदि उपदेशक ऐसा हो तो शिष्य कैसा होना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए निम्न छन्द कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद्भृशं भीतवान्
सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम् ।
धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं
गृह्णन्धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः ॥७॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

धर्मकथा का श्रोता होता भव्य और निज-हित-चिन्तक ।
दुःखों से भयभीत तथा श्रवणादि बुद्धियुत हित-वाञ्छक ॥
सुखकर और दया-गुणमय, धर्मस्थ युक्ति अरु आगम से ।
श्रुत-मर्यादा-धारी, आग्रह-मुक्त धर्म-वार्ता सुनते ॥७॥

अर्थ :- धर्म कथा सुनने के अधिकारी शिष्य में निम्न गुण होना चाहिए:-

१. वह भव्य होना चाहिए, क्योंकि जिसकी होनहार भली न हो उसका सुनना कार्यकारी कैसे होगा ?

२. उसे 'मेरा कल्याण किसमें है'- इसका विचार होना चाहिए,क्योंकि जिसे अपने भले-बुरे का विचार नहीं है, वह सीख (उपदेश) क्यों सुनेगा ?

३. वह दु:खों से बहुत अधिक डरता हो, क्योंकि जिसे नरकादि का भय नहीं है, वह पाप छुड़ानेवाला शास्त्र क्यों सुनेगा ?

४. वह सुख का अभिलाषी होना चाहिए, क्योंकि जो भविष्य में सुख चाहेगा, वही धर्म-साधन करानेवाला शास्त्र सुनेगा ।

५. उसमें श्रवण आदि बुद्धि का वैभव (बौद्धिक विशेषतायें) होना चाहिए, क्योंकि इनके बिना शिष्यपना नहीं होता । वे विशेषतायें निम्नानुसार हैं :-

(क) शुश्रूषा = सुनने की इच्छा

(ख) श्रवण = सुनना

(ग) ग्रहण = मन द्वारा जानना

(घ) धारणा = नहीं भूलना

(ङ) विज्ञान = विशेष विचार करना

(च) ऊहापोह = प्रश्नोत्तर करके निर्णय करना

(छ) तत्त्वाभिनिवेश = तत्त्व-श्रद्धान का अभिप्राय

६. वह सुखदायक, दयागुणमय,तथा अनुमान और आगम से सिद्ध धर्म को सुन कर, विचार कर, ग्रहण करनेवाला होना चाहिए, क्योंकि ऐसा ही धर्म शिष्य के लिए कार्यकारी है ।

७. वह खोटे हठ (दुराग्रह) से रहित होना चाहिए, क्योंकि हठ करके आपाथापी (अपनी ही बात की स्थापना करना) करनेवाले को सीख नहीं लगती ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- उक्त गुणों से युक्त जीव ही धर्म कथा सुनने का अधिकारी है, उसी का भला होता है।इन गुणों के बिना धर्म कथा सुनना कार्यकारी नहीं होता।

धर्माचरण की प्रेरणा

उक्त गुणों से युक्त शिष्य को होकर गुरु के उपदेश से सुख का अभिलाषी होकर धर्मोपार्जन के लिए ही प्रवर्तना चाहिए; क्योंकि ऐसा न्याय है :-

आर्या

पापाद् दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम् ।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ॥८॥

पापों से दुःख और धर्म से सुख - यह जानें सब जग-जन ।
अतः छोड़कर पाप, धर्म-आचरण करें सुख-वाञ्छक जन ॥८॥

अर्थ :- "पाप से दुःख होता है और धर्म से सुख होता है"- यह कथन समस्त लोक में प्रसिद्ध है । सभी ऐसा मानते हैं और कहते हैं । इसलिए जिसे सुख चाहिए है,उसे पाप को छोड़कर सदाकाल धर्म का आचरण करना चाहिए।

भावार्थ :- "पाप का फल दुःख और धर्म का फल सुख" - ऐसा मात्र हम ही नहीं कहते, सभी लोग कहते हैं । इसलिए यदि सुख चाहिए हो तो पाप छोड़कर धर्मकार्य करो ।

आप्त की उपासना की प्रेरणा

सभी जीव विशेष सुख की प्राप्ति के लिए धर्म को अंगीकार करते हैं- ऐसा विचार कर यथार्थ उपदेशदाता आप्त का आश्रय करना चाहिए, क्योंकि सुख की प्राप्ति का मूल कारण आप्त है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्
सद्वृत्तात् स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात् स श्रुतेः ।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यतः
तं युक्त्या सुविचार्यसर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रिये ॥९॥

सर्व कर्मक्षय से जो सम्भव वह सुख शीघ्र सभी चाहें ।
कर्मक्षय सम्यक्-चारित से, चरित ज्ञान से अवगाहें ॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगम श्रुति से, श्रुति आप्त से, आप्त रहित सब दोषों से ।
अतः युक्ति से कर विचार सत्पुरुष सुखद जिन-शरण गहें ॥९॥

अर्थ :- यह प्रत्यक्ष भासित होता है कि सभी जीव सच्चे सुख की शीघ्र प्राप्ति की अभिलाषा करते हैं। सुख की प्राप्ति सभी कर्मों का क्षय होने पर ही हो सकती है, क्योंकि सुख में बाधक कर्मों का क्षय हुए बिना सुख कैसे हो सकता है ? उन कर्मों का क्षय सम्यक्चारित्र से होता है,क्योंकि बुरे आचरण से उत्पन्न होनेवाले कर्म का नाश भले आचरण के बिना कैसे होगा ? वह सम्यक्चारित्र ज्ञान से ही होना निश्चित है, क्योंकि ज्ञान के बिना बुरे-भले आचरण का निश्चय कैसे होगा ? वह ज्ञान आगम से ही होता है क्योंकि आगम के बिना बुरे-भले का ज्ञान नहीं होता।

आगम श्रुति अर्थात् वस्तु-स्वरूप के प्रकाशक मूल उपदेश (दिव्यध्वनि) के बिना नहीं होता, क्योंकि आगम की रचना किसी का अनुसरण करने पर ही सम्भव है। श्रुति यथार्थ उपदेशदाता आप्त से ही होती है,क्योंकि उपदेशदाता के बिना उपदेश कैसे सम्भव है ? वे आप्त सर्व दोषों से रहित हैं क्योंकि आप्त दोष सहित नहीं होते। वे दोष रागादि हैं, क्योंकि राग-द्वेष, काम, क्रोध, क्षुधा, निद्रा आदि दोषों के होते हुए कोई यथार्थ उपदेश नहीं दे सकता, इसलिए ये ही दोष आप्तपने के घातक हैं। इसप्रकार क्रमानुसार व्याख्यान किया ।इसलिए सत्पुरुष युक्ति पूर्वक अच्छी तरह विचार करके सुखरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए सर्व सुखदाता आप्त का आश्रय करें।

भावार्थ :- जिसे सुख चाहिए है, वह सर्व प्रथम आप्त का निश्चय करके उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग को अंगीकार करे।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप और भेद-प्रभेद

भगवान आप्त व्दारा सत्पुरुषों को सम्यग्दर्शन- सम्यग्ज्ञान- सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप- इन चार आराधना रूप उपाय बताया गया है। उनमें प्रथम आप्त की सिद्धि करके अब सम्यक्त्व आराधना का स्वरूप बतानेवाला सूत्र कहते हैं।

शार्दूलविक्रीडित

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढं सदा,
संवेगादिविवर्धितं भवहरं त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदम् ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निश्चिन्वन् नवसप्ततत्त्वमचलप्रासादमारोहतां,
सोपानं प्रथमं विनेयविदुषामाद्येयमाराधना ॥१०॥

द्वय विध, त्रय विध, दश विध है, मूढ़ता दोष विरहित श्रद्धान ।
संवेगादि विवर्धित, भवहर, शुद्ध करे जो तीनों ज्ञान ॥
नव वा सप्त तत्त्व निश्चायक, आराधना प्रथम यह जान ।
अचल मोक्षपथगामी धीमत्[1] शिष्यों को पहला सोपान ॥१०॥

अर्थ :- आत्मा का विपरीत अभिप्राय रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है,वहअआत्मा का स्वरूप है। वह सम्यग्दर्शन निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। जो उपदेशादि बाह्य निमित्तों के बिना होता है, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो उपदेशादि बाह्य निमित्तों से होता है, उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अथवा वह सम्यग्दर्शन, तीन प्रकार का है। जो दर्शनमोह के उपशम से हो वह औपशमिक सम्यग्दर्शन है। जो दर्शनमोह के क्षय से हो वह क्षायिक सम्यग्दर्शन है और जो दर्शनमोह के क्षयोपशम से हो वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है।

अथवा वह सम्यग्दर्शन दस प्रकार का है। (आज्ञा सम्यक्त्व आदि दस भेदों का वर्णन आगामी छन्द में करेंगे।)

वह श्रद्धान,मूढ़ता आदि पच्चीस दोषों से रहित होता है। लोकमूढ़ता, समयमूढ़ता और देवमूढ़ता के भेद से मूढ़ता तीन प्रकार की होती है। जाति, कुल आदि के भेद से मद आठ प्रकार के होते हैं। मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा इनके धारक जीव - इसप्रकार छह अनायतन होते हैं। अथवा असर्वज्ञ, असर्वज्ञ का स्थान, असर्वज्ञ का ज्ञान, असर्वज्ञ के ज्ञानयुक्त पुरुष, असर्वज्ञ का आचरण और असर्वज्ञ के आचरण सहित पुरुष - इसप्रकार ये छह अनायतन हैं। ये सम्यक्त्व के स्थान नहीं हैं इसलिए इन्हें अनायतन कहते हैं। तथा शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और मूढ़दृष्टि - इन चार दोषों का सदभाव और उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य तथा प्रभावना - इन चार गुणों का अभाव - इसप्रकार आठ दोषों से रहित सम्यग्दर्शन होता है।

---

१. बुद्धिमान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार तीन मूढ़ता, छह अनायतन, आठ मद, और शंकादि आठ दोष - इन पच्चीस दोषों से रहित श्रद्धान ही निर्मल श्रद्धान है, क्योंकि इन दोषों के होने पर सम्यक्त्व का अभाव ही होता है अत: सम्यक्त्व मलिन कैसे होगा ?[1]

वह श्रद्धान संवेगादि गुणों के द्वारा उत्पन्न निर्मलता से वृद्धिंगत होता है, अथवा इस श्रद्धान के द्वारा संवेगादि गुण बढ़ते हैं। संसार से भयभीत होना अथवा धर्म और धर्म के फल को देखकर हर्षित होना संवेग है। 'आदि' शब्द से निंदा गर्हा आदि जानना चाहिए।

वह श्रद्धान, संसार का नाश करनेवाला और कुमति, कुश्रुत तथा विभंगावधि - इन तीन अज्ञानों को शुद्ध करनेवाला है। जो ज्ञान सम्यक्त्व के पहले कुज्ञानरूप थे, वे ही ज्ञान सम्यक्त्व के होने पर सुज्ञान हो जाते हैं।

वह श्रद्धान जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप - इन नव तत्त्वों का अथवा पुण्य-पाप को आस्रव में गर्भित करके सात तत्त्वों का निश्चय करता है।

मोक्षरूपी मन्दिर में चढ़नेवाले पण्डित और बुद्धिमान शिष्यों के लिए वह श्रद्धान प्रथम सीढ़ी है। उस मोक्ष-मन्दिर से जीव कभी च्युत नहीं होता। ऐसे सम्यक्त्व के होने के बाद ही अन्य साधन होते हैं। यह सम्यक्त्व चार आराधनाओं में सर्वप्रथम आराधना है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन का कथन किया।

भावार्थ :- उक्त प्रकार से श्रद्धान का स्वरूप और महिमा जानकर उसे अंगीकार करना चाहिए। जिसप्रकार कीचड़ जल के नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है, उसीप्रकार औपशमिक सम्यक्त्व को निर्मल जानना चाहिए। क्षायिक सम्यक्त्व को हरितमणि के समान सर्वथा निर्मल जानना चाहिए। तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को ऊगते सूर्य के समान दर्शनमोह से सम्बन्धित कुछ रागरूपी मल सहित जानना चाहिए।

सम्यक्त्व के आज्ञा आदि दस भेद

अब निम्न सूत्र में आज्ञा आदि दस प्रकार के सम्यक्त्व के नाम कहते हैं :-

आर्या

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥११॥

---

१. सम्यक्त्व मलिन होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि इन दोषों के होने पर उसका अभाव ही हो जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आज्ञा, मार्ग, सूत्र, उपदेश और संक्षेप, बीज-उत्पन्न ।
अर्थज विस्तारज अवगाढ़ परम-अवगाढ़ कहा सम्यक्त्व ॥११॥

अर्थ :- आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार और अर्थ से उत्पन्न होने के कारण आठ भेद होते हैं तथा प्रारम्भ में अव और परमाव विशेषणयुक्त गाढ़पना होने से अवगाढ़ और परमावगाढ़ - ये दो भेद मिलाकर सम्यक्त्व के कुल दस भेद जानना चाहिए।

भावार्थ :- हेय, उपादेय तत्त्वों में विपरीत अभिप्राय रहित (श्रद्धानरूप) सम्यक्त्व तो एक ही प्रकार का है। आज्ञा आदि आठ कारणों से उत्पन्न होने की अपेक्षा उसके आठ भेद किये गये हैं। ज्ञान की प्रकर्षता सहित होने की विशेषता की अपेक्षा अवगाढ़ और परमावगाढ़ ये दो भेद किये गये है। इसप्रकार सम्यक्त्व के दस भेद जानना चाहिए।

आज्ञा मार्ग और उपदेश सम्यक्त्व का स्वरूप

उक्त आज्ञा सम्यक्त्व आदि का स्वरूप निम्न तीन छन्दों में कहा गया है :-

स्रग्धरा

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञायैव
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः ।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता,
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥१२॥

वीतराग की आज्ञा से जो रुचि हो वह ***आज्ञा*** *सम्यक्त्व ।*
मोह शान्ति से, ग्रन्थ प्रपञ्च बिना जाने हो ***मार्ग*** *सम्यक्त्व -*
बाह्यान्तर परिग्रह विहीन शिवपथ की श्रद्धा से होता ।
उत्तम पुरुष पुराण श्रवण से समकित है ***उपदेश*** *कहा ॥१२॥*

अर्थ :- हे भव्य ! शास्त्र - पठन के बिना वीतराग की आज्ञा से अर्थात् वचन सुनने मात्र से होनेवाले श्रद्धान को **आज्ञा सम्यक्त्व** कहते हैं।

विस्तृत ग्रन्थों को सुने बिना, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित कल्याणकारी मोक्ष-मार्ग की श्रद्धा से दर्शनमोह उपशान्त होने के कारण होनेवाले सम्यक्त्व को **मार्ग सम्यक्त्व** कहते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तीर्थंकरादिक उत्कृष्ट पुरुषों के पुराण के उपदेश से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्ज्ञान द्वारा जो पुरुष आगम-समुद्र में प्रवीण है; उनके उपदेश से होनेवाली दृष्टि को **उपदेश सम्यक्त्व** कहते हैं।

सूत्र, बीज और संक्षेप सम्यक्त्व का स्वरूप

स्रग्धरा

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः ।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद् बीजदृष्टिः पदार्थान्
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥१३॥

*मुनि-आचरण प्ररूपक शास्त्र-श्रवण करने से **सूत्र** श्रद्धान ।*
दुर्गम अर्थ युक्त बीजों के ज्ञान मात्र से होता जान,
*कहा **बीज** सम्यक्त्व इसे यह हो दर्शन-मोहोपशम से ।*
*है समकित **संक्षेप**, वस्तु का ज्ञानमात्र संक्षेप लसे ॥१३॥*

अर्थ :- मुनियों के आचरण के विधान का प्रतिपादन करनेवाले आचार सूत्रों को सुनने से उत्पन्न होनेवाला श्रद्धान **सूत्र सम्यक्त्व** कहलाता है। जो यह श्रद्धान करता है, उसे भले प्रकार सूत्रदृष्टिवाला कहा जाता है।

गणितज्ञान के कारणभूत बीजों की उपलब्धि अर्थात् श्रद्धानरूप परिणति को **बीज सम्यक्त्व** कहते हैं। यह श्रद्धान दर्शनमोह के उपशम से होता है। इसके द्वारा जिनका जानना अत्यन्त कठिन है - ऐसे पदार्थों के समूह का ज्ञान होता है। इस ज्ञान से युक्त करणानुयोग के ज्ञानी भव्य जीव को बीजदृष्टि होती है। पदार्थों को संक्षिप्त रूप से जानने से होनेवाले श्रद्धान को **संक्षेप सम्यक्त्व** कहते हैं। इस श्रद्धानयुक्त जीव को भले प्रकार संक्षेपदृष्टि होती है।

विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ सम्यक्त्व का स्वरूप

स्रग्धरा

यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं,
संजातार्थात् कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः ।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढः,
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥१४॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

*द्वादशांग सुनकर रुचि होती कहें इसें समकित **विस्तार** ।*
*वचन बिना ही किसी अर्थ से हो वह श्रद्धा समकित **अर्थ** ॥*
*द्वादशांग अरु अंगबाह्य के ज्ञान सहित जानो **अवगाढ़** ।*
*केवलज्ञान सहित जो रुचि है जिनवर कहें **परम-अवगाढ़** ॥१४॥*

अर्थ :- हे भव्य ! तू द्वादशांगरूप वाणी को सुनकर होनेवाली रुचि को **विस्तार सम्यक्त्व** जान। ऐसी रुचिवाले जीव को विस्तारदृष्टि कहते हैं।

जैन शास्त्रों के वचनों के बिना किसी अर्थ के निमित्त से होनेवाली दृष्टि अर्थदृष्टि है। इसे ही **अर्थ सम्यक्त्व** जानना चाहिए।

अंग और अंगबाह्य सहित जैन शास्त्रों में अवगाहन करने से उत्पन्न होनेवाली दृष्टि अवगाढ़ दृष्टि है। इसी को **अवगाढ़ सम्यक्त्व** जानना चाहिए।

केवलज्ञान द्वारा जाने गये पदार्थों का श्रद्धान परमावगाढ़ दृष्टि के नाम से प्रसिद्ध है। इसी को **परमावगाढ़ सम्यक्त्व** जानना चाहिए।

इसप्रकार सम्यक्त्व के दस भेदों का स्वरूप कहा।

भावार्थ :- यहाँ सम्यक्त्व के दश भेद कहे हैं। जो श्रद्धान वीतराग के वचनों से ही उत्पन्न हो, वह **आज्ञा** सम्यक्त्व है। जो मोक्षमार्ग ही के श्रद्धान से उत्पन्न हो, वह **मार्ग** सम्यक्त्व है। उत्तम पुरुषों के पुराण आदि सुनने से उत्पन्न होनेवाला श्रद्धान **उपदेश** सम्यक्त्व है। मुनियों के आचरण सुनने से उत्पन्न होनेवाला श्रद्धान **सूत्र** सम्यक्त्व है। बीजगणित आदि के द्वारा करणानुयोग के निमित्त से होनेवाला श्रद्धान **बीज** सम्यक्त्व है। संक्षेपरूप से पदार्थों का स्वरूप सुनकर होनेवाला श्रद्धान **संक्षेप** सम्यक्त्व है। द्वादशांग को सुनकर होनेवाला श्रद्धान **विस्तार** सम्यक्त्व है। किसी दृष्टांत आदिरूप पदार्थ से होनेवाला श्रद्धान **अर्थ** सम्यक्त्व है। श्रुतकेवली को होनेवाला श्रद्धान **अवगाढ़** सम्यक्त्व है। केवलज्ञानी को होनेवाला श्रद्धान **परमावगाढ़** सम्यक्त्व है। इसप्रकार एक सम्यक्त्व के अन्य निमित्तों की अपेक्षा दस भेद जानना चाहिए।

सम्यग्दर्शन से ही मंदकषाय, शास्त्रज्ञान, चारित्र और तप की पूज्यता

चार प्रकार की आराधना में सम्यक्त्व आराधना पहले क्यों की जाती है? इस प्रश्न का उत्तर निम्न छन्द में देते हैं :-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आर्या

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः ।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥१५॥

प्रशम, ज्ञान, चारित्र और तप पाषाणों के भार समान ।
किन्तु यदि सम्यक्त्व सहित तो मणीवत् गौरववान ॥१५॥

अर्थ :- पुरुष अर्थात् आत्मा का मन्दकषाय रूप उपशम परिणाम, शास्त्राभ्यास रूप ज्ञान, पापों के त्याग रूप चारित्र और अनशनादि रूप तप का महत्ता पत्थर के बोझ समान है अर्थात् विशेष फलदायक नहीं है। किन्तु ये सब यदि सम्यक्त्व सहित हो तो महामणि के गुरुत्व के समान पूज्यनीय हैं, अर्थात् बहुत फल के दाता हैं और महिमा योग्य हैं।

भावार्थ :- जिसप्रकार पाषाण और मणि की एक ही जाति है, परन्तु कान्ति की विशेषता के कारण अधिक भारवाला होने पर भी पाषाण की महिमा नहीं की जाती तथा अल्प भार युक्त होने पर भी मणि की विशेष महिमा की जाती है; उसीप्रकार मिथ्यात्व और सम्यक्त्व सहित क्रियाओं की जाति एक होने पर भी अभिप्राय की विशेषता के कारण मिथ्यात्व सहित क्रिया का बहुत भार वहन करने पर भी उसकी कोई महिमा नहीं होती और सम्यक्त्व सहित क्रिया का किंचित भार वहन करने पर भी उसकी बहुत महिमा होती है।

सुकुमार (सरल) क्रिया करने का उपदेश

आगामी छन्द में सम्यक्त्व की आराधना करनेवाले आराधक का स्वरूप कहकर उसका भय दूर करते हैं।

आर्या

मिथ्यात्वातंकवतो हिताहितप्राप्त्यनाप्तिमुग्धस्य।
वालस्येव तवेयं सुकुमारैव क्रिया क्रियते ॥१६॥

मिथ्यात्वरूप आतंकयुक्त है प्राप्ति-अप्राप्ति हिताहित मूढ़ ।
तू बालकवत् अतः तुझे सुकुमार क्रिया कहता सुन मूढ़ ॥१६॥

अर्थ :- तू मिथ्यात्वरूपी महारोग से युक्त और हित-अहित की प्राप्ति-अप्राप्ति में बालक के समान नासमझ है, इसलिए तुझे यह सरल क्रिया ही करने योग्य है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- हे शिष्य ! जैसे हित-अहित को न जाननेवाले रोगी बालक के रोग का प्रतिकार कोमलता से किया जाता है; उसीप्रकार हम तुझे भी कोमल धर्म-साधन का उपदेश देते हैं, क्योंकि तू मिथ्यात्वरूपी रोग सहित और हित-अहित को नहीं पहचाननेवाले अज्ञानी बालक के समान है।

यहाँ यह आशय है कि जैसे जो पुष्ट होता है, तथा हित की प्राप्ति और अहित के नाश करने का अभिलाषी होता है तथा बड़ी आयुवाला होता है, वह तो कठोर साधन भी कर सकता है,लेकिन जिसमें उक्त तीनों विशेषतायें न हों तो वह जैसा साधन कर सके उसे वैसा ही साधन बताया जाता है। उसीप्रकार जो श्रद्धावन्त हो, मोक्ष की प्राप्ति और बन्ध के नाश का इच्छुक हो तथा बड़ी पदवी का धारक हो तो वह कठिन धर्म का साधन भी कर सकता है,लेकिन तुझमें ये तीनों विशेषतायें नहीं हैं, इसलिए तुझसे जिसका साधन होना सम्भव है ऐसे सम्यक्त्वादिरूप कोमल धर्म का साधन तुझे बताते हैं।

अणुव्रत ग्रहण करने की प्रेरणा

अब आचार्य चारित्र आराधना के अनुक्रम के वर्णन का विचार करते हुए आराधक के योग्य सुगम अणुव्रतरूप चारित्र की आराधना का वर्णन निम्न छन्द में करते हैं :-

आर्या

विषयविषमाशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य ।
निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥१७॥

विषम विषय-भोजन से उत्थित मोह ज्वरज अति तृष्णा ताप ।
शक्तिहीन तेरा शीतल पेयों से मिट जाए संताप ॥१७॥

अर्थ :- तू विषयरूपी विषम भोजन से उत्पन्न मोहरूपी ज्वर से पैदा होनेवाली तीव्र तृष्णा के कारण शक्तिहीन हो गया है, अतः तुझे अनुक्रम से पेय आदि का ग्रहण ही कल्याणकारी है।

भावार्थ :- जैसे किसी को प्रतिकूल भोजन से उत्पन्न ज्वर के कारण बहुत प्यास लगती है और वह कमजोर हो जाता है तो उसे पेय पदार्थों के भोजन का अनुक्रम ही लाभदायक होता है। यदि वह गरिष्ठ भोजन करेगा तो उसे पचेगा नहीं, और इससे उसका रोग ही बढ़ेगा। उसीप्रकार हे शिष्य ! तुझे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विषय-वासना से उत्पन्न मोह के कारण परवस्तु की तृष्णा हुई है और जिससे तेरी आत्मशक्ति घट गई है, इसलिए तुझे अणुव्रतरूप साधन का अनुक्रम ही लाभदायक है। यदि तू मुनिपद ग्रहण करे और वह तुझसे न सधे,तब तो तेरा संसार ही बढ़ेगा। यहाँ यह आशय है कि जब तक अन्तरंग में राग परिणाम रहे तब तक अनुक्रम से थोड़ा-थोड़ा साधन करके धर्मवृद्धि करना चाहिए।

संसार के सभी प्राणियों को धर्म करने का उपदेश

उस चारित्र की आराधना का प्रारम्भ किसे करना योग्य है - इस प्रश्न का उत्तर निम्न छन्द में देते हैं :-

आर्या

सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्मएव तव कार्यः।
सुखितस्य तदभिवृद्ध्यै दुःखभुजस्तदुपघाताय ॥१८॥

तू जग में हो सुखी या दुःखी, मात्र धर्म ही है कर्त्तव्य ।
सुख की वृद्धि हेतु और दुःख नाश हेतु जानो हे भव्य ! ॥१८॥

अर्थ :- (हे जीव !) तू संसार में सुखी हो या दुःखी, तुझे धर्म ही करना योग्य है। जो सुखी है, उसे सुख बढ़ाने के लिए और जो दुःखी है उसे दुःख का नाश करने के लिए धर्म ही करना चाहिए।

भावार्थ :- जिसके पास पूँजी है, उसे भी धन कमाना चाहिए और जिसके ऊपर कर्ज है, उसे भी धन कमाना चाहिए। यदि पूँजीवाला व्यक्ति धन कमायेगा तो पूँजी की वृद्धि होगी और ऋणी व्यक्ति धन कमायेगा तो कर्ज का नाश होगा। इसीप्रकार जो पुण्य के उदय से सुखी है, उसे भी धर्म ही करना योग्य है और जो पाप के उदय से दुःखी है उसे भी धर्म करना योग्य है। सुखी व्यक्ति धर्म करेगा तो सुख बढ़ेगा और दुःखी व्यक्ति धर्म करेगा तो दुःख का नाश होगा। इसलिए सभी अवस्थाओं में धर्म-साधन ही श्रेष्ठ है - यह तात्पर्य जानना चाहिए।

विषय सुख भोगते हुए भी धर्म की रक्षा करने की प्रेरणा

विषय सुख भी धर्म का ही फल है, इसलिए व्यक्ति को धर्म की रक्षा करते हुए विषयसुख भोगना चाहिए[१]। यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

---

१. विषय-सुख भोगते हुए धर्म को नहीं भूलना चाहिए

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आर्या

धर्मारामतरूणां फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि ।
संरक्ष्य तांस्ततस्तान्युच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम् ॥१९॥

धर्मरूप उपवन-तरु में विषयेन्द्रिय सुख ये फलें सभी ।
सब उपाय से उसकी रक्षा करो और फल चुनो सभी ॥१९॥

अर्थ :- समस्त इन्द्रिय-विषयों के सुख धर्मरूपी बाग के सम्यक्त्व और संयमादिक वृक्षों के फल हैं । इसलिए तू किसी भी उपाय से उन वृक्षों को सुरक्षित रखकर उनके फल को ग्रहण कर ।

भावार्थ :- जिसप्रकार समझदार पुरुष बाग में लगे हुए अच्छे फल देनेवाले वृक्षों की रक्षा करता हुआ उनके फल को ग्रहण करता है; उसीप्रकार हे शिष्य ! तू जिस धर्म के अंगों का फल सुखरूप है, उस धर्म के अंगों की रक्षा करते हुए उससे उत्पन्न होनेवाले सुख को भोग ! ऐसा करने पर ही सुख का नाश नहीं होगा अर्थात हमेशाा सुख प्राप्त होता रहेगा ।

धर्माचरण से सुख भंग होने के भय का निराकरण

विषय-सुख की प्राप्ति के लिए धर्म का आचरण करने पर विषय-सुख का अभाव हो जाता है[१] - ऐसी आशंका करके धर्म से विमुख नहीं होना चाहिए - यह बात आगामी छन्द में तर्क पूर्वक कहते हैं ।

आर्या

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विराधकः स्वकार्यस्य ।
तस्मात् सुखभंगभिया मा भूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥२०॥

सुख का कारण धर्म कहा, निज कार्य विराधे नहीं कभी ।
इसीलिए सुख-भंग भीति कर, धर्म-विमुख होना न कभी ॥२०॥

अर्थ :- धर्म सुख का कारण है और जो सुख का कारण होता है, वह अपने कार्य का विरोधी नहीं होता, इसलिए तू सुख-भंग होने का भय करके धर्म से विमुख मत हो ।

भावार्थ :- लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि जो जिस कार्य का कारण

१. धर्माचरण करने पर विषयसुख छूट जायेंगे ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होता है, वह उस कार्य का विरोधी अर्थात् नाश करनेवाला नहीं होता। यहाँ सुख कार्य है और धर्म कारण है, तो धर्म सुख का नाश कैसे करेगा ? क्योंकि सुख तो धर्म का फल है, अतः धर्म अपने फल का घात कैसे करेगा ? इसलिए धर्म-साधन करने पर मेरे सुख में बाधा उत्पन्न होगी - ऐसे भय से धर्म का अनादर मत कर। कारण से कार्य की वृद्धि होती है, इसलिए धर्म-साधन करने पर सुख की वृद्धि ही होगी - ऐसा निश्चय करके धर्म में प्रीति करना योग्य है।

कृषक के उदाहरण से धर्म रक्षा की प्रेरणा

इसी आशय को आगामी सूत्र में दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं :-

आर्या

धर्मादवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥२१॥

जैसे बीज सुरक्षित रखकर, कृषक भोगता है धन-धान्य ।
वैसे धर्म सुरक्षित रखकर, धर्मज सुख भोगो सब जन ॥२१॥[१]

अर्थ :- जिसप्रकार बीज से अन्न प्राप्त करनेवाला किसान उस अन्न के बीज को सुरक्षित रखता है, उसीप्रकार जिस जीव ने धर्म से सुख-सम्पत्ति रूप वैभव प्राप्त किया है, उसे धर्म का पालन करते हुए भोग भोगना चाहिए।

भावार्थ :- जिसप्रकार बीज बोने पर ही अन्न उत्पन्न होता है; बीज बोये बिना कठिन परिश्रम करने पर भी अन्न उत्पन्न नहीं होता, अतः चतुर किसान विचार करता है - "मुझे बीज से अन्न की प्राप्ति हुई है इसलिए बीज को सुरक्षित रखने पर आगे भी अन्न की प्राप्ति होगी, अतः बीज को सुरक्षित रखकर ही अन्न को भोगना चाहिए"[१] ; उसीप्रकार सुख की प्राप्ति धर्म करने पर ही होती है; धर्म किये बिना कठिन परिश्रम करने पर भी सुख प्राप्त नहीं होता। हे शिष्य ! तू समझदार है अतः विचार कर - "मुझे धर्म के फल से ही सुख प्राप्त हुआ है इसलिए वर्तमान में भी धर्म-साधन करने से ही भविष्य में सुख प्राप्त होगा, अतः धर्म को सुरक्षित रखकर सुख भोगना चाहिए" - इसप्रकार विचार करके जिस तरह धर्म सुरक्षित रहे, उस तरह पुण्य के उदय से उत्पन्न होनेवाले सुख को भोगना चाहिए।

---

१. *बीज राख फल भोगवै, ज्यों किसान जग माँहि।*
त्यों चक्री नृप सुख करै, धर्म विसारे नांहिं ॥ **(वैराग्य भावना : पण्डित भूधरदासजी)**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्म का फल बिना मांगे ही

धर्म से कैसा फल मिलता है - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥२२॥

कल्पवृक्ष अरु चिन्तामणि संकल्पित चिन्तित फल देते ।
किन्तु धर्म से बिन संकल्प बिना चिन्तन ही फल होते ॥२२॥[1]

अर्थ :- कल्पवृक्ष का फल तो संकल्प योग्य वचनों से याचना करने पर मिलता है और चिन्तामणि का फल भी चिन्तवन योग्य मन द्वारा याचना करने पर मिलता है, परन्तु धर्म से ऐसा अद्भुत फल मिलता है, जो संकल्प और चिन्त्वन योग्य नहीं है; अर्थात उसकी प्राप्ति के लिए संकल्प या चिन्तवन की आवश्यकता नहीं है।

भावार्थ :- लोक में कल्पवृक्ष और चिन्तामणि को उत्तम फलदायक कहा गया है, परन्तु वे तो वचन और मन से याचना करने पर किञ्चित विषय-सामग्रीरूप फल देते हैं लेकिन धर्म तो वचन और मन से भी अगोचर अद्भुत सुखरूप मोक्ष फल को देता है। इसलिए धर्म की प्राप्ति को कल्पवृक्ष और चिन्तामणि से भी उत्तम जानकर उसके साधन में तत्पर रहना चाहिए।

आत्मा के परिणामों से ही पुण्य और पाप की उत्पत्ति

ऐसा धर्म किस प्रकार उत्पन्न होता है ? इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

आर्या

परिणाममेव कारणमाहु: खलु: पुण्यपापयो प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२३॥

पुण्य-पाप सब परिणामों से होता है कहते बुधजन ।
अतः सुविधि से पाप-क्षय अरु पुण्यार्जन करना सब जन ॥२३॥

---

१. जाचे सुरतरु देय सुख चिन्तत चिन्ता रैन।
बिन जाचे बिन चिन्तये धर्म सकल सुख दैन॥ (धर्म भावना : पण्डित भूधरदासजी)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- बुद्धिमान पुरुष निश्चय से आत्मा के परिणाम (भावों) को ही पुण्य-पाप का कारण कहते हैं, इसलिए भले प्रकार से पाप का नाश और पुण्य का संचय करना चाहिए।

भावार्थ :- कुछ लोग शरीर की सामर्थ्य न होने पर, कुछ लोग धनादिक न होने पर और कुछ लोग अन्य सहायक न होने पर धर्म-साधन नहीं हो सकता - ऐसा मानते हैं, परन्तु यह उनका भ्रम है। तुम पर को दोष देकर उपदेश को निरर्थक मत करो। सुनो ! पुण्य और पाप का कारण परिणाम ही है, क्योंकि दूसरों के द्वारा पुण्य-पाप उत्पन्न नहीं होते, अपने ही परिणामों से पुण्य-पाप उत्पन्न होते हैं। इसलिए तुम्हें अशुभ परिणाम छोड़कर पाप का नाश और शुभ परिणाम करके पुण्य का संचय करना चाहिए।

धर्म संचय न करनेवालों की निन्दा

जो जीव धर्म का संचय न करते हुए विषय सुखों को भोगते हैं, उनकी निन्दा आगामी छन्द में करते हैं :-

आर्या

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात् ।
आच्छिद्य तरून्मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः ॥२४॥

धर्मघात करके जो मोही, अनुभव करें विषय-सुख का ।
मूल सहित छेदन कर तरु का, पापी ग्रहण करें फल का ॥२४॥

अर्थ :- जो जीव मोह या भ्रम के कारण धर्म का घात करते हुए विषय-सुख को भोगते हैं, वे पापी वृक्ष को मूल से उखाड़ कर फलों को ग्रहण करते हैं।

भावार्थ :- जिसप्रकार कोई पापी फल को ही चाहता है, परन्तु रौद्र भावों से वृक्ष को जड़ से उखाड़ कर जो फल हाथ लगें, उन्हें ग्रहण करता है; उसीप्रकार मोही जीव सुख को ही चाहता है, परन्तु पाप बुद्धि से धर्म का घात करके जो सुख उदय में आए, उसे ही भोगता है।

यहाँ ऐसा समझना कि जिसप्रकार वृक्ष को काटें या रखें, फल तो जितना होता है उतना ही हाथ लगता है, लेकिन वृक्ष को काटने से भविष्य में फल की प्राप्ति नहीं होगी, भविष्य में फल की प्राप्ति वृक्ष को रखने से होगी; उसीप्रकार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्म को रखे या उसका घात करें, जितना पुण्य का उदय होगा उतना सुख होगा। धर्म का घात करने से भविष्य में सुख की प्राप्ति नहीं होगी, धर्म करने से ही भविष्य में सुख की प्राप्ति होगी।

प्रश्न :- धर्म का घात करके सुख भोगना क्या है ? और धर्म को रखकर सुख भोगना क्या है ?

उत्तर :- धर्म के प्रसंग में भी पापरूप रहना (पाप कार्यों में प्रवृत्ति करना तथा पापरूप भाव रखना) अन्यायरूप पाप कार्य करना, उपलब्ध विषयों से अधिक विषयों की तृष्णा करना, कषाय-परिणाम तीव्र रखना - इत्यादि प्रवृत्तियों सहित विषय-सुख भोगना ही धर्म का घात करके सुख भोगना है।

धर्म के प्रसंग में धर्म-साधन करना, अन्याय रूप पाप कार्य नहीं करना, उपलब्ध विषयों में ही सन्तुष्ट रहना, बहुत कषाय नहीं करना - इत्यादि प्रवृत्ति सहित किञ्चित् विषय-सुख भोगना ही धर्म रखकर सुख भोगना है।

जहाँ कषाय ही नहीं होती, वहाँ विषय-सामग्री का त्याग करने पर, दुःख-सामग्री मिलने पर भी जीव निराकुल रहता है - यह परमार्थ धर्म को रखकर परमार्थ सुख का भोगना है।

विषय सुख भोगते हुए भी धर्मोपार्जन सम्भव है

यहाँ तर्क है कि विषय-सुख भोगते हुए धर्मोपार्जन करना सम्भव नहीं है, इसलिए उक्त उपदेश छिपाने योग्य है, कहने योग्य नहीं। आगामी छन्द में इस तर्क का समाधान करते हैं :-

आर्या

कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतैः स्मरणचरणवचनेषु ।
यः सर्वथाभिगम्यः स कथं धर्मो न संग्राह्यः ॥२५॥

कृत-कारित-अनुमोदन द्वारा अन्तःकरण-वचन-तन से
करने योग्य सर्वथा है फिर धर्म ग्राह्य नहिं हो कैसे ? ॥२५॥

अर्थ :- जो धर्म कृत, कारित, अनुमोदना के साथ मन, वचन, काय के द्वारा सर्व प्रकार से प्राप्त करने योग्य है, उसका संग्रह क्यो नहीं करना चाहिए

शब्दार्थ :- कृत = कर्त्तापना, कारित = कार्य के हेतुओं (कारणों) का कर्त्तापना, अनुमोदन = कर्त्ता के अनुसार अभिप्राय रखना। स्मरण = मन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विचार करना, वचन = भाषारूप वचन बोलना, आचरण = काया द्वारा अंगीकार करना।

भावार्थ :- यदि धर्म एक ही प्रकार का होता[1] तो समस्त विषयों का त्याग करने पर ही धर्म होता; परन्तु जब तक समस्त विषयों का त्याग सम्भव न हो सके, तब तक अनेक प्रकार से थोड़े-थोड़े धर्म का ही संचय करना चाहिए[2]।

जिसप्रकार अनेक प्रकार के व्यापार से धन-संचय किया जाता है, उसीप्रकार अनेक प्रकार के धर्म-साधनों से धर्म का संचय करना चाहिए। धर्म का संचय नौ प्रकार से होता है। मन से धर्म करना, कराना और अनुमोदना करना; वचन से धर्म करना, कराना और अनुमोदना करना तथा काया से धर्म करना, कराना और अनुमोदना करना।

धर्म के अनेक अंग हैं, उनमें जो धर्म करना संभव हो, वही धर्म करना चाहिए। एक अंग भी थोड़ा बहुत जितना बने, उतना ही करना चाहिए। इसप्रकार सभी प्रकार से धर्म का संचय होता है, अतः तू कठिनाई बताकर धर्म कार्य में निरुद्यमी (आलसी) रहना चाहता है,लेकिन जिसप्रकार आलसी व्यक्ति दरिद्री होकर दुःख प्राप्त करता है उसीप्रकार तू भी पुण्यहीन होकर नरकादि में दुःख प्राप्त करेगा। इसलिए धर्म का संग्रह करना ही योग्य है।

धर्म का फल

जीवों के चित्त में धर्म होने पर क्या फल होता है और न होने पर क्या फल होता है - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

वसन्ततिलका

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावत्,
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्।
दृष्टा परस्पर हतिर्जनकात्मजानां
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव ॥२६॥

देखो ! जिसके मन में रहता, भले प्रकार धर्म का वास।
अपने प्राण-हरण करने वाले का भी न करे वह घात ॥

---

१. यद्यपि परमार्थ से धर्म एक वीतरागभाव रूप है तथापि चारित्र की अनेक भूमिकाओं की अपेक्षा धर्म के अनेक भेद कहे गए हैं। २. विषयों का थोड़ा-थोड़ा त्याग करना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किन्तु धर्म बिन पिता-पुत्र भी हरें परस्पर प्राणों को ।
अतः धर्म ही सब जीवों का एकमात्र रक्षक जानो ॥२६॥

अर्थ :- हे शिष्य ! तू देख, जब तक मन में धर्म रहता है, तब तक यह जीव अपने घात करनेवाले का भी घात नहीं करता; तथा मन में धर्म न होने पर पिता-पुत्र में भी परस्पर घात क्रिया देखी जाती है । इसलिए यह बात प्रत्यक्ष है कि इस जगत की रक्षा धर्म से ही है ।

भावार्थ :- धर्मबुद्धि होने पर कोई किसी को नहीं मारता और धर्मबुद्धि न हो तो लोग एक दूसरे को मारते हैं, क्योंकि बलवान निर्बल को मारता है और उससे भी बलवान उसे मारता है । इसप्रकार सर्वलोक नष्ट हो जायेगा, परन्तु लोक में धर्म की प्रवृत्ति सहज है, इसलिए जीवों के परस्पर रक्षा करने के परिणाम भी होते हैं । तिर्यंचादिक भी बिना प्रयोजन छोटे जीवों को मारते हुए नहीं देखे जाते । इसलिए धर्म ही लोक का रक्षक है । जो धर्म लोक का रक्षक है, वह अपने साधनेवाले का रक्षक कैसे न होगा ? इसलिए धर्म को ही अपना भी रक्षक जानकर उसका सेवन करना चाहिए ।

धर्म का घात करने से पाप होता है

यहाँ प्रश्न है कि विषय-सुख को भोगते हुए प्राणियों को पाप का उपार्जन होता है, अतः उन्हें धर्म कैसे होगा - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में देते हैं :-

आर्या

न सुखानुभवात् पापं पापं तद्धेतुघातकारम्भात् ।
नाजीर्णं मिष्टान्नान्ननु तन्मात्राद्यतिक्रमणात् ॥२७॥

पाप नहीं सुख-भोग मात्र से, धर्म-घात से होता पाप ।
नहिं अजीर्ण मिष्टान्न-ग्रहण से, अति भोजन से अपने आप ॥२७॥

अर्थ :- जिसप्रकार मिष्टान्न भोजन से अजीर्ण नहीं होता, उसकी मात्रा के उल्लंघन से अजीर्ण होता है; उसीप्रकार सुख भोगने में पाप नहीं है, सुख के कारणभूत धर्म का घात करनेवाले कार्यों का आरम्भ करने से पाप होता है ।

भावार्थ :- जिसप्रकार मिष्ट भोजन अजीर्ण का कारण नहीं है, आसक्ति वश अधिक भोजन करना अजीर्ण का कारण है, उसीप्रकार विषय-सेवन पाप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का कारण नहीं है, धर्म का घात करके कषायों की तीव्र प्रवृत्ति पाप का कारण है। इन्द्रादिक देव अथवा भोगभूमि के जीव अथवा तीर्थंकरादिक को विषय-सामग्री होती है, वे उसका सेवन भी करते हैं; परन्तु उन्हें नरकादिक के कारणभूत पाप का बन्ध नहीं होता; तन्दुल-मच्छादिक को अति तृष्णा से अथवा पर्वतादिक को मिथ्यात्व आदि से, धर्म का घात करने के कारण बहुत विषय-सेवन किए बिना ही नरकादिक के कारणभूत पाप का बन्ध होता है। इसलिए, मुझसे विषय नहीं छूटते हैं, और विषय-सेवन छूटे बिना धर्म नहीं होता - ऐसी आशंका करके धर्म में अरुचि नहीं करना चाहिए।

प्रश्न :- यदि ऐसा है तो विषयों को छोड़कर मुनिपद का ग्रहण क्यों किया जाता है ?

उत्तर :- नरक, तिर्यंच आदि गतियों के बन्ध के कारणभूत पाप का अभाव तो गृहस्थ अवस्था में ही धर्म-साधन करने से हो जाता है, परन्तु यह धर्म-साधन स्वर्ग आदि का तथा परंपरा से मोक्ष का कारण है। इसलिए जो जीव धर्मवृद्धि करके साक्षात् मोक्ष को साधना चाहते हैं, वे समस्त विषयों को छोड़कर मुनिपद अंगीकार करते हैं।

शिकारादि कार्य प्रत्यक्ष दुःख के कारण

यहाँ कोई तर्क करता है कि शिकार खेलना आदि हिंसारूप कार्य भी धर्म के समान सुख के कारण प्रसिद्ध हैं। जिसप्रकार धर्म से सुख उत्पन्न होता है, उसीप्रकार शिकार आदि कार्यों से भी सुख होता देखा जाता है, इसलिए धर्म के घातक आरम्भ से पाप की उत्पत्ति क्यों कहते हो ? क्योंकि पाप के कारणों में सुख के कारणपने का विरोध है[1] - इस आशंका का निराकरण आगामी छन्द में करते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

अप्येतन्मृगयादिकं यदि तव प्रत्यक्षदुःखास्पदं
पापैराचरितं पुरातिभयदं सौख्याय संकल्पतः ।
संकल्पं तमनुज्झितेन्द्रियसुखैरासेविते धीधनै-
र्धर्म्ये कर्मणि किं करोति न भवान् लोकद्वयश्रेयसि ॥२८॥

---

१. जो पाप का कारण है वह सुख का कारण नहीं हो सकता, फिर शिकारादि से सुख होता हुआ क्यों देखा जाता है ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यदि प्रत्यक्ष दुःखों का घर अरु पापी जन का कार्य कलाप ।
है शिकार भयदायक, उससे सौख्य हेतु उत्साह अमाप ॥
लोकद्वय में श्रेयभूत सुखयुत अरु धन-धीमानों से ।
सेवनीय जो धर्मकार्य, क्यों उनमें नहिं उत्साह बसे ॥२८॥

अर्थ :- ये शिकारादि कार्य प्रत्यक्ष ही दुःख के स्थान है पापी जीवों द्वारा किये जाते हैं, भविष्य में नरकादि में अत्यन्त भय (दुःख) उत्पन्न करनेवाले हैं । ऐसा होने पर भी तू उनसे सुख-प्राप्ति हेतू मन के उल्लासरूप संकल्प करता है, लेकिन तू ऐसा संकल्प धर्म कार्यों में क्यों नहीं करता ? कैसे हैं वे धर्म-कार्य ? जिन्हें इन्द्रियसुख की प्राप्ति हुई है, ऐसे बुद्धिरूपी धनयुक्त पुरुषों द्वारा किये जाते हैं, और इसलोक-पर-लोक में कल्याणकारी हैं ।

भावार्थ :- तू शिकारादि कार्यों को सुख का कारण मानता है, परन्तु उनमें खेद, क्लेश और विशेष आकुलता होती है, इसलिए वे प्रत्यक्ष दुःख के स्थान है, तुझे उन कार्यों को करने का उल्लास होता है, इसलिए वे तेरी मान्यता में सुख के कारण भासित होते हैं । जब दुःख के स्थान ही तेरी मान्यता में सुख के कारण भासित होते हैं तो खेद, क्लेश और आकुलता घटने से जो प्रत्यक्ष सुख के स्थान हैं ऐसे धर्म-कार्यों में यदि तू सुख माने तो वे सुख के कारण क्यों न होंगे ? यदि तू समझता है कि शिकारादि कार्य तो भोगियों द्वारा किये जाते हैं और धर्म-कार्य योगियों द्वारा किये जाते हैं, तो ऐसा नहीं है । शिकारादि कार्य तो पापी लोग ही करते हैं और धर्म-कार्यों को चक्रवर्ती आदि महाभोगी भी करते हैं । जिससे भविष्य में सुख हो - ऐसे दुःख में भी सुख मानना चाहिए । तथा शिकारादि कार्य तो नरकादि दुःख के कारण हैं । धर्म, स्वर्ग और मोक्ष-सुख का कारण है, इसलिए शिकारादि कार्य छोड़कर सुख के लिए धर्म ही अंगीकार करना चाहिए ।

शिकार आदि में आसक्ति अत्यन्त निर्दयता

आगामी सूत्र में शिकार खेलने में आसक्त जीवों की अत्यन्त निर्दयता का वर्णन करते हैं :-

अनुष्टुप्

भीतमूर्तीर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तकाः ।
दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा ॥२९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो भयमूर्ति और अशरण निर्दोष देह-धन युक्त अहो !
तृणभक्षी हिरणी को हनते, औरों की क्या बात कहो ? ॥२९॥

अर्थ :- जिनकी मूर्ति भयवान है (मुख पर भय विद्यमान है), जिनका कोई रक्षक नहीं है, जो निर्दोष हैं, मात्र शरीर ही जिनका धन है और जिनके दातों में तृण लगा है, (जो घास खाकर जीवन यापन करती हैं) ऐसी हिरणियों को भी जो मारते हैं, औरों के प्रति उनकी निर्दयता के बारे में क्या कहा जाये ?

भावार्थ :- लोक में राजा आदि समर्थ पुरुष भी भयभीत प्राणियों को नहीं मारते, उन्हें अपनी शरण में रखते हैं; जिसका कोई रक्षक न हो, उसे नहीं मारते, अनाथों की रक्षा ही करते हैं; जिसमें चोरी आदि कोई दोष नहीं है, उसे नहीं मारते, शिष्ट पुरुषों का पालन ही करते हैं; जो निर्धन होता है, उसे नहीं मारते, रंक की सहायता करते हैं; जिसके दातों में घास लगा हो (जो दीनता पूर्वक घास खाकर जीता हो) उसे नहीं मारते, उसके प्रति मान छोड़कर उसे निर्भय ही करते हैं; स्त्री को नहीं मारते, पुरुषार्थ के धारक (वीर पुरुष) स्त्री की हत्या नहीं करते । जिनमें उक्त एक-एक विशेषतायें पायी जायें, उन्हें भी मारना उचित नहीं है तो हिरणियों में तो उक्त सभी विशेषतायें पायी जाती हैं, उन्हें भी शिकार खेलनेवाले मारते हैं तो उनमें दूसरों के प्रति दया कैसे होगी ? इसलिए शिकारी पुरुषों को महानिर्दय, महापापी जानना चाहिए।

झूठ और चोरी के त्याग की प्रेरणा

हिंसा के त्यागरूप व्रत में दृढ़ता उत्पन्न करने के बाद झूठ और चोरी के त्यागरूप व्रत में दृढ़ता उत्पन्न करने हेतु आगामी छन्द कहते हैं। (उनके त्याग की प्रेरणा देते हैं)

आर्या

पैशुन्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात् ।
लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयशःसुखायार्थम् ॥३०॥

दम्भ दीनता चुगली चोरी झूठ और हत्या छोड़ो ।
धर्म अर्थ यश पुण्य और सुख उभय लोक में प्राप्त करो ॥३०॥

अर्थ :- हे भव्य ! तू दुष्टता और दीनता, कपट और चोरी, असत्य और हत्या आदि पाप कार्यों का त्याग करके दोनों लोक सम्बन्धी हित का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

उपार्जन कर ! धर्म, अर्थ, यश, सुख और पुण्य के प्रयोजन से यह कार्य कर ! इसप्रकार हम तुझे प्रेरित करते हैं ।

भावार्थ :- जो झूठ और चोरी में गर्भित हैं - ऐसे दुष्टता, दीनता, ठगपना, चौर कर्म और असत्य भाषण आदि महापापरूप पातक कार्यों का त्याग करना चाहिए। इनका त्याग इहलोक-परलोक में हितकारी है क्योंकि इनके त्याग से अणुव्रत, महाव्रतरूप धर्म होता है । लोक में विश्वास होने के कारण धनोपार्जन का निमित्त बनता है, लोक-विरूद्ध कार्य छोड़ने से यश का कारण होता है, आकुलता मिटने से अथवा सुख का कारण होने से सुखरूप होता है, साता वेदनीय आदि पुण्यबन्ध का कारण है । इसलिए हे भव्य ! तुम इहलोक और परलोक में इनके त्याग को हितकारी जानकर यह कार्य अवश्य करो ।

पुण्यशालियों को उपसर्ग भी दुःखदायक नहीं

व्रतधारियों को भी उपसर्ग या दुःख आने पर अपनी रक्षा के लिए कदाचित् हिंसा, झूठ आदि पाप हो जाते हैं - इस तर्क का समाधान आगामी छन्द में करते हैं :-

वसन्ततिलका

पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि,
नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै ।
संतापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः,
पद्मेषु पश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम् ।।३१।।

पुण्यवान को अतिशय तीव्र उपद्रव नहिं पीड़ित करता ।
जग को ताप-प्रदायक रवि भी कमलों को विकसित करता ।।३१।।

अर्थ :- हे भव्य ! तुम पुण्य करो, क्योंकि पुण्य करनेवाले को, जिसके समान दूसरा कोई न हो ऐसा उपसर्ग भी पीड़ित नहीं करता । जिसप्रकार जगत् को आताप देनेवाला सूर्य कमलों को विकासरूप लक्ष्मी प्रदान करता है, उसीप्रकार वह उपसर्ग तुझे विभूति का कारण हो जाता है ।

भावार्थ :- यद्यपि उपसर्ग दुःख का कारण है, तथापि वह पुण्यवानों को दुःख देने में समर्थ नहीं है । जिसप्रकार सूर्य औरों को आताप उत्पन्न करता है, परन्तु कमलों को प्रफुल्लित करता है उसीप्रकार जिनके पाप का उदय होता है

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उन्हें उपद्रव दुःखदायक होता है,लेकिन जिनके पुण्य का उदय है उन्हें वह विभूति देनेवाला होता है - ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है। जिस उपद्रव से सबको बहुत दुःख हो, परन्तु जिसके पुण्य का उदय होता है, उसे उस उपद्रव में ही धनादिक का लाभ हो जाता है। इसलिए **धर्मात्मा पुरुष उपसर्ग आने पर भी धर्म को छोड़कर हिंसादि पापरूप प्रवर्तन नहीं करते।**

पुण्योदय बिना पुरुषार्थ भी कार्यकारी नहीं

उपसर्ग का निवारण पुरुषार्थ से ही शत्रुओं का नाश करके सम्भव है, इसलिए पुण्य से कुछ सिद्धि नही होती - इस आशंका का समाधान आगामी सूत्र मे करते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

नेता यत्र वृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुरा सैनिकाः,
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वारणः ।
इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे,
तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ।।३२।।

जहाँ वृहस्पति सेनानायक, वज्र शस्त्र, सुर सैनिक हैं ।
स्वर्ग दुर्ग, ईश्वर का अनुग्रह, ऐरावत जिसका गज है ।।
अद्भुत बलयुत सुरपति को असुरों ने किया पराजित है ।
अतः सुनिश्चित दैव शरण, निष्फल पौरुष को धिक् धिक् है ।।३२।।

अर्थ :- वृहस्पति जिसका मन्त्री है, वज्र जिसका हथियार है, देव जिसके सैनिक है, स्वर्ग जिसका गढ़ है, हरि अर्थात् ईश्वर का अनुग्रह जिसका सहायक है, ऐरावत हाथी जिसके पास है - ऐसा आश्चर्यजनक बलवान इन्द्र भी युद्ध में दूसरों से हार गया। इससे निश्चित होता है कि दैव ही शरण सहाय है। निष्फल पुरुषार्थ को धिक्कार है, धिक्कार है।

भावार्थ :- पुरुषार्थ से दुःख का निवारण होता है - ऐसा मानकर जैसे अपना पुरुषार्थ सधे, वैसा उपाय करनेवाले जीवों से यहाँ कहते हैं कि पुरुषार्थ तो निष्फल है। पुण्य कर्म रूप दैव ही सहायक है। उसके होने पर पुरुषार्थ भी कार्यकारी होता है। उसके बिना पुरुषार्थ कुछ कार्यकारी नहीं है। यहाँ वैष्णव मत में उल्लिखित घटना का उदाहरण देते हैं कि देवताओं का इन्द्र बलवान होने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर भी युद्ध में दैत्यों द्वारा हार गया। जैन मत की अपेक्षा यह उदाहरण इसप्रकार है - इन्द्र नाम के विद्याधर ने अपने मन्त्री आदि का नाम बृहस्पति आदि रखा था। वह अत्यन्त पुरुषार्थी होने पर भी रावण से हार गया। इसलिए पुरुषार्थ को निरर्थक[१] जानकर, पुण्य कर्म को ही कार्यकारी जानकर पुण्य का साधन करना चाहिए।

हिंसादिक के त्यागी सत्पुरुष आज भी हैं

उक्त हिंसादिक का त्याग वर्तमान में नहीं दिखता, वैसा आचरण करनेवाले असंभव भासित होते हैं, इसलिए भूतकाल में हुए त्यागियों की कथा मात्र ही सुनने में आती है - ऐसा तर्क करनेवाले पुरुष को आगामी छन्द में उत्तर देते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

भर्तार: कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं,
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः ।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभो विभुतया विश्वस्य विश्रान्तये,
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोऽप्यमी ।।३३।।

जैसे पर्वत मोह रहित हैं, फिर भी पृथ्वी के भरतार[२] ।
रत्नों से हैं भरे पयोनिधि, किन्तु उन्हें नहिं धन की चाह ।।
रहें गगनवत् अस्पर्शी सब वस्तु करें उसमें विश्राम ।
धर्म सनातन पालनकर्ता सन्त आज भी बसें महान ।।३३।।

अर्थ :- चिरकालवर्ती महामुनियों के मार्ग पर चलनेवाले शिष्य आज भी प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। वे सत्पुरुष, कुलाचल (पर्वत) के समान पृथ्वी के स्वामी हैं। जिसप्रकार पर्वत पृथ्वी को धारण करता है परन्तु उसके प्रति मोह से रहित होता है, उसीप्रकार सत्पुरुष पृथ्वी में स्थित जीवों का पोषण करते हैं, परन्तु उनके प्रति मोह से रहित हैं। जिसप्रकार समुद्र मोती आदि रत्नों की खान होने पर भी धन की अभिलाषा से रहित हैं, उसीप्रकार वे सन्त पुरुष भी सम्यग्यदर्शन आदि रत्नों की खान होने पर भी धन आदि की अभिलाषा से रहित हैं। और कैसे हैं सत्पुरुष ? आकाश के समान अस्पर्शी हैं और सबसे

१. संयोग-वियोग में जीव के पुरुषार्थ की निरर्थकता समझना चाहिए। २. पालनकर्त्ता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बड़े होने से जगत के जीवों के लिए विश्राम के स्थान हैं । जिसप्रकार आकाश किसी पदार्थ से लिप्त नहीं है और अखण्डरूप से सर्व जगत् के रहने का स्थान है, उसीप्रकार वे सन्त पुरुष किसी परभाव से लिप्त नहीं हैं और महानपने से सर्व जगत् के दुःख दूर करने के स्थान हैं ।

भावार्थ :- जिस समय इस ग्रन्थ की रचना हुई है, उस समय यथार्थ मुनि धर्म के धारक कुछ जीव ही रह गये और बहुत जीव शिथिलाचारी हो गये । इसलिए किसी ने ऐसा तर्क किया है कि मुनि-धर्म बहुत कठिन है, उसके आचरण की चौथे काल में हुई बातें ही सुनने में आती हैं, इस समय कोई वैसा आचरण करनेवाला नहीं दिखता । उससे कहते हैं कि अभी भी मुनि-धर्म के धारक कोई-कोई जीव प्रत्यक्ष देखे जाते हैं । तू धर्म का अभाव कहकर अपने शिथिलाचार को पुष्ट क्यों करता है ? किसी क्षेत्र या काल में धर्मात्मा थोड़े हों या न हों तो भी धर्म का स्वरूप जैसा है वैसा ही मानना चाहिए ।

लौकिक जीवों की मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति

इन सन्तों के द्वारा आचरण किये गये मार्ग से अपरिचित यह लोक, संसार के स्वरूप को न जानता हुआ क्या करता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शिखरिणी

पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसंधाय बहुधा ।
विमोहादीहेते सुखलवमवाप्तुं नृपपदम् ।।
अहो मुग्धो लोको मृतिजननदंष्ट्रान्तरगतो ।
न पश्यत्यश्रान्तं तनुमपहरन्तं यमममुम् ।।३४।।

पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, ठगते होकर मोहाधीन ।
अंश मात्र सुख भोग हेतु वे, चाहें राजमुकुट हो दीन ।।
अहो ! मूढ़जन यम की जन्म-मरण दाढ़ों में रहकर भ्रान्त ।
नहीं देखते उस यम को जो तन हरने में रहे अश्रान्त[१] ।।३४।।

अर्थ :- मोह के कारण जिसमें सुख का अंश भासित होता है - ऐसे राजपद की अभिलाषा से पिता पुत्र को और पुत्र पिता को ठगता है । अहो !

१. नहीं थकनेवाला ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बड़ा आश्चर्य है कि मूर्ख लोग जन्म-मरण रूपी दाढ़ के मध्य में स्थित, शरीर को निरंतर हरण करने वाले यम को नहीं देखते हैं।

भावार्थ :- जैसे किसी सिंह की दाढ़ में आया हुआ पशु, अपने शरीर को खाने वाले सिंह का विचार तो नहीं करता और क्रीड़ा करने का उपाय करता है तो बड़ा आश्चर्य होता है। उसीप्रकार यमराज की दाढ़ के बीच में काल (मृत्यु) को प्राप्त यह लोक अपनी आयु का हरण करनेवाले कालरूपी सिंह का तो विचार नहीं करता और राज्य आदि पद को प्राप्त करने के लिए अनेक उपाय करता है - यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है, अतः ऐसी मूर्खता को छोड़कर यम का चिन्तवन करते हुए विषयों की वाञ्छा छोड़ना चाहिए।

विषयान्ध पुरुष की दुर्दशा का वर्णन

विषयो में मोहित जीव पुत्रवध आदि दुष्कार्यों में प्रवृत्ति क्यों करता है - इसका कारण आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः ।
चक्षुषाऽन्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ।।३५।।

अन्धों में भी महा-अन्ध हैं, जो विषयों में अन्ध हुए ।
अन्ध चक्षु से नहिं जाने, दूजे न एक भी इन्द्रिय से ।।३५।।

अर्थ :- जिसके सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र विषयों से अन्धे हो रहे हैं, वह अन्धों से भी महा अन्ध है; क्योंकि जो अन्धा है वह मात्र नेत्रों से ही नहीं जान पाता, परन्तु जो विषयों से अन्धा है वह किसी भी इन्द्रिय से नहीं जानता।

भावार्थ :- अन्धे पुरुष को मात्र नेत्रों से नहीं दिखता, परन्तु मन से विचार करना और कानों से सुनना आदि ज्ञान तो उसको पाया जाता है। लेकिन जो विषय-वासना से अन्धा हो गया है, उसे किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान नहीं होता। विषयों से दुःखी व्यक्ति को यद्यपि नेत्रों से दिखना, मन से विचारना, भाव-भासना करना, शिक्षा देनेवाले की सुनना इत्यादि ज्ञान के कारण मिलते हैं; तथापि वह विषयों की वासना में अन्धा होकर किसी की परवाह नहीं करता। इसलिए अन्धा होना निषिद्ध है (ठीक नहीं है) लेकिन विषयों से अन्धा होना तो अति निषिद्ध जानना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विषयाभिलाषा की व्यर्थता

अब कहते हैं कि किंचित् विषयों की इच्छा की पूर्ति के लिए तेरी प्रवृत्ति होती है; परन्तु विषयों की इच्छा तो सभी प्राणियों को होती है, लेकिन मनवाञ्छित पदार्थों की प्राप्ति किसको हुई ? अर्थात् किसी को नहीं हुई - यह बात आगामी छन्द में समझाते हैं :-

अनुष्टुप्

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ।।३६।।

जिसमें विश्व अणू सम लघु है प्रतिप्राणी का आशा-गर्त्त[1] ।
किसको कितना मिल सकता फिर विषयों की अभिलाषा व्यर्थ ।।३६।।

अर्थ :- अहो प्राणी ! प्रत्येक प्राणी में आशारूपी गड्ढा इतना गहरा है कि जिसमें तीन लोक की विभूति अणु के समान सूक्ष्म है । यदि तीन लोक की विभूति एक प्राणी को मिल जाये तो भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं होगी, तो फिर बँटवारे में किसको कितनी विभूति मिलेगी, (कि सबकी तृष्णा शान्त हो जाये) इसलिए तेरी विषयों की इच्छा व्यर्थ है ।

भावार्थ :- तीन लोक का वैभव तो अल्प है और प्रत्येक जीव का आशारूपी गड्ढा इतना गहरा है कि उसमें तीन लोक का वैभव अणु के समान (अति अल्प) है, तो एक जीव का गड्ढा भी पूरा कैसे होगा ? इसलिए विषयों की अभिलाषा करना व्यर्थ है ।

पुण्योपार्जन की प्रेरणा

मुनिराज विषय-सुख को छोड़कर महापुण्य का उपार्जन करने के लिए प्रवृत्ति करते हैं । इस विषय-सुख की प्रवृत्ति से भव-भव में नवीन शरीर धारण करना पड़ता है इसलिए जो आत्म-कल्याण में प्रवीण हैं, वे सोच-विचार करके आत्म-कार्य में प्रवृत्ति करते हैं । लोक में समस्त प्रभाव पुण्य का ही फल है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

आयुः श्रीवपुरादिकं यदि भवेत् पुण्यं पुरोपार्जितं,
स्यात् सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायातितेऽप्यात्मनि ।

१. गड्ढा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मंदोद्यमा,
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्तेतराम् ॥३७॥

पूर्व पुण्य से सहज प्राप्त हों, आयु लक्ष्मी सुन्दर तन ।
पुण्योदय बिन मिलें नहीं कर लें जितने अति कष्ट सहन ॥
कार्य-कुशल जो श्रेष्ठ पुरुष वे करके मन में यही विचार ।
इस भव हेतु यत्न शिथिल कर, पर-भव का करते उद्धार ॥३७॥

अर्थ :- इस जीव को देव-मनुष्य आदि भवों में दीर्घायु, लक्ष्मी, सुन्दर शरीरादि पूर्वजन्म में उपार्जित पुण्य से होते हैं। जिसने पुण्योपार्जन किया है, उसे सभी अनुकूलतायें होती हैं। यदि पूर्वकृत पुण्य न हो तो अनेक प्रयत्न करके खेद करने पर भी कुछ भी अनुकूलता नहीं होती। इसलिए कार्यकुशल पुरुष भली-भाँति विचार करके वर्तमान भव सम्बन्धी कार्य में मन्द उद्यमी होते हैं और आगामी भव के कार्य में तत्काल प्रीति सहित निरन्तर अत्यन्त प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ :- जिसने पूर्व भव में दया, दान, तप आदि से विशेष पुण्य का उपार्जन किया हो, उसे ही दीर्घायु, सुन्दर शरीर आदि विभूतियाँ होती हैं और जिसने पुण्योपार्जन नहीं किया, वह बहुत प्रयत्न करके अति खेद-खिन्न हो, तो भी उसे कुछ प्राप्त नहीं होता - ऐसा विचार करके विवेकी पुरुष इस भव के कार्यों में तो मन्द उद्यमी होते हैं और पर-भव सुधारने के लिए अति प्रीति पूर्वक शीघ्र ही प्रयत्न करते हैं।

विषयों का स्वाद अत्यन्त कटु

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि इस भव में सुख के कारणभूत विषय पूर्व पुण्य के प्रसाद से प्राप्त हुए हैं तो उनमें मन्द उद्यमी क्यों हों ? (अर्थात् उन्हें अच्छी तरह क्यों न भोगें ?) - इस आशंका का समाधान करते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

कः स्वादो विषयेष्वसौ कटुविषप्रख्येष्वलं दुःखिना,
यानन्वेष्टुमिव त्वयाऽशुचिकृतं येनाभिमानामृतम् ।
आज्ञातं करणैर्मनः प्रणिधिभिः पित्तज्वराविष्टवत्,
कष्टं रागरसैः सुधीस्त्वमपि सन् व्यत्यासितास्वादनः ॥३८॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कटु विषसम विषयों में मिलता तुम्हें कौन सा स्वाद कहो ?
जिसे खोजने हेतु निजामृत को करते अपवित्र अहो ॥
कष्ट ! अहो विपरीत राग को मधुर मानते हो धीमान !
इन्द्रिय-मन के दास हुए हो पित्त रोग युत मनुज समान ॥३८॥

अर्थ :- जिनकी तृष्णा से अत्यन्त दुःखी होकर इन्हें भोगने के लिए तूने अपनी महानता रूपी अमृत को मलिन किया और मन की सेवक इन्द्रियों का आज्ञाकारी होकर इनमें प्रवृत्ति की, उन कड़वे विष के समान विषयों में क्या स्वाद है ? जिसप्रकार पित्त ज्वर से आक्रान्त व्यक्तियों को वस्तु का स्वाद विपरीत भासित होता है, उसीप्रकार परन्तु बुद्धिमान होते हुए भी विषयाभिलाषा के कारण तुझे रागरस के कारण विषयों का विपरीत स्वाद आता है (अर्थात् उनका कटुक स्वाद मधुर लगता है) - यह अत्यन्त कष्ट की बात है।

भावार्थ :- जैसे पित्त ज्वरवाले को पदार्थों का स्वाद विपरीत भासित होता है, वैसे राग-ज्वर से तू भी विपरीत स्वादी हो गया है। कड़वे विष के समान इन विषयों में क्या स्वाद है ? परन्तु तुझे ये स्वादिष्ट और मनोज्ञ लगते हैं। विषयाभिलाषा से महादुःखी होकर तूने अपने गौरवरूपी अमृत को भी मलिन कर लिया, क्योंकि जो विषयाभिलाषी होता है, उसमें महानता नहीं रहती।

तृष्णा की विकरालता

विषयासक्ति के कारण तेरा चित्त किसी भी वस्तु से निवृत्त नहीं है। जो भी वस्तुयें बची हैं, वे तेरी भक्षण करने की सामर्थ्य में कमी के कारण बची हैं, परन्तु भावों से तो तू सर्वभक्षी ही हो गया - यह बात आगामी छन्द में समझाते है :-

अनुष्टुप्

अनिवृत्तेर्जगत्सर्वं मुखादवशिनष्टि यत् ।
तत्तस्याशक्तितो भोक्तुं वितनोर्भानुसोमवत् ॥३९॥

विषय प्रवृत्त तुम्हारे तृष्णा-मुख से जो कुछ बचा जगत ।
जैसे शक्ति हीनता से रवि-शशि भखने में राहु अशक्त ॥३९॥

अर्थ :- निवृत्ति रहित होने से तू सर्व जगत की माया अंगीकार करने की अभिलाषा रखता है, इसलिए भावों से तो तूने कुछ भी नहीं छोड़ा। जिसप्रकार राहु, सूर्य और चन्द्रमा को निगलना चाहता है, परन्तु निगल नहीं पाया, इसलिए

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वे बच गये। उसीप्रकार तेरे मुख से जो कुछ भी बचा है वह तेरी भोजन करने में अशक्ति (ग्रहण करने की क्षमता में कमी) के कारण बचा है।

भावार्थ :- यह जीव इतना विषयासक्त और तृष्णातुर है कि इसे सर्व जगत का वैभव और तीन लोक के विषय प्राप्त हो जायें तो भी इसकी तृष्णा न मिटे। जैसे राहू, सूर्य-चन्द्रमा का भक्षण नहीं कर सका, इसलिए वे बचे रह गये हैं, वैसे जो भी सामग्री बची रह गयी है वह इसकी भोगने की असामर्थ्य से बची है।

परिग्रह त्याग की प्रेरणा

दैवयोग से तेरा चित्त करुणारूप हुआ है और मोक्ष की अभिलाषा से तू हिंसा से निर्वृत्ति लेना चाहता है इसलिए तुझे बाल्यावस्था से ही सर्व परिग्रह का त्याग करना चाहिए - यह बात अगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

साम्राज्यं कथमप्यवाप्य सुचिरात् संसारसारं पुनः,
तत्त्यक्त्वैव यदि क्षितीश्वरवराः प्राप्ताः श्रियं शाश्वतीम्।
त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान् गृहीत्वापि ते,
मा भूर्भौतिकमोदकव्यतिकरं संपाद्य हास्यास्पदम् ॥४०॥

पुण्योदय से राज्यादिक सुख भोगें यदि चिरकाल नरेश।
किन्तु उसे ही तजकर पाते अविनाशी मुक्ति सुख श्रेय ॥
अतः परिग्रह-ग्रहण पूर्व ही भविजन उसका त्याग करो।
मोदक ग्रहण-त्याग करते भिक्षुकवत् नहिं हास्यास्पद हो ॥४०॥

अर्थ :- हे भव्य ! किसी पुण्य के उदय से संसार में सारभूत (सर्वश्रेष्ठ) चक्रवर्ती पद को चिरकाल भोगकर भी पूर्व में बड़े-बड़े राजाओं ने शाश्वत निर्वाणपद को प्राप्त किया, अतः परिग्रह त्याग को ही निर्वाण पद का कारण जानकर तू परिग्रह का त्याग करके कुमारावस्था में ही मुनिपद धारण कर। बाल-ब्रह्मचर्य के समान श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है। यह परिग्रह, त्याग करने योग्य ही है। जिन्होंने चक्रवर्ती पद भोगा उनने भी उसका त्याग किया तभी वे मुक्त हुए। जो राज्य नहीं करते और विवाह नहीं करते उनके समान और कोई नहीं है। यदि तू सोचता है कि पहले परिग्रह ग्रहण करूँगा, फिर त्याग करूँगा तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तू कीचड़ में पड़े हुए लड्डू को उठानेवाले भेषधारी के समान लोक में हास्यास्पद मूर्खता मत कर।

भावार्थ :- एक भौतिक (लौकिक) भेषधारी भिक्षा माँग रहा था। किसी ने उसके कटोरे में लड्डू डाल दिया। रास्ते में ठोकर लग जाने से उसका लड्डू मैले में गिर गया, तब उसने लड्डू उठाकर पुनः कटोरे में डाल लिया। यह देखकर किसी ने कहा - "तूने बहुत बुरा किया, ऐसी जगह पड़ा हुआ लड्डू नहीं लेना चाहिए।" तब वह बोला - "चुप रहो, मैं लड्डू खाऊँगा नहीं, घर ले जाकर धोकर फेक दूंगा।" तब सब लोग बहुत हंसे - और कहने लगे कि जब खाना नहीं है, धोकर फेकना है तो मैले में से उठाकर कटोरे में क्यों डाला ? वहीं पड़ा रहने देता। जिसप्रकार मलिन स्थान का लड्डू उठाने से वह भेषधारी हास्य का पात्र हुआ, उसीप्रकार तू कहता है कि मैं परिग्रह सम्पदा भोगकर छोड़ूँगा; परन्तु यह माया तो मलिन स्थान पर पड़े हुए लड्डू के समान है, लेने योग्य ही नहीं है। जब छोड़ना ही है तो ग्रहण क्यों करना ? जिन चक्रवर्ती आदि ने राज सम्पदा भोगी उनने भी उसे छोड़ा, तब वे मुक्त हुए; इसलिए तू कुमार अवस्था में ही छोड़ेगा तो उनसे भी उत्तम होगा। किसी व्यक्ति को कीचड़ लगा हो तो वह उसे धोकर स्वच्छ होता है, लेकिन जो कीचड़ ही न लगाए, वह सर्वोत्कृष्ट है। कीचड़ लगाकर धोनेवाला तो हास्य का पात्र होता है।

गृहस्थाश्रम के त्याग की प्रेरणा

निर्वाण-लक्ष्मी के साधक निर्ग्रन्थ-मुनि ही हैं। गृहस्थावस्था में निर्वाण का साधन नहीं हो सकता - यह बात आगामी छन्द में दृढ़ता पूर्वक स्थापित करते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

सर्वं धर्ममयं क्वचित् क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं,
क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि।
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा,
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥४१॥

कभी जीव को करे धर्ममय कभी करे पापों से लिप्त।
धीमानों के जीवन में भी पुण्य-पापमय करे चरित्र ॥
इसीलिए अन्धे का रस्सी बुनना है या गज-स्नान।
यह गृहस्थ-आश्रम है मत्तपुरुष के कार्य-कलाप समान ॥४१॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- यह गृहस्थाश्रम इस जीव का कल्याण करने वाला सर्वथा नहीं है। जिसप्रकार मतवाला व्यक्ति अनेक प्रकार की उन्मत्त चेष्टायें करता है, उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम बुद्धिमान पुरुषों के भी अनेक प्रकार के चरित्र करता है। कभी तो सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रोषधोपवास आदि से जीव को धर्ममय करता है; कभी स्त्री-सेवनादि द्वारा पापमय करता है और कभी पूजा, प्रभावना, तीर्थयात्रा, चैत्य-चैत्यालय निर्माण इत्यादि कार्यों द्वारा पुण्य-पाप दोनों रूप करता है। इसलिए यह गृहस्थाश्रम अन्धे द्वारा रस्सी बुनने जैसी या गज-स्नान करने जैसी पागलों की चेष्टा है।

भावार्थ :- यह गृहस्थाश्रम जीव को हितकारी नहीं है, यह तो उन्मत्त पुरुष की चेष्टा है। कभी तो सर्वथा दयारूप सामायिक प्रोषध आदि द्वारा धर्मोपार्जन करता है; कभी स्त्री-सेवन या श्रृंगारादि द्वारा पापोपार्जन करता है और कभी पूजा, प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, चैत्यालय निर्माण आदि कार्यों द्वारा विशेष पुण्य और अल्प पाप-उपार्जन करता है। इसलिए यह गृहस्थाश्रम त्यागने योग्य ही है, कल्याणकारी नहीं है। अन्धा व्यक्ति एक ओर से रस्सी बुनता है, परन्तु दूसरी ओर से वह उधड़ती चली जाती है; तथा हाथी, स्नान करके सिर पर धूल डालता है, इसलिए ये उन्मत्त चेष्टायें हैं।

गृहस्थाश्रम में होनेवाले निरर्थक क्लेशों का वर्णन

जो शाश्वत मोक्ष-सम्पति का साधक होता है उसे ही उपकारी कहते हैं, यह गृहस्थाश्रम शिव-सम्पदा का साधन नहीं है इसलिए इसमें जीव का हित नहीं है। इस गृहस्थावस्था में असि, मसि, कृषि, वाणिज्य (असि = तलवार अर्थात् युद्धविद्या, मसि = स्याही अर्थात् लेखनविद्या, कृषि = खेती, वाणिज्य = व्यापार) आदि सभी दुःख के ही कारण हैं; इनमें सुख का कारण कोई नहीं है - यह आशय आगामी छन्द में दृढ़ करते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

कृष्ट्वोप्त्वा नृपतीन्निषेव्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेऽम्भोनिधौ
किं क्लिश्नासि सुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानतः।
तैलं त्वं सिकतास्वयं मृगयसे वाञ्छेद्विषाज्जीवितुं
नन्वाशाग्रहनिग्रहात्तव सुखं न ज्ञातमेतत् त्वया ॥४२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कृषि करते या नृप-सेवा या वन-समुद्र में भटक रहे ।
सुख के लिए मोह-वश होकर दीर्घकाल से कष्ट सहे ॥
तेल खोजते रहे रेत में विष खाकर जीना चाहा ।
आशा-ग्रह के निग्रह से ही सुख होगा यह नहिं जाना ॥४२॥

अर्थ :- हे जीव ! तू इस गृहस्थाश्रम में सुख के लिए चिरकाल से व्यर्थ क्लेश करता है, परन्तु इसमें सुख नहीं है । तू हल से खेत जोतकर बीज बोता है, खड्ग धारण करके राजा आदि की सेवा करता है, लेखन वृत्ति से उद्यम करता है, व्यापार के लिए वन और समुद्र में भटकता है । तूने अज्ञान के कारण चिरकाल से ये कष्ट सहन किये है । हाय-हाय ! तेरी यह चेष्टा बालू में से तेल निकालने के समान और विष से जीवित रहने के समान है । अहो प्राणी ! तुझे आशारूपी ग्रह शान्त करने से ही सुख होगा, तृष्णा से नहीं - ऐसा न जानकर अज्ञानी होता हुआ तू व्यर्थ परिश्रम करता है ।

भावार्थ :- गृहस्थाश्रम में असि, मसि, कृषि और वाणिज्य आदि सभी उपाय दुःखदायक हैं, इनमें सुख नहीं है। खेती के दुःख तो प्रत्यक्ष ही दिखते हैं; खोटे गांवों में रहना, हीन क्रिया करना, मानभंग होना, अपने और पराये लोगों का भी भय होना आदि क्लेश सदा रहते हैं । खड्गधारी (सैनिक) आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है, यह सेवा भी महाकष्टदायक है ।

जीविका के लिए अपना जीव (जीवन) ही देना पड़ता है । व्यापारी व्यापार के लिए जहाज में बैठकर समुद्र में जाते हैं, कभी-कभी तो जहाज ही डूब जाता है, तथा महावन में भटकना पड़ता है - इत्यादि दुःखों का वर्णन कहाँ तक करें ? अनेक प्रकार के हानि-लाभ से सदा आकुलता ही रहती है । लेखन कार्य करनेवाले भी सदा खेद-खिन्न रहते हैं । अल्प प्रयोजन के लिए सदा पराधीन रहते हैं । तू इन उपायों से सुख चाहता है, तो यह बालू में से तेल निकालने जैसा है और विष खाकर जीवित रहने की इच्छा रखने जैसा है । अब यह विपरीत बुद्धि छोड़ ! तुझे अनादि से आशारूपी खोटा ग्रह लगा है, इस कारण तू कभी सुखी नहीं हुआ । अब इस ग्रह के निग्रह (नष्ट करने) से ही सुख होगा - ऐसा तूने अभी तक नहीं जाना, इसलिए अब तक भव भ्रमण किया है ।

आशारूपी अग्नि से दग्ध व्यक्ति की चेष्टा

सुख का उपाय सन्तोष ही है । शास्त्रों में जगह-जगह आशा के निग्रह करने का ही उपदेश दिया है, परन्तु यह प्राणी ऐसा न जानकर विपरीत चेष्टा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

आशाहुताशनग्रस्त- वस्तूच्चैर्वंशजां जनाः ।
हा किलैत्य सुखच्छायां दुःखघर्मापनोदिनः ॥४३॥

आशानल से दग्ध, वस्तु के सेवन से जन सुख चाहें ।
ताप-निवारण हेतु बाँस की छाया निष्फल अवगाहें ॥४३॥

अर्थ :- आशारूपी अग्नि से दग्ध तथा कनक-कामिनी आदि वस्तुओं को निश्चय से भला जाननेवाला व्यक्ति गर्मी में शीतलता प्राप्त करने के लिए बाँस की छाया ग्रहण करता है, परन्तु उसका यह प्रयास व्यर्थ है क्योंकि उससे धूप की गर्मी नहीं मिटती।

भावार्थ :- बाँस की छाया ताप नाशक नहीं है, अपितु विघ्नकारक है। यदि बाँस आपस में रगड़कर जल जायें तो वहाँ बैठनेवाला भस्म हो जाएगा। बाँस की फाँस भी शरीर में चुभ जाती है।

इसीप्रकार विषयों का सेवन करनेवाला इस भव में तो उनके संग्रह से, उनके सेवन से या उनके वियोग से महादुःखी होता है, तृष्णा से सदा व्याकुल रहता हुआ खेद खिन्न रहता है और परभव में नरक-निगोद में दुःख सहता है। ये विषय सर्वथा (किञ्चित भी) सुखकारी नहीं हैं।

संसारी जीव अविवेकी होने से तथा आशारूपी अग्नि से दग्ध होकर सुख के लिए कनक-कामिनी आदि में आसक्त होता है, परन्तु इनमें रञ्चमात्र भी सुख नहीं है। ये भव-भव में दुःखदायक हैं। यह संसार असार है, इसमें क्या सुख है ? इस संसार की माया बाँस की छाया के समान ग्रहण करने योग्य नहीं है, छोड़ने योग्य है।

पुण्योदय के बिना कार्यसिद्धि नहीं

दैवयोग से यदि किसी को तुच्छ मात्र सुख प्राप्त भी जो जाए तो वह स्थिर नहीं है - यह बात आगामी छन्द में दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

खातेऽभ्यासजलाशयाऽजनि शिला प्रारब्धनिर्वाहिणा,
भूयोऽभेदि रसातलावधि ततः कृच्छ्रात् सुतुच्छं किल।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्षारं वार्युदगात्तदप्युपहतं पूति कृमिश्रेणिभिः,
शुष्कं तच्च पिपासतोऽस्य सहसा कष्टं विधेश्चेष्टितम् ॥४४॥

जल पाने के लिए मनुज ने कूप खोदना शुरू किया ।
पर खारा जल अल्प उसे पाताल-लोक पर्यन्त मिला ॥
वह भी अति दुर्गन्ध युक्त, कर्दम कीड़ों से था भरपूर ।
सूख गया तत्काल अहो ! विधि का विधान है कितना क्रूर ॥४४॥

अर्थ :- विधि की चेष्टा (कर्मों की उदयागति) कष्टदायक है। वास्तव में इस प्यासे की प्यास कभी नहीं बुझती, (अर्थात् तृष्णा की पूर्ति कभी नहीं होती) किसी व्यक्ति ने जल-प्राप्ति की आशा से कुँआ खोदना प्रारम्भ किया, खोदते हुए जमीन में शिला निकली तब भी वह पाताल तक कुँआ खोदता गया। अत्यन्त कष्ट सहने के बाद उसे दुर्गन्धयुक्त, खारा और कीड़ों से भरा थोड़ा-सा जल मिला और वह भी तत्काल सूख गया। अतः ऐसे उद्यम (पुरुषार्थ) से क्या लाभ है ?

भावार्थ :- कोई समझता है कि मैं प्रयत्न करके प्रयोजन सिद्ध कर लूंगा, परन्तु पुण्योदय के बिना कार्य-सिद्धि नहीं होती। इसी बात को उदाहरण से समझाते हैं - किसी प्यासे व्यक्ति ने जल की आशा से भूमि खोदना प्रारम्भ किया तो शिला निकल आई। तब उसने कष्ट सहते हुए पाताल तक गहरा कुँआ खोदा, वहाँ जरा-सा पानी मिला, जो अत्यन्त खारा और दुर्गन्धयुक्त था और उसमें लटें (कीड़े) बिलबिला रही थीं। वह पानी भी तुरन्त सूख गया। इसलिए इसके उद्यम करने से क्या होता है ? उदय की चेष्टा बलवान है।

न्यायोपार्जित धन से कभी सम्पदा नहीं बढ़ती

कोई कहता है कि मैं न्याय से धन कमाऊँगा और सम्पति इकट्ठी करके भोगूंगा - उसे आगामी छन्द में समझाते हैं :-

अनुष्टुप्

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः ।
नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥४५॥

न्यायोपार्जित धन से भी सम्पदा न बढ़ती सुजनों की ।
निर्मल जल से नहीं पूर्णता होती कभी नीर-निधि की ॥४५॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- जिसप्रकार निर्मल जल से कभी भी समुद्र पूरा नहीं भरता उसीप्रकार अहो प्राणी ! न्यायोपार्जित धन से सज्जनों की भी सम्पदा नहीं बढ़ती है।

भावार्थ :- अयोग्य आचरण तो सर्वथा त्याज्य ही है, परन्तु योग्य आचरण से उपार्जित धन से भी सम्पदा में विशेष वृद्धि नहीं होती। जैसे - निर्मल जल से समुद्र कभी भी पूर्ण नहीं होता। इसलिए न्यायोपार्जित धन की भी तृष्णा छोड़कर सर्वथा निष्परिग्रही होना चाहिए।

धर्म, सुख, ज्ञान और गति का स्वरूप

कोई ऐसा मानता है कि सम्पत्ति बढ़े या न बढ़े, परन्तु यह गृहस्थपना धर्म, सुख, ज्ञान और सुगति का साधन तो है ही; उसे आगामी छन्द में समझाते हैं :-

अनुष्टुप्

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ।।४६।।

जहाँ नहीं होता अधर्म वह धर्म, जहाँ दुःख नहिं सुख है ।
ज्ञान वही, अज्ञान जहाँ नहिं, आगति नहीं जहाँ, गति है ।।४६।।

अर्थ :- धर्म वही है, जिसमें अधर्म नहीं; सुख वही है, जिसमें दुःख नहीं; ज्ञान वही है, जिसमें अज्ञान नहीं और गति वही है, जिसमें आगति (पुनरागमन) नहीं।

भावार्थ :- जहाँ लेश मात्र भी हिंसादि पाप हैं, वहाँ धर्म नहीं है; जहाँ संक्लेशरूप दुःख है, वहाँ सुख नहीं है; जहाँ सन्देहरूप अज्ञान है, वहाँ ज्ञान नहीं है और जहाँ जाकर पुनः आना पड़े अर्थात् जन्म-मरण हो, वहाँ गति नहीं है।

धनोपार्जन छोड़कर धर्म-साधन की प्रेरणा

अविनाशी सुख आदि तो कष्ट साध्य है और धनोपार्जन सुख साध्य है इसलिए धनोपार्जन ही करना चाहिए - ऐसा तर्क करनेवाले को आगामी छन्द में समझाते हैं :-

वसंततिलका

वार्तादिभिर्विषयलोल विचार शून्यं,
क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम् ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तच्चेष्टितं यदि सकृत् परलोकबुद्ध्या
न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम् ॥४७॥

विषय लोलुपी निर्विचार तू धन के लिए करे जो क्लेश ।
एक बार परलोक हेतु यदि करे, दुःख का रहे न लेश ॥४७॥

अर्थ :- हे विषय-लोलुपी ! विचार हीन !! इस लोक में धनोपार्जन के लिए असि, मसि, कृषि, वाणिज्यादि प्रयत्नों से तू जो कष्ट बारम्बार करता है, यदि एक बार पर-लोक के लिए ऐसा प्रयत्न करे तो तुझे जन्म-मरणादि दुःख न होंगे । अतः तू धन का साधन छोड़कर धर्म का साधन कर ।

भावार्थ :- विषय-लोलुपी और विचार रहित लोग खेती आदि उपायों से धनोपार्जन के लिए बारम्बार प्रयत्न करते हैं । श्रीगुरु दयालु होकर भव्य जीवों को उपदेश देते हैं - "अहो ! तू धन के लिए बारम्बार जैसा कष्ट करता है वैसा उद्यम यदि एक बार भी पर-लोक के लिए करे तो तू पुनः जन्म-मरणादि दुःख नहीं पाएगा अर्थात् भवसागर से तिर जाएगा ।"

बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के त्याग की प्रेरणा

आगामी छन्द में पर-लोक के उपाय में दृढ़ता उत्पन्न करने के लिए बाह्य पदार्थों के प्रति राग-द्वेष छुड़ाते हुये आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञात याथात्म्यको
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः ।
अन्तः शान्तिमुपैहि यावददयप्राप्तान्तकप्रस्फुर-
ज्ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान् ॥४८॥

इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करता है, परद्रव्यों में बिना विचार ।
वस्तु स्वरूप बिना जाने, क्यों काल गँवाता बारम्बार ॥
उदय-प्राप्त निर्दय अति भयप्रद ज्वालामय मुखवाला काल ।
भस्म करे उससे पहले ही, परम शान्ति पा ले तत्काल ॥४८॥

अर्थ :- हे जीव ! तू वस्तु का यथार्थ स्वरूप न जानकर 'यह इष्ट है' और 'यह अनिष्ट है' - ऐसी कल्पना करके बाह्य वस्तुओं में आसक्त होकर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

व्यर्थ ही काल क्यों गँवाता है। जब तक निर्दय काल उदय को प्राप्त होकर अपनी दैदीप्यमान ज्वालाओं के भयानक मुख में तुझे भस्म न कर ले उससे पहले ही तू अन्तरंग में राग-द्वेष त्याग कर परम शान्त दशा प्राप्त कर ले।

भावार्थ :- जो वस्तु का सच्चा स्वरूप नहीं जानते; वे धन, स्त्री, राज्यादि को भला जानते हैं और दुःख, दारिद्र, रोगादि को बुरा जानते हैं। इसप्रकार वे इष्ट-अनिष्ट कल्पना द्वारा बाह्य वस्तुओं में आसक्त होकर वृथा काल गँवाते हैं (मनुष्य भव व्यर्थ गँवा देते हैं)। अतः श्रीगुरु भव्य जीवों को समझाते हैं - "अहो भव्य ! तू इष्ट-अनिष्ट कल्पना छोड़; बाह्य वस्तुओं में बारम्बार आसक्त होकर काल व्यर्थ क्यों गँवाता है ? जब तक तू काल की भयानक जठराग्नि में भस्म न हो जाये तब तक (भस्म होने से पहले ही) राग-द्वेष छोड़कर अन्तःकरण में शान्त दशा प्राप्त कर ले। बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना मिथ्या है।"

आशारूपी नदी के पार होने की प्रेरणा

यह आशारूपी नदी तुझे बहाकर भवसमुद्र में डाल देती है, इसलिए तू उससे तिरने का उपाय कर - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

आयातोऽस्यतिदूरमङ्ग परवानाशासरित्प्रेरितः,
किं नावैषि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतुं क्षमः।
स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमचिरान्नो चेद् दुरन्तान्तक-
ग्राहव्याप्तगभीरवक्त्रविषमे मध्ये भवाब्धेर्भवेः ॥४९॥

पर की आशा-सरिता में बहकर आए अति दूर अहो।
नहीं जानते क्या तुममें ही तिरने की सामर्थ्य कहो ?
हो स्वतन्त्र, तट पाओ ! नहिं तो डूबोगे भव-सागर में।
कालरूप ग्रहमुख से भयप्रद दुःखमय अन्त अहो जिसमें ॥४९॥

अर्थ :- हे मित्र ! तू पर-वस्तुओं का अभिलाषी होता हुआ आशारूपी नदी के प्रवाह में बहते-बहते अनादिकाल से अनन्त जन्म धारण करते हुए बहुत दूर से आया है[१]। क्या यह तू नहीं जानता कि इस आशारूपी नदी से पार होने

१. *अनन्त काल निगोद तथा अन्य पर्यायों में रहकर तूने यह मनुष्य पर्याय प्राप्त की है।*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का आत्मज्ञान के अलावा और कोई उपाय नहीं है ? तथा तू स्वयं ही उससे तिरने में समर्थ है; इसलिए अब शीघ्र ही स्वाधीन होकर[२] आशारूपी नदी को तैर कर उस पार हो जा, नहीं तो इस नदी में बहते-बहते भव समुद्र में डूब जाएगा। यह भवसागर दुःखमय अन्तवाले कालरूपी मगरमच्छ के विशाल मुख के कारण अत्यन्त भयानक है।

भावार्थ :- भोगों की तृष्णारूपी आशा-नदी में तू अनादि काल से बहता चला आ रहा है। तू आत्मज्ञान से ही इस नदी के पार हो सकता है, इसके सिवाय और कोई दूसरा उपाय नहीं है। ज्ञान से ही आशा मिटती है। इसलिए अब पराधीनता छोड़कर शीघ्र ही स्वतन्त्र हो जा। आशा-नदी के उस पार चला जा, अन्यथा संसार-समुद्र में डूब जाएगा। इस संसार-सागर में अति बलवान कालरूपी मगरमच्छ निरन्तर मुख फाड़े रहता है। उसका विशाल मुख अत्यन्त भयानक है। वह सारे जगत को निगल लेता है। इसलिए यदि तू काल से बचना चाहता है और भव-सागर में नहीं डूबना चाहता, तो आशारूपी नदी के उस पार चला जा।

विषयाभिलाषा से व्याकुल जीव की चेष्टा

यह जीव विषयों की वाञ्छा से व्याकुल होकर अयोग्य विषयों को भी भोगता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-
स्तद्भूयोऽप्यविकुत्सयन्नभिलषस्यप्राप्तपूर्वं यथा।
जन्तो! किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद्दुराशामिमा-
मंहः संहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ॥५०॥

विषयी जन ने जिन्हें भोग कर कौतूहल तज छोड़ दिया।
पूर्व प्राप्त नहिं हुए मान कर तूने उनसे राग किया॥
पाप समूह सबल अरिदल ने विजय-ध्वजा जो फहराई।
नष्ट दुराशा किए बिना, हे भव्य ! शान्ति किसने पाई ॥५०॥

अर्थ :- इस संसार में भोगों को भोग लेने के कारण कौतूहल नष्ट हो

२. *पर-वस्तुओं से सुख की आशा छोड़कर।*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जाने से विषयी जीवों ने जिन पदार्थों को भोगकर छोड़ दिया है, तू उन पदार्थों की अभिलाषा करता है और उनमें तू ऐसा रागी हो गया है कि मानो पूर्व में तुझे कभी ये विषय नहीं मिले हों; जबकि तूने इन्हें अनन्त बार भोगा है और अनन्त जीवों ने भी इन्हें अनन्त बार भोगा है; तो भी तुझे इनसे घृणा नहीं होती। दूसरों की तथा अपनी उच्छिष्ट (उल्टी से निकला हुआ भोजन) से सबको घिन आती है। इन विषयों से तुझे तथा अन्य जीवों को कब शान्ति मिली है ? कभी नहीं अतः जब तक तू अपराधों के समूहरूप प्रबल शत्रु की सेना की विजय-पताका के समान इस दुष्ट आशा को नहीं जीत लेगा, तब तक तुझे शान्ति नहीं मिलेगी।

भावार्थ :- आशा का परित्याग ही शान्ति का मूल कारण है। जब तक तू अपराधरूपी बैरियों की सेना की ध्वजा के समान आशा का अभाव नहीं कर लेगा, तब तक तुझे शान्ति कैसे मिलेगी ? अरे ! अनन्त जीवों ने और तूने भी यह भोग-सामग्री अनन्त बार भोग के छोड़ी है तो भी तुझे इनके सेवन से घृणा नहीं होती। तू तो इनमें ऐसा रागी हो गया कि मानो पहले यह सामग्री कभी न मिली हो। यह जगत की माया तो तेरी और अन्य जीवों की जूठन है, तू इसका सेवन क्यों करता है ? यह तुझे उचित नहीं है।

आशा के वशीभूत जीव का अविवेक

तू आशा को न छोड़ता हुआ और क्या-क्या करना चाहता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

भङ्क्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं
मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वाञ्जिघांसुर्मुधा।
यद्यत् साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक् कामुकः
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥५१॥

अज्ञानी परभव में दुर्लभ सर्प समान प्राणहर्ता।
भोग हेतु निर्भय हो मरकर भी परवध इच्छाकर्ता ॥
साधुजनों से निंद्य कार्य-इच्छुक कामुक हतमति धिक्कार।
काम क्रोध महाग्रह पीड़ित दुर्जन करे न क्या क्या कार्य ॥५१॥

अर्थ :- हे जीव ! तू काले नाग के समान प्राणघातक भोगों को भोगने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की अति अभिलाषा से अपनी होनहार (भविष्य के भव को) बिगाड़ कर अपण्डित मरण करके व्यर्थ ही सुखों का घात करता है। तू अविवेकी, पर-लोक के भय से रहित, निर्दय, कठोर परिणामी तथा सज्जनों द्वारा निंद्य वस्तुओं का अभिलाषी हो रहा है। जिनका मन काम-क्रोध रूपी महाग्रहों के वश में है - ऐसे प्राणी क्या-क्या नहीं करते, सभी अकार्य करते हैं। कामी पुरुषों को धिक्कार है।

भावार्थ :- काले नाग के समान विष भरे भोगों की अति अभिलाषा से तूने कुगति का बन्ध किया। पर-लोक का भय और जीवों पर दया न करके स्वाधीन सुखों का घात किया। साधु पुरुषों ने जिन-जिन वस्तुओं की निन्दा की, तूने उन्हीं की अभिलाषा की - ऐसी बुद्धि को धिक्कार है। काम-क्रोधरूपी महाभयंकर ग्रहों के वशीभूत होकर तूने क्या-क्या अनर्थ नहीं किए। जीव-हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, बहु-आरम्भ, धन की तृष्णा आदि अनेक पाप किए। ये विषय-कषाय ही अनर्थ के मूल हैं।

जगत की क्षणभंगुरता

जो जगत की क्षणभंगुरता को नहीं देखता, उसे भोगों की अभिलाषा होती है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

श्वो यस्याजनि यः स एव दिवसो ह्यस्तस्य संपद्यते
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम्।
भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्यसि तरां प्रत्यक्षमक्ष्णोर्न किं
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि ॥५२॥

जिसका होने वाला कल[१] है उसका होता बीता काल[२] ।
काल-पवन से मूल-विहीन जगत् में कुछ भी नहीं त्रिकाल ॥
हे भाई ! भ्रम तज, अपनी आँखों से देखो भली प्रकार ।
क्यों भ्रमते हो नश्वर विषयों की इच्छा कर बारम्बार ॥५२॥

अर्थ :- हे भाई ! तू भ्रम छोड़ ! क्या तुझे आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं

१. आगामी दिवस २. गत दिवस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देता, कि यह जगत कालरूपी पवन के द्वारा निर्मूल किया जाता है। यहाँ कोई रञ्चमात्र भी स्थिर नहीं है। जो दिवस (प्रातः) उदित होता है वही अस्त को प्राप्त होता है इसलिए तू बारम्बार जगत की आशा रखकर भ्रमण क्यों करता है?

भावार्थ :- इस संसार का चरित्र क्षणभंगुर है। जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसका नाश होता है। जब दिन आरम्भ होता है तब प्रभात होता है और शाम को वही दिन अस्त हो जाता है। यह जगत कालरूपी प्रचन्ड पवन के द्वारा चञ्चल है - यह बात बाल, वृद्ध सभी जानते हैं, तुझे क्यों नहीं सूझती ? तू इस असार संसार में आशा रखकर भ्रमण क्यों करता है ? भ्रम छोड़ कर वस्तु का यथार्थ स्वरूप क्यों नहीं जानता ? क्षणभंगुर वस्तुओं की वाञ्छा क्यों करता ?

वर्तमान दुःखों का वर्णन

इसप्रकार जगत के क्षणभंगुर स्वरूप का विचार न करके तूने चारों गति में अनेक दुःख भोगे - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेप्युद्वेगकारिण्यलं,
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ।
तत्तावत्स्मर सस्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान् निर्धनः ॥५३॥

नरकादिक के दुःखों का संस्मरण मात्र ही अति दुखकार ।
दूर रहे उनकी चर्चा नरभव के दुःख का करो विचार ॥
हे निर्धन ! तू काम-शस्त्र सम मन्द हास्ययुत कामिनी के ।
तीक्ष्ण कटाक्षों से बिंध कर हिम-दग्ध बाल-तरु सम दहके ॥५३॥

अर्थ :- हे जीव! इस संसार में नरकादि योनि में तूने जो अत्यन्त दुःख भोगे हैं, उनके स्मरण मात्र से आकुलता उत्पन्न होती है; उन दुःखों की बात तो दूर, इस मनुष्य भव में ही तू जो दुःख भोग रहा है, उनका ही विचार कर ले ! तू निर्धन होकर भी अनेक प्रकार के भोगों का अभिलाषी है और कामासक्त स्त्रियों के द्वारा मन्द हास्य तथा उनके तीक्ष्ण कटाक्षरूपी काम-बाणों से घायल होकर तेरी दशा दाह-ग्रस्त बाल-वृक्ष (कोमल पौधे) के समान हो रही है।

भावार्थ :- अनादि काल से अविवेकी होने के कारण इस क्षणभंगुर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जगत की माया में आसक्त होकर तूने संसार में नरक-निगोदादि के अनेक दुःख भोगे हैं, जिनके चिन्तवन मात्र से अत्यन्त क्लेश उत्पन्न होता है, उन दुःखों की बात तो दूर रहो; अति दुर्लभ मनुष्य भव पाकर भी विषयों की तृष्णा के कारण तूने लेश मात्र भी सुख नहीं पाया। मदोन्मत्त स्त्रियों के कटाक्षरूपी तीक्ष्ण काम-बाणों से पीड़ित होने के कारण तेरी दशा दाह से झुलसते हुए ऊगते वृक्ष के समान हो रही है - यह सब विचार कर तू जगत की वाञ्छा को छोड़।

इस जगत की (संयोगों की) वाञ्छा मृग-तृष्णा के समान है। जिसप्रकार कोई हिरण प्यास से व्याकुल होकर वन में रेत की चमक में जल के भ्रम से दौड़ता है, परन्तु वहाँ जल प्राप्त नहीं होने से दुःखी होता है; उसीप्रकार तू विषय-तृष्णा से पीड़ित होकर कनक-कामिनी आदि को सुख का कारण जानकर व्यर्थ ही उनकी अभिलाषा करता है। उनमें लेशमात्र भी सुख नहीं है, क्योंकि ये पदार्थ दुःख के ही कारण हैं।

इस जगत में किसी को तो कुछ भी नहीं मिलता, इसलिए खेद-खिन्न रहता है; कभी किसी को कुछ पदार्थ मिल भी जाऐं तो वे उसके मन के चाहे अनुसार नहीं होते, उससे तू व्याकुल रहता है और यदि कभी किसी को मनचाही वस्तु मिल भी जाए तो वह स्थिर नहीं रहती, इसलिए वह सदा अतृप्त ही रहता है।

ये पाँचों इन्द्रियाँ जीव को दुःखदायक हैं। जिन्होंने अति आसक्त होकर एक-एक इन्द्रिय के विषय का भी सेवन किया, वे भी तृप्त नहीं हुए तथा दुःखी होकर मरण को प्राप्त हुए। जैसे - हाथी स्पर्शन-इन्द्रिय के वश होकर अनुराग से कागज की हथिनी को असली समझकर उसके पास जाता है तो गड्ढे में गिरता है और पराधीन होकर अनेक दुःख भोगता है। मछली, रसना-इन्द्रिय की अभिलाषा से धीवर के जाल में फँसकर प्राण गँवाती है। भौंरा, नासिका-इन्द्रिय के वश होकर कमल की गन्ध से तृप्त न होते हुए सूर्यास्त के समय कमल में ही बन्द होकर मरण को प्राप्त होता है। पतंगा, नेत्र-इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर दीप-शिखा को मनोज्ञ जानकर उसमें जलकर भस्म हो जाता है, तथा हिरण कर्ण-इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर संगीत का अनुरागी होता हुआ शिकारी के बाण से प्राण गंवाता है। इसप्रकार ये जीव एक-एक इन्द्रिय के विषय के सेवन से मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तो फिर जो पाँचो इन्द्रियों के विषय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का सेवन करते हैं वे भव-समुद्र में दुःख पायेंगे ही पायेंगे । इसलिए तू विषयाभिलाषा छोड़कर सुख के कारणभूत वीतराग भाव को अंगीकार कर ।

आत्म कल्याण की प्रेरणा

संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक प्रकार के चरित्र (घटनायें) प्रत्यक्ष देखते हुए भी तू वैराग्य को प्राप्त क्यों नहीं होता - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

उत्पन्नोऽस्यसिदोषधातुमलवद्देहोऽसि कोपादिवान्,
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोऽस्यस्यात्मनो वञ्चकः ।
मृत्युव्यात्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रास्योऽसि जन्मिन्! वृथा,
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारिरहिते किं वासि बद्धस्पृहः ॥५४॥

दोष धातु मल आधि व्याधियुत तन में तू उत्पन्न हुआ ।
आत्मप्रवञ्चक दुष्चरित्र तू क्रोधादिक से लिप्त हुआ ॥
मरणोन्मुख, अरु ग्रास जरा का, वृथा जन्म ले मत्त हुआ ।
अरे अवाञ्छक निज-हित का क्यों विषयेच्छा से बद्ध हुआ ॥५४॥

अर्थ :- हे अनन्त जन्मों को धारण करनेवाले अज्ञानी जीव ! तूने इस संसार में अनेक योनियों में उत्पन्न होकर धातु और मल से निर्मित महादोषरूप देह धारण की है । क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण तू मन की चिंताओं तथा तन की व्याधियों से पीड़ित है । तू अभक्ष्य-भक्षण आदि हीन और अयोग्य आचरण करनेवाला दुराचारी होकर अपने आप को ठग रहा है । तू जन्म-मरण के मुख में पड़ा है, जरा (बुढ़ापा) से ग्रस्त है । मोह से व्यर्थ ही उन्मत्त हो रहा है । क्या तू आत्म-कल्याण का शत्रु है ? यदि नहीं तो फिर तू अकल्याण की कामना क्यों कर रहा हैं ?

भावार्थ :- जीव इस संसार में शरीर धारण करके जन्म लेता है । अनादिकाल से चली आ रही कुबुद्धि के कारण ही यह अज्ञानी जीव, शरीर को अपना मानकर नये नये शरीर धारण करता है । नारकियों का शरीर तो अनेक प्रकार के रोगों से युक्त महा दुःखमयी है । देवों का शरीर रोगरहित होने पर भी वे मन की चिन्ताओं का कारण महादुःखी हैं । मनुष्यों और तिर्यञ्चों का शरीर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनेक रोगों का निवास, तीन दोषों से (वात, पित्त और कफ) युक्त सप्त धातुमय महा अपवित्र है।

मनुष्यों का शरीर, मन की व्यथारूप महा मलिन, आधि और शरीर की पीड़ा रूप व्याधियों से युक्त है। (यह जीव, इस देह के कारण से) महादुराचारी, जीवों का घाती, निर्दय परिणामी, असत्य वादी, दूसरों का धन चुरानेवाला, परस्त्री से रमण करनेवाला, बहुत आरम्भ-परिग्रही और विघ्न सन्तोषी होता है। हे जीव ! ऐसे शरीर से तू स्नेह क्यों करता है ?

क्रोध, मान, माया और लोभ के योग से महा अविवेकी होकर तू स्वयं अपना बुरा कर रहा है, आत्मघाती होकर अपने आप को ठग रहा है। तूने अनेक जन्म-मरण किए, और अभी भी जन्म-मरण का ही उद्यम कर रहा है। तेरा बुढ़ापा आ गया है तो भी तुझे पर-लोक का भय नहीं है, तू पागल हो गया है क्या ! अपना अकल्याण क्यों कर रहा है, क्या तू अपना ही शत्रु है ? अब गुरु का उपदेश मानकर शरीर से स्नेह छोड़ ! विषय-कषाय से पराङ्मुख होकर अनाचार छोड़ !! और बन्ध के कारणभूत रागादिभावों का अभाव करके आत्म कल्याण कर !!!

तृष्णा से उत्पन्न दुःख का वर्णन

तू आत्मा का अहित करनेवाले विषयों का अनुरागी हुआ है, परन्तु मनोवाञ्छित विषयों की प्राप्ति हुए बिना केवल क्लेश ही भोगता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

उग्रग्रीष्मकठोर- घर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः ।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥५५॥

उग्र ग्रीष्म की सूर्य-किरण से उपजे अति संताप समान ।
पञ्चेन्द्रिय से तप्त हुआ है वृद्धिंगत अति तृष्णावान ॥
इष्ट प्राप्ति से रहित और अविवेकी करता पापाचार ।
अरे तृषातुर ! कर्दम-लिप्त वृषभवत् सहता कष्ट अपार ॥५५॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- यह प्राणी विवेक से विमुख होता हुआ इन्द्रिय-विषयों से तप्तायमान हो रहा है। मनोवाञ्छित वस्तुओं को न पाकर अति-तृष्णा से पीड़ित होता हुआ अनेक पापरूप उपायों से व्याकुल होता है। कीचड़ में फँसे हुए बूढ़े बैल के समान दुःखी होता है। ये इन्द्रियाँ उग्र ग्रीष्म ऋतु के प्रचन्ड सूर्य की तप्त किरणों के समान आतापकारी हैं।

भावार्थ :- जिसप्रकार ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की प्रज्ज्वलित किरणें तृष्णा को बढ़ाती हैं, उसीप्रकार ये इन्द्रियाँ तृष्णा को बढ़ाती हैं। यह अविवेकी प्राणी मनोवाञ्छित वस्तु को न पाकर अति तृष्णा से व्याकुल होता है।

जिसप्रकार कोई बूढ़ा और दुर्बल बैल प्यास से व्याकुल होकर पानी पीने के लिए सरोवर के पास जाता है, परन्तु पानी तक पहुँचने के पहले ही कीचड़ में फँसकर दुःख भोगता है; उसीप्रकार यह जीव विषयों के लिए उद्यम करता है, परन्तु मनोवाञ्छित विषयों को न पाकर दुःख भोगता है। विषय-तृष्णा महादुःख दायक है, यह ज्ञानामृत से ही उपशान्त हो सकती हैं।

मोहरूपी अग्नि की विशेषता

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जिन्हें मनवाञ्छित विषयों की प्राप्ति नहीं हुई, वे दुःख भोगते हैं - यह बात तो ठीक है परन्तु जिन इन्द्र चक्रवर्ती आदि को परिपूर्ण मनोवाञ्छित विषय मिले हैं, उनका क्लेश तो शान्त हो जायेगा - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में देते हैं:-

अनुष्टुप्

लब्धेन्धनोज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः ॥५६॥

अग्नि प्रज्जवलित होती बुझती ईंधन का हो योग-वियोग ।
किन्तु तीव्र मोहाग्नि सदा जलती, चाहे संयोग वियोग ॥५६॥

अर्थ :- हे भव्य जीव! ईंधन की उपलब्धि से अग्नि प्रज्जवलित होती है और ईंधन के अभाव में बुझ जाती है, परन्तु यह मोहरूपी अति प्रबल अग्नि परिग्रहरूपी ईंधन की उपलब्धि से तृष्णारूप होकर और परिग्रह के अभाव में व्याकुलतारूप होकर प्रज्जवलित होती है। यह दोनों स्थिति में प्रज्जवलित होती है, इसलिए मोहाग्नि के समान और कोई अग्नि नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- अग्नि तो ईंधन के योग से प्रज्वलित होती है और ईंधन के वियोग से बुझ जाती है, परन्तु यह मोहाग्नि परिग्रह के बढ़ने पर तृष्णारूप होती हैं और परिग्रह के घटने पर व्याकुलतारूप होती है। जब असाता के योग से कुछ नहीं मिलता है, तब यह जीव दुःखी होता है; परन्तु साता के योग से कुछ पदार्थ मिलते है, तब तृष्णा बढ़ती जाती है। सौ वस्तुएँ मिलें तो हजार वस्तुओं की और हजार वस्तुएँ मिलें तो लाख वस्तुओं की तृष्णा हो जाती है। इसप्रकार इसलिए पदार्थों के संयोग और वियोग दोनों स्थितियों में मोहरूपी अग्नि दाह ही उत्पन्न करती है। सन्तोष के बिना सुख नहीं है, कोई विवेकी जीव शान्तभावरूप जल से इसे बुझाये, तभी सुखी हो सकता है।

मोह-निद्रा का वर्णन

यह प्राणी मोह के प्रभाव से स्त्री आदि विषय-सुख के साधक पदार्थों में प्रवर्तता है,इसलिए आगामी छन्द में मोह का निद्रा के रूप में वर्णन करते हैं:-

शार्दूलविक्रीडित

किं मर्माण्यभिनन्न भीकरतरो दुष्कर्मगर्मुद्गणः,
किं दुःखज्वलनावलीविलसितैर्नालेढि देहश्चिरम् ।
किं गर्जद्यमतूरभैरवरवान्नाकर्णयन्निर्णयं,
येनायं न जहाति मोहविहितां निद्रामभद्रां जनः ॥५७॥

भयप्रद पापरूप मुन्दर[१] क्या करे न तेरा मर्मच्छेद ?
दुःखमय अग्निज्वाल क्या नहिं दहती अनादि से तेरी देह ॥
गर्जनरत यम के वाद्यों के शब्द भयंकर क्या न सुने ?
जिससे मोहजन्य निद्रा अज्ञानी फिर क्यों नहीं तजे ॥५७॥

अर्थ :- क्या जीव के मर्मस्थल को भेदता हुआ पापकर्मरूपी मुन्दर अत्यन्त भयानक नहीं है ? सर्वथा भयानक ही है। क्या दुःखरूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर देह नहीं जलती ? अवश्य जलती है। क्या यह जीव गजरते हुए यमराज के वाद्यों के भयंकर शब्द नहीं सुनता है ? सदा सुनता है। फिर यह भोंदू (मूर्ख) अकल्याणरूप मोह-निद्रा को क्यों नहीं छोड़ता ?

भावार्थ :- महानिद्रा के वशीभूत होकर सोनेवाला व्यक्ति भी मर्मस्थान

---

१. मधुमक्खी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर मुद्‌गर की चोट लगने से या अग्नि के ताप से अथवा वादित्रों (बाजों) के नाद से जाग जाता है; परन्तु यह अविवेकी जीव, पाप कर्म के उदयरूप मुद्‌गर की चोट लगने पर भी, दुःखरूपी अग्नि से जलने पर भी, तथा "आज यह मर गया, आज वह मर गया" - इसप्रकार यमराज के वादित्रों के तीव्र शब्द निरन्तर सुनने पर भी अकल्याण करनेवाली मोह-निद्रा को नहीं छोड़ता - यह बड़े आश्चर्य की बात है।

मोह-निद्रा के वश हुए प्राणी की दशा

यह जीव मोहरूपी निद्रा के वश में होकर दुःखमय असार संसार को ही चाहता हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुष्कर्मणो,
व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वयं बन्धनम् ।
निद्रा विश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं,
जन्मिन ! जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत् ।।५८।।

सदा पाप-फल दुःखमय भोगे धरता है तन से सम्बन्ध ।
पल-पल वह व्यापार करे जिससे हो कर्म-प्रकृति का बन्ध ।।
निद्रा ही विश्राम, मृत्यु निश्चित है फिर भी भय करता ।
अति आश्चर्य कि हे प्राणी ! तू ऐसे जग में ही रमता ।।५८।।

अर्थ :- निरन्तर जन्म-मरण धारण करनेवाले हे संसारी जीव ! इस संसार में वास्वत में अनेक दुःख हैं, तो भी तू इस संसार में ही अनुराग करता है - यह बड़े आश्चर्य की बात है। जरा इन दुःखों का विचार तो कर ! जिस शरीर से तेरा सम्बन्ध है, वह महाक्लेश का कारण है। तू सदा एक देह को छोड़कर दूसरी देह धारण करता है और निरन्तर पाप कर्म के फलरूप दुःख को भोगता है । तू प्रतिसमय कर्म प्रकृतियों से बँधने का ही व्यापार स्वयं करता है। निद्रा आने पर विश्राम करता है, काल से डरते हुए भी निश्चितरूप से मरण को प्राप्त करता है।

भावार्थ :- जगत के जीवों का ऐसा स्वभाव है कि वे दुःख के कारणों को नहीं चाहते, परन्तु तू महादुःख के कारण (निवास स्थान) इस संसार - सागर में रमण करता है । प्रथम तो शरीर धारण करना ही दुःखरूप है । यद्यपि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मुक्ति प्राप्त होने में निमित्त होने से जो सर्वोत्कृष्ट है - ऐसा मनुष्य शरीर भी पिता के वीर्य और माता के रुधिर से उत्पन्न होता है।

महा अशुचिरूप गर्भ में नौ माह तक उल्टे मुख होकर रहते हुए, तीव्र गर्मी सहन करते हुए, अनेक दुःख सहने पड़ते हैं। गर्भ से निकलना भी महादुःखरूप है। बाल्यावस्था में अति अज्ञान दशा होने के कारण कुछ सुध नहीं रहती। यौवनावस्था में काम क्रोध, लोभ, मान, माया, मोहादि अनेक विकारों से सदा आकुलता बनी रहती है और वृद्धावस्था में शरीर अत्यन्त शिथिल हो जाता है।

देवगति में भी बहुत मानसिक दुःख होते हैं। अपने से अधिक ऋद्धि के धारी देवों को देखकर अपने को कम ऋद्धिवाला मानकर दुःखी होता है। अपनी देवांगनाओं को तथा अन्य देवों को मरते देखकर दुःखी होता है। अपना मरण निकट आने पर तो अत्यन्त दुःख होता है।

तिर्यञ्च गति के अनेक दुःख तो प्रत्यक्ष ही दिखते हैं।

नारकियों के दुःख की क्या बात कहें ? वे तो दुःखमय ही हैं। उन्हे छेदन, भेदन, ताड़न, ताप आदि शारीरिक दुःख, मन में महाक्लेश,क्षेत्र जनित अतिशीत और ऊष्णमय स्थान के दुःख, दुर्गन्धादि के और समस्त रोगों के दुःख पाए जाते हैं। नारकियों द्वारा दिये जाने वाले दुःख तथा परस्पर दुःख देने की प्रवृत्तिवाले असुरकुमारों द्वारा तीसरे नरक तक दिये गए दुःख - इत्यादि दुःखों का वर्णन कहाँ तक करें ? नारकियों का शरीर दुःख का ही निवास है।

इसप्रकार पापकर्म के फल में सदैव क्लेश भोगना, प्रतिसमय कर्म प्रकृतियों का प्रगाढ़ बन्ध होना, निद्रा में बेसुध होना और आयु के अन्त में मरना - इन दुःखों में सुख मानना महान आश्चर्य की बात है। इसलिए हे जीव ! इन दुःखों से उदास होकर सुख के मूल कारणभूत जगत से उदासीनता को अंगीकार कर।

शरीर की बन्दीगृह से तुलना

जिस शरीर को अपना मानकर तू उसमें अनुरागी होता है, उसका स्वरूप आगामी छन्द में बतलाते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कर्मारातिभिरायुरुद्घनिगलालग्नं शरीरालयं
कारागारमवैहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥५९॥

अस्थिरूप पाषाण विनिर्मित सिरा स्नायु से बँधा हुआ ।
चर्माच्छादित सजल रुधिर से और माँस से लिप्त सदा ॥
कर्म-शत्रु से रक्षित, आयु साँकल से बँधा शरीर निवास ।
अरे मूढ़ ! यह बन्दीगृह, तू मत करना इससे अनुराग ॥५९॥

अर्थ :- हे बुद्धिहीन ! तू बन्दीगृह के समान इस शरीर से व्यर्थ प्रीति मत कर ! यह शरीररूपी बन्दीगृह, अस्थिरूपी स्थूल पाषाणों के समूह द्वारा बनाया गया है, नसों के जालरूप रस्सियों से बँधा है, चमड़े से ढका है, रुधिर सहित गीले माँस से लिप्त है, दुष्ट कर्मरूपी शत्रुओं द्वारा निर्मित है और आयुकर्मरूपी प्रगाढ़ तथा भारी (वजनदार) बेड़ियों से युक्त है ।

भावार्थ :- बन्दीगृह के समान अन्य कोई स्थान दुःख का कारण नहीं है । (यह शरीर भी बन्दीगृह के समान है ।) जैसे - बन्दीगृह बड़े-बड़े पत्थरों द्वारा बनाया जाता है, वैसे यह शरीर हड्डियों द्वारा बनाया गया है । जैसे - बन्दीगृह में अनेक बन्धनों से बाँधा जाता है, वैसे यह शरीर अनेक नसों के जाल से बंधा है । जैसे - बन्दीगृह छत से ढ़का होता है वैसे यह शरीर चमड़े से ढका हुआ है तथा रुधिर और माँस से लिप्त है । जैसे - बन्दीगृह दुष्टों के द्वारा बनाया जाता है, वैसे यह शरीर कर्मरूपी दुष्टों के द्वारा रचा गया है । जैसे - बन्दीगृह में अनेक बेड़ियाँ होती हैं, वैसे यह शरीर भी कर्मरूपी बेड़ियों सहित है । अतः ऐसा कौन कुबुद्धि है, जो ऐसे बन्दीगृह से प्रीति करेगा ? लेकिन तू महा निर्बुद्धि (बुद्धिहीन) है, जो इस शरीररूपी बन्दीगृह से प्रीति करता है । अरे ! इससे प्रीति करना उचित नहीं है ।

घर-कुटुम्ब आदि का स्वरूप

शरीर रूपी बन्दीगृह के अतिरिक्त जिन घर-कुटुम्ब आदि से तेरी प्रीति है, वे कैसे हैं - यह बात आगामी छन्द में बताते हैं :-

मालिनी

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं,
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्,
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः ॥६०॥

शरणभूत घर अशरण है ये बन्धु बन्ध के मूल सदा ।
चिर-परिचित दारा को जानो आपद्घर का द्वार सदा ॥
पुत्र शत्रु है और दुःख का कारण है सारा परिवार ॥
इन्हें छोड़कर निर्मल धर्म भजो चाहो यदि सुखमय सार ॥६०॥

अर्थ :- जहाँ तुझे कोई बचानेवाला नहीं - ऐसा घर शरण रहित है, बन्धुजन बन्ध के मूल है, तेरी अति परिचित स्त्री आपदारूप घर का द्वार है और पुत्र शत्रु है - इसप्रकार यह सर्व परिवार दुःख का ही कारण है। यदि तू सुख चाहता है तो इन सबका स्वरूप विचार कर इन्हें छोड़ और निर्मल धर्म को भज।

भावार्थ :- इस असार संसार में तू किसे सारभूत मानता है ? तू जिन-जिन से राग करता है, वे सब दुःख के ही मूल कारण हैं। यह घर अनेक उपाधियों का मूल कारण है, यहाँ कोई रक्षक नहीं है इसलिए यह शरण रहित है। ये भाई-बन्धु बन्ध के ही कारण हैं, इस भव और परभव में दुःखदाई हैं। जिस स्त्री को तू अत्यन्त अपनी जानता है, वह विपत्तिओं के घर का द्वार है। जिस पुत्र को तू अपना अति प्रिय जानता है, वह तेरा शत्रु है; क्योंकि पुत्र जब जन्म लेता है तो तेरी स्त्री का यौवन क्षीण कर देता है; बाल्यावस्था में तेरा मिष्ट भोजन छीन लेता है (क्योंकि उसके लिए धनार्जन की चिन्ता में तू मनोवाञ्छित भोग नहीं भोग सकता) और वह समर्थ (युवा) होने पर तेरा धन छीन लेता है; इसलिए पुत्र के समान दूसरा कोई तेरा शत्रु नहीं है। अतः इन सबको छोड़ ! तथा यदि तू सुख चाहता है तो एकमात्र निर्मल जैन धर्म का सेवन कर।

समभाव धारण करने की प्रेरणा

यहाँ कोई पूछता है कि ये घर आदि हमारे लिए उपकारी नहीं हैं, परन्तु धन तो उपकारी होगा - इसका समाधान आगामी छन्द में करते हैं :-

शार्दूल विक्रीडित

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणैः,
संबन्धेन किमङ्ग शश्वदशुभैः संबन्धिभिर्बन्धुभिः ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा
देहिन् याहि सुखाय ते सममयुं मा गाः प्रमादं मुधा ॥६१॥

आशानल को ईंधन सम उद्दीपन कारक धन से क्या ?
कहो प्रयोजन पापमूल सम्बन्धी बन्धुजनों से क्या ?
कहो प्रयोजन महामोह अहि-बिल[1] सम तन अथवा प्रासाद ।
सौख्य हेतु समभाव प्राप्त कर हे प्राणी ! मत करो प्रमाद ॥६१॥

अर्थ :- हे प्राणी ! तू व्यर्थ ही प्रमाद मत कर ! सुखी होने के लिए समभाव को धारण कर । आशारूपी अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए ईंधन के समान धन से तुझे क्या लाभ है ? हे मित्र ! निरन्तर पाप उत्पन्न करनेवाले इन बन्धुओं और सम्बन्धियों से ममत्व करने से तुझे क्या लाभ है ? और महामोहरूपी सर्प के बिल के समान इस देह या घर से तुझे क्या लाभ है ? सुख की प्राप्ति के लिए तू केवल समभाव को धारण कर । प्रमादी होकर व्यर्थ ही रागादिभावरूप परिणमन मत कर ।

भावार्थ :- इस जीव को रागादि भाव दुःख के कारण हैं और एक समभाव ही सुख का कारण है - यही बात दृढ़ करने के लिए श्रीगुरु भव्य जीवों को उपदेश देते हैं - " हे मित्र ! तन, धन, भाई-बन्धु, परिवार और सब सम्बन्धी दुःख ही के कारण हैं, इनमें सुख नहीं है । तू सुख चाहता है, इसलिए प्रमाद मत कर, समभाव धारण कर । लाभ-अलाभ, जीवन-मरण, शत्रु-मित्र, राव-रंक, संपदा-आपदा आदि सबको सम जान । (इनके प्रति राग-द्वेष मत कर !)

लक्ष्मी की अस्थिरता

समताभाव को दृढ़ करने के लिए राज्य लक्ष्मी को त्याज्य हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

आदावेव महाबलैरविचलं पट्टेन बद्धा स्वयं,
रक्षाध्यक्षभुजासिपञ्जरवृता सामन्तसंरक्षिता ।
लक्ष्मीर्दीपशिखोपमा क्षितिमतां हा पश्यतां नश्यति,
प्रायः पातितचामरानिलहतेवान्यत्र काऽशा नृणाम् ॥६२॥

---

१. साँप का बिल

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पट्ट-बन्ध द्वारा पहले ही महाबली जिसकी रक्षा ।
करते हैं, असियुक्त भुजाओं से सामन्त करें रक्षा ॥
दीप-शिखा सम चञ्चल लक्ष्मी नृप की भी विलीन होती ।
ढुरते चँवर पवन से पीड़ित आशा क्या साधारण[1] की ॥६२॥

अर्थ :- हाय - हाय ! दीप-शिखा के समान तथा ढुरते हुए चँवरों के समान अति चंचल यह राज्य-लक्ष्मी भी पवन के समान देखते-देखते ही विलीन हो जाती है, तो फिर साधारण मनुष्यों की लक्ष्मी के स्थिर रहने की क्या आशा की जाये ? इस राज्य लक्ष्मी को चञ्चल जानकर बलवान पुरुष स्वयं पट्ट-बन्ध बाँधने के बहाने इसे निश्चल करते हैं तथा रक्षाधिकारी सामन्तों की खड्ग सहित भुजाओं रूपी वज्रपंजर से इसकी रक्षा की जाती है, तो भी यह स्थिर नहीं रहती ; देखते ही देखते नष्ट हो जाती है ।

भावार्थ :- राज्य-लक्ष्मी दीप-शिखा के समान अति चञ्चल है । रक्षा करते-करते भी तत्काल विनष्ट हो जाती है । इसकी रक्षा के लिए बलवान पुरुष पट्ट-बन्ध बाँधते हैं, मानो इसको बाँधकर स्थिर करते हैं, तो भी यह स्थिर नहीं रहती । तथा खड्गधारी सामन्तों की भुजारूपी वज्रपंजर में भी यह स्थिर नहीं रहती ।

अरे ! चक्रवर्तियों की लक्ष्मी भी क्षणभंगुर है तो औरों की लक्ष्मी स्थिर रहने की क्या आशा ? इसलिए लक्ष्मी को विनाशीक जानकर अविनाशी विभूति प्राप्त करने का उपाय करना चाहिए ।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है :-

जा सासयाण लच्छी चक्कहराणं पि पुण्णवंत्ताणं ।
सा किं विधेइ रइं इयर जणाणं अपुण्णाणं ॥१०॥

अर्थ :- यह लक्ष्मी महापुण्यशाली चक्रवर्ती आदि के पास भी शाश्वत नहीं रहती, तो औरों के पास कैसे रहेगी ?

शरीर की नश्वरता

जिस शरीर में तू राज्य-लक्ष्मी का पट्ट बाँधता है, वह शरीर कैसा है ? और इसमें तू कैसे दुःख भोगता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

---

१. साधारण मनुष्यों की लक्ष्मी रहने की क्या आशा है ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुष्टुप्

दीप्तो भयाग्रवातारिदारूदरगकीटवत् ।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे बत सीदसि ।।६३।।

जलते हुए उभय दिशि में एरन्ड काष्ठगत कीट समान ।
जन्म-मृत्यु से व्याप्त देह में दुःख भोगता यह अनजान ।।६३।।

अर्थ :- जिसप्रकार दोनों ओर से जलती हुई एरन्ड की लकड़ी के बीच स्थित कीड़ा, अति खेद-खिन्न होता है, उसी प्रकार जन्म-मरण से व्याप्त इस शरीर में तू खेद-खिन्न होता है ।

भावार्थ :- जिसप्रकार एरन्ड की लकड़ी के दोनों ओर आग लग जाये तो उसके बीच रहनेवाला कीड़ा कहाँ जाएगा ? अत्यन्त खेद-खिन्न होकर मरेगा । उसीप्रकार जन्म-मरण से व्याप्त इस शरीर में तू उस कीड़े के समान अत्यन्त दुःखी होकर जल रहा है । इसलिए इस शरीर से ममत्व छोड़, जिससे पुनः शरीर धारण न करना पड़े । इस शरीर के प्रति अनुराग को ही नये शरीर धारण करने का कारण जानकर महामुनि शरीर से स्नेह का परित्याग करते हैं ।

विषयों के त्याग की प्रेरणा

इस शरीर के आश्रित इन्द्रियों के वश होकर तू अनेक प्रकार के क्लेश क्यों भोगता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषो रूपादिविश्वाय किं,
प्रेष्यः सीदसि कुत्सितव्यतिकरैरंहांस्यलं बृंहयन् ।
नीत्वा तानि भुजिष्यतामकलुषो विश्वं विसृज्यात्मवा-
नात्मानं धिनु सत्सुखी धुतरजाः सद्वृत्तिभिर्निर्वृतः ।।६४।।

इन्द्रिय-मन से प्रेरित होता विषय-ग्रहण में व्याकुल हो ।
अरे ! दुराचरणों के द्वारा पाप बढ़ाता आकुल हो ।।
मन-इन्द्रिय को दास बनाकर राग रहित हो विषय तजो ।
सदाचरण से पाप रहित हो सुख अनुभव कर मुक्ति भजो ।।६४।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अर्थ :- हे जीव ! तू कर्मोदय के वश होकर नेत्रादि इन्द्रियों से प्रेरित होता हुआ रूपादि समस्त विषयों की प्राप्ति के लिए खेद-खिन्न होकर अति व्याकुल क्यों हो रहा है ? तू इन इन्द्रियों का गुलाम होकर विषयों को भोगने में अनेक दुराचरण करके पाप को बढ़ाता हुआ अनन्त भवों में दुःखी हुआ। अब आकुलता छोड़कर ज्ञानी होकर समस्त विषयों का त्याग करके ध्यानामृत से आत्मा को पुष्ट करके सुखी हो। मोहरज को धोकर उत्तम वृत्ति धारण कर और निवृत्त हो जा।

भावार्थ :- यह जीव कर्मों के उदय से शरीर धारण करता है और शरीर के योग से इन्द्रियों के वश होकर विषयों के लिए व्याकुल होता है और अनेक दुराचरण करके पापों में तीव्र वृद्धि करता है। विषयों को भोग कर कुयोनि में जन्म लेता है। जो ज्ञानी जीव मलिन भाव छोड़कर आत्मा को ध्यानामृत से पुष्ट करते हैं, वे पाप रज से रहित होते हुए उत्तम वृत्ति को धारण करके (विषयों से) निवृत्ति लेकर महासुखी होते हैं। इसलिए तू ज्ञानवान होकर संसार से निवृत्त हो जा।

परिग्रह रहित यती ही महासुखी

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यती (मुनिराज) निर्धन होते हैं तो उन्हें सुख की प्राप्ति कैसे होगी ? उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जगत में निर्धन और धनवान सभी जीव दुःखी हैं; यती ही महासुखी हैं - यह बात आगामी दो छन्दों में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोप्यवितृप्तितः ।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेको मुनिः सुखी ॥६५॥
परायत्तात् सुखाद् दुःखं स्वायत्तं केवलं वरम् ।
अन्यथा सुखिनामानः कथमासंस्तपस्विनः ॥६६॥

निर्धन-जन धन बिना दुःखी अरु तृष्णा से दुःखमय धनवान ।
सभी भोगते कष्ट, मात्र मुनिराज भोगते सुख की खान ॥६५॥
पराधीन सुख से भी अतिशय श्रेष्ठ दुःख स्वाधीन कहो ।
यदि ऐसा नहिं होय तपस्वी मुनिजन कैसे सुखी कहो ॥६६॥

अर्थ :- सभी वस्तुओं के अभिलाषी निर्धन, धन रहित होने से

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

महादु:खी हैं और जो धनवान हैं, वे भी तृप्ति रहित होने से तृष्णा के कारण महादु:खी हैं। इसप्रकार जगत के सभी जीव दु:खी हैं।

वास्तव में विचार करें तो सन्तोषी महामुनि ही महासुखी हैं। पराधीन सुख से स्वाधीन दु:ख ही श्रेष्ठ है, यदि ऐसा न हो तो तपस्वी मुनियों को सुखी कैसे कहा जाए ?

भावार्थ :- जगत में जितने भी जीव हैं, वे सभी दु:खी हैं। जो निर्धन हैं, वे सर्वसामग्री रहित हैं, इसलिए अपने को दु:खी मानते हैं। तथा जो धनवान हैं,उनकी तृष्णा बढ़ती रहती है और तृप्ति नहीं होती ; अत: तृप्ति के बिना उन्हें सुख कैसे होगा ? इसलिए वे भी महादु:खी हैं।

शास्त्र में मुनियों को ही सुखी कहा है, औरों को नहीं। जगत में सभी सुख पराधीन हैं, अत: पराधीन सुख से स्वाधीन दु:ख ही श्रेष्ठ है। पराधीनता में सुख मानना वृथा है। यदि पराधीनता में सुख होता तो स्वाधीनता से महातप करनेवाले मुनिराज सुखी क्यों कहे जाते ? अत: यही निश्चित हुआ कि जिनको आशा है वे दु:खी हैं और जिन्हें आशा नहीं है वे सुखी हैं। सभी संसारी जीव आशा के दास होने से इन्द्रियों की आधीनता से दु:खी हैं तथा मन और इन्द्रियों को जीतनेवाले, आशा के त्यागी मुनि सदा सुखी ही हैं।

मुनियों के गुणों की प्रशंसा

अब मुनियों के गुणों की प्रशंसा आगामी दो छन्दों में करते हैं :-

शिखरिणी

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं,
सहायैः संवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम् ।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरायाति विमृशन्,
न जाने कस्येयं परिणतिरुदारस्य तपसः ।।६७।।

हरिणी

विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणा परा,
मतिरपि सदैकान्तध्वान्तप्रपञ्चविभेदनी ।
अनशनतपश्चर्या चान्ते यथोक्तविधानतो,
भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधेः ।।६८।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हो स्वतन्त्र करते विहार अरु दीनभाव से रहित अशन ।
मुनिजन के संग वास करें अरु स्वाध्याय श्रम फल उपशम ॥
निज-स्वरूप से कभी बहिर्मुख होते तब भी मन्द प्रवृत्ति ।
नहिं जानें हम मुनिवर की यह किस उदार तप की परिणति ॥६७॥

श्रुत-चिन्तन अरु जीवों की उत्कृष्ट दया, वैराग्य महान ।
तम-एकान्त प्रपञ्च नाश करती जिनकी मति सूर्य समान ॥
अन्त समय शास्त्रोक्त विधि से अनशन पूर्वक तजते देह ।
है महान तप फल यह परिणति अल्पतपों से नही विधेय ॥६८॥

अर्थ :- मुनियों की क्या महिमा कही जाए ? वे स्वाधीन विहार करते हैं, दीनता रहित भोजन करते हैं और मुनिसंघ में वास करते हैं। उनके मन का वेग मन्द हो गया है, जिससे शान्त भावों को प्राप्त करके वे निरन्तर आत्म-विचार में लीन रहते हुए कभी-कभी बाह्य क्रियायें करते हैं । उनकी ऐसी परमदशा किस उदार (महान) तप की परिणति है - हम नहीं जानते ।

अतुल वैराग्य, शास्त्र का चितवन, सर्वोत्कृष्ट सर्व जीव दया, एक नय के हठाग्रह स्वरूप एकान्तवाद रूपी महा-अन्धकार के विस्तार को नष्ट करने के लिए सूर्य की किरण के समान बुद्धि, तथा अन्त समय में शास्त्रोक्त विधि से अनशन पूर्वक शरीर त्याग आदि क्रियायें सत्पुरुषों को अल्प तप का नहीं, अपितु महातप का फल है ।

भावार्थ :- सभी जीव पराधीन हैं, इन्द्रियों के आधीन हैं। वे गमन भी करते हैं तो कामना की पूर्ति के लिए करते हैं, परन्तु **साधु स्वाधीन विहार करते हैं,** उन्हें कोई कामना नहीं है । वर्षा ऋतु के अतिरिक्त मुनि कभी एक स्थान पर नहीं रहते; क्योंकि एक स्थान पर रहने से लोगों में स्नेह बढ़ता है, इसलिए वे वैराग्य भाव की वृद्धि के लिए विहार करते हैं ।

मुनिराज दीनता रहित होकर भोजन करते हैं । जगत के जीवों का भोजन दीनता सहित होता है । निर्धनों की दीनता तो प्रत्यक्ष ही दिखती है; उनके घर में तो सामग्री नहीं है और दूसरों के यहाँ से लाकर काम चलायें तो सामग्री मिलना मुश्किल है । धनवान भी अनेक वस्तुओं के अभिलाषी होते हैं, परन्तु देश-काल के योग से कोई अभिलाषा पूर्ण होती है, कोई नहीं होती; इसलिए

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उनका भोजन भी दीनता सहित है। एक मुनि ही दीनता रहित हैं, क्योंकि उनके लिएलाभ-अलाभ, रस-नीरस सब समान हैं।

मुनिराज को अन्य मुनियों के संग में रहने के समान और कोई **उत्कृष्ट संग** नहीं है। लोक में तो कुसंग ही है। सबसे बड़ा कुसंग तो स्त्री का है, जिसकी संगति से काम-क्रोधादि उत्पन्न होते हैं, जबकि साधुओं की संगति से काम-क्रोधादि विलीन हो जाते हैं।

जगत के जीव अन्य अनेक अभ्यासों में लगे रहते हैं, जबकि साधु श्रुत का ही अभ्यास करते हैं। **शास्त्राभ्यास** के फल में उन्हें शान्तभाव प्रगट हो जाता है जबकि मूढ़ लोग शास्त्राभ्यास से भी मदोन्मत हो जाते हैं, यह बड़ा दोष है।

मुनियों के **मन का वेग मन्द हो गया है** जबकि लोक का मन महाचंचल होकर बाह्य वस्तुओं में ही भटकता रहता है। मुनियों का मन आत्म-विचार में लगा रहता है और कभी-कभी बाह्य शुभक्रियाओं में भी लगता है। अशुभ क्रियाओं का तो नाम भी नहीं है।

मुनियों की ऐसी दशा होती है, यह उनके कौन से उत्कृष्ट तप का फल है, मैं नहीं जानता।

मुनिराज को संसार, शरीर और भोगों से उदासीनता रूप **अतुल वैराग्य** होता है। जगत के जीवों को राग-द्वेष का तीव्र उदय होता है। अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होने से यद्यपि मिथ्यादृष्टियों के समान रागी नहीं हैं, तथापि अप्रत्याख्यान के उदय से रागी हैं। अणुव्रती श्रावक यद्यपि अप्रत्याख्यान के अभाव से अव्रत सम्यग्दृष्टियों से अधिक वैराग्य युक्त हैं, तथापि प्रत्याख्यान के उदय से अल्परागी हैं। मुनियों को तो प्रत्याख्यान का अभाव भी हो गया है, इसलिए उन्हें विषयानुराग तो सर्वथा मिट गया है, संज्वलन कषाय के उदय से कुछ धर्मानुराग शेष रहता है, यही छठवाँ गुणस्थान है। इससे ऊपर के गुणस्थानों में वीतरागभाव की ही वृद्धि होती है, इसलिए मुनियों को अतुल वैराग्य कहा गया है। उनका धर्मानुराग भी वीतराग भाव का ही कारण है।

मुनियों को छठवें गुणस्थान में **शास्त्र का चिन्तवन** होता है। ऊपर के गुणस्थानों में आत्मध्यान ही है। मुनियों जैसा शास्त्रज्ञान औरों को नहीं होता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अज्ञानी जीव तो विकथाओं में ही आसक्त रहते हैं, उन्हें शास्त्र का अनुराग नहीं होता। अव्रत सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती श्रावक यद्यपि जिन सूत्र के अभ्यासी हैं तथापि परिग्रह के योग से वे अल्पश्रुतवान ही हैं बहुश्रुतवान नहीं। बहुश्रुतवान मुनिराज ही **शास्त्र के पारगामी** हैं।

मुनियों के समान **जीवदया** औरों को नहीं होती। अज्ञानी जीव तो सदा निर्दयी ही हैं। अव्रत सम्यग्दृष्टि भावों की अपेक्षा तो दयारूप ही हैं, तथापि बहु-आरम्भ-परिग्रह के योग से दया नहीं पलती। अणुव्रती को अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह के योग से अल्प हिंसा है, उन्हें त्रस जीवों की हिंसा तो सर्वथा नहीं है; स्थावर जीवों की हिंसा है, इसलिए उन्हें सर्वथा अहिंसा नहीं कहा है। सर्वथा अहिंसा तो मुनिराज को ही होती है, वे महा दयावान हैं।

मुनियों की **बुद्धि** एकान्तवादरूप अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य की प्रभा के समान है। अन्य जीवों की बुद्धि ऐसी प्रकाशरूप नहीं होती। यद्यपि सम्यग्दृष्टि श्रावकों की बुद्धि एकान्तवादरूप अन्धकार से रहित स्याद्वाद श्रद्धानरूप परिणमित हुई है तथापि वह मुनियों की शिक्षावृत्य के साथ है। (मुनियों की शिक्षा पर आधारित है।) स्याद्वाद विद्या के गुरु मुनिराज ही हैं।

मुनिराज आयु के अन्त में अनशनादि तप करके शरीर का त्याग करते हैं। **उत्कृष्ट आराधना** मुनियों को ही होती है। अणुव्रती श्रावक को मध्यम आराधना है और अव्रत सम्यग्दृष्टियों को जघन्य आराधना है। अन्य जगवासी जीव आराधना रहित विराधक ही हैं।

मुनियों की उपर्युक्त अलौकिक वृत्ति बतलायी, वह उनके अल्पतप की विधि का फल नहीं, अपितु पूर्ण तप का फल है। (अर्थात ऐसी अलौकिक वृत्ति अल्प तप से प्रगट नहीं होती, पूर्ण तप से ही हो सकती है।)

शरीर का विनाश निश्चित

तप करने से कायक्लेश होता है, जो कि उचित नहीं है; शरीर तो धर्म का साधन है, अत: उसे यत्नपूर्वक सम्हाल कर रखना चाहिए - इस शंका का समाधान आगामी दो छन्दों में करते हैं :-

अनुष्टुप्

उपायकोटिदूरक्षे स्वतस्तत इतोऽन्यतः,
सर्वतः पतनप्राये काये कोऽयं तवाग्रहः ॥६९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अवश्यं नश्वरैरेभिरायुःकायादिभिर्यदि ।
शाश्वतं पदमायाति मुधाऽऽयातमवेहि ते ॥७०॥

स्वतः अन्यतः कोटि उपायों से भी रक्षित नहिं यह देह ।
पतनोन्मुख ही रहे सर्वथा इससे क्यों आग्रहमय स्नेह ॥६९॥
अतः सुनिश्चित विनाशीक यह देह और आयु को तज ।
शाश्वत पद यदि मिलता है तो अनायास मिल गया समझ ॥७०॥

अर्थ :- हे प्राणी ! करोड़ों उपायों से स्वयं के द्वारा या अन्य के द्वारा जिसकी रक्षा नहीं की जा सकती, तुझे ऐसे शरीर की रक्षा करने का आग्रह क्यों है ? जिस प्रकार डाभ की अनी पर पड़ी ओस की बूँद का पतन अवश्य होगा, उसीप्रकार इस शरीर का पतन भी अवश्य होगा । यह आयु और शरीर दोनों विनाशीक हैं । इनका ममत्व छोड़कर अविनाशी पद प्राप्त करने का अवसर तुझे सहज प्राप्त हुआ है ।

भावार्थ :- आयु और काय दोनों विनश्वर हैं । देव-नारकियों की तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु भी विनश्वर है तो मनुष्य-तिर्यञ्चों की अल्प आयु की क्या बात कहें ? देवों का निरोगी और सुन्दर शरीर भी काल के वश है और तीर्थंकरादि पुराण पुरुषों का शरीर भी विनाशीक है तो औरों के शरीर की क्या बात कहें ? इसलिए यह निश्चित होता है कि आयु का अन्त होने पर शरीर नहीं रहेगा और आयु अपने प्रमाण से (जितने समय की बँधी है उससे) अधिक नहीं हो सकती । अतः आयु और काय का ममत्व छोड़कर अपने अविनाशी स्वरूप का ध्यान करना चाहिए । काया को तप-संयम में लगाने से और आयु धर्म करते हुए व्यतीत करने से अविनाशी पद प्राप्त करने की पात्रता होती है । यदि अल्प आयु और चञ्चल काया के बदले शाश्वत पद मिले तो फूटी कौड़ी के बदले चिन्तामणि-रत्न मिला समझना चाहिए ।

आयु की क्षणभंगुरता

आगामी दो छन्दों में आयु की क्षणभंगुरता दिखाते हैं :-

अनुष्टुप्

गन्तुमुच्छ्वासनिःश्वासैरभ्यस्यत्येष संततम् ।
लोकः पृथगितो वाञ्छत्यात्मानमजरामरम् ॥७१॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शिखरिणी

गलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं,
खलः कायोऽप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम् ।
किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयमयमिदं जीवितमिह,
स्थितो भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्थास्नुमपधीः ।।७२।।

आती जाती श्वासों द्वारा करे निरन्तर गमनाभ्यास ।
किन्तु इन्हीं में अज्ञानी जन करते अजर-अमर अध्यास ।।७१।।
अरहट की घटिका थित जल सम होती आयु निरन्तर क्षीण ।
आयु का अनुगामी होकर कृश होता यह दुष्ट शरीर ।।
आयु देह दोनों क्षणभंगुर अन्य सभी को नश्वर जान ।
अज्ञानी इनको थिर माने नौका तिष्ठित मनुज समान ।।७२।।

अर्थ :- यह आयु उच्छ्वास-निश्वास द्वारा निरन्तर गमन करने का अभ्यास करती है, परन्तु यह अज्ञानी जीव अपने को ऐसी आयु से अजर-अमर होना चाहता है। अधिकतर यह आयु अरहट की घड़ी के जल के समान क्षण-क्षण गलती है और आयु के साथ-साथ इस शरीर का भी निरंतर पतन होता है। काया तो आयु की सहचरी है अर्थात् उसी के साथ लगी है। जब आयु और काया की यह स्थिति है तो इस जीव के पुत्र, स्त्री, धन-धान्यादि अन्य पदार्थों की क्या बात करें ? वे तो प्रत्यक्ष ही जीव से भिन्न हैं। जीवन के मूल कारण आयु और काया दोनों ही क्षणभंगुर हैं। जिसप्रकार नाँव में बैठा हुआ मनुष्य अपने को भ्रम से स्थिर मानता है, उसीप्रकार यह मूर्ख बहिरात्मा जीव भी भ्रान्ति से अपने को स्थिर मानता है।

भावार्थ :- जिसप्रकार नॉव में बैठा हुआ व्यक्ति भी गमन करता है, परन्तु वह भ्रम से अपने को स्थिर मानता है, उसीप्रकार श्वास-निश्वास द्वारा आयु के निरन्तर क्षीण होने पर भी और उसके साथ काया के जीर्ण होने पर भी यह मूढ़ जीव मानता है कि मैं ऐसा ही रहूँगा। आयु और काय ये दोनों जीवन के कारण हैं; जब ये भी चञ्चल अर्थात् क्षणभंगुर हैं तो जीने की क्या आशा करना ? जैसे रहट की घड़ी से पानी सदा बहता रहता है, वैसे श्वास-निश्वास से आयु क्षीण होती रहती है और शरीर जीर्ण होता रहता है। आयु पूर्ण होने पर काया भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं रहती। इसलिए विवेकी पुरुष इन दोनों को विनश्वर जानकर इनके प्रति ममत्व छोड़ते हैं। जब आयु और काय से ही ममत्व छोड़ दिया तब स्त्री, पुत्रादि से ममत्व कैसे रह सकता है ? क्योंकि वे प्रत्यक्ष ही भिन्न हैं।

श्वास की उत्पत्ति में ही दुःख

जब श्वास ही दुःख रूप है तो श्वास से होनेवाले जीवन में प्राणी को सुख कैसे होगा - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप

उच्छ्वासः खेदजन्यत्वाद् दुःखमेषोऽत्र जीवितम्।
तद्विरामो भवेन्मृत्युर्नृणां भण कुतः सुखम् ॥७३॥

खेदजन्य उच्छ्वास अतः इस जीवन को दुःखमय जानो।
श्वास बिना मरता प्राणी, फिर इनमें कैसे सुख मानो ॥७३॥

अर्थ :- यह उच्छ्वास खेदपूर्वक उत्पन्न होती है इसलिए दुःख ही है इसके होने पर ही जीवन है और इसके अभाव में मरण। अतः कहो ! प्राणियों को सुख कहाँ से होगा ?

भावार्थ :- जहाँ खेद नहीं है, वही सुख है। उच्छ्वास तो खेद से ही उत्पन्न होती है और जब तक उच्छ्वास है तभी तक जीवन है, अतः जीने में भी सुख नहीं है। उच्छ्वास के अभाव में मरण है और मरने में जीव ही नहीं है तो सुख किसे होगा ? इसलिए तुम्हीं कहो ! जीवों को सुख कहाँ से होगा ? इस शरीर का सम्बन्ध तो दुःख ही का कारण है। देह से नेह (शरीर के प्रति स्नेह) का त्याग करने पर होनेवाला वीतराग भाव ही सुखरूप है, अतः वीतराग भाव ही अंगीकार करना चाहिए।

संसार में जीवन बहुत थोड़ा

जन्म-मरण के बीच वर्तनेवाले प्राणी के कितने काल जीने का विश्वास है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

जन्मतालद्रुमाज्जन्तुफलानि प्रच्युतान्यधः।
अप्राप्य मृत्युभूभागमन्तरे स्युः कियच्चिरम् ॥७४॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जन्मरूप इस ताल वृक्ष से गिरते फल सम प्राणी जान ।
मृत्यु-भूमि की प्राप्ति पूर्व रह सकते किञ्चित काल प्रमाण ।।७४।।

अर्थ :- जन्मरूपी ताल-वृक्ष से जीवरूपी फल मृत्युरूपी भूमि पर ही गिरता है, बीच में तो बहुत कम समय ही रहता है, अधिक समय तक नहीं रहता ।

भावार्थ :- संसार में जीवन बहुत थोड़ा है । जैसे वृक्ष से टूट कर फल भूमि ही में गिरता है, बीच में कब तक रहेगा ? वैसे जो जन्मेगा वह अवश्य मरेगा, जीवन (आयु) कब तक रहेगा ? थोड़ा ही रहेगा । इसलिए देहादि को क्षणभंगुर जानकर आत्मज्ञान के प्रभाव से अविनाशी पद की साधना करना चाहिए ।

अनेक प्रयत्नों के बाद भी मनुष्यों की रक्षा संभव नहीं

प्राणियों की रक्षा के लिए अनादिकाल से विधि ने अनेक प्रयत्न किये तो भी उनकी रक्षा नहीं हो सकी - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

हरिणी

क्षितिजलधिभिः संख्यातीतैर्बहिः पवनैस्त्रिभिः
परिवृत्तमतः खेनाधस्तात् खलासुरनारकान् ।
उपरि दिविजान् मध्ये कृत्वा नरान् विधिमन्त्रिणा
पतिरपि नृणां त्राता नैको ह्यलंघ्यतमोऽन्तकः ।।७५।।

संख्यातीत समुद्र द्वीप के मध्य मनुज विधि ने थापे[१] ।
बाहर वातवलय से घेरे नीचे असुरकुमार रखे ।।
ऊपर वैमानिक देवों को रख कर भी नर नहीं बचे ।
इन्द्र विधाता चक्रवर्ति भी कोई काल न लाँघ सके ।।७५।।

अर्थ :- विधिरूप मन्त्री ने मनुष्यों की रक्षा के लिए अनेक उपाय किये तो भी वह उनकी रक्षा नहीं कर सका । उसने मनुष्यों को अन्दर से असंख्यात द्वीप-समुद्रों के कोट के बीच में रखा और उनके बाहर तीन वातवलय का कोट बनाकर रक्षा की तथा उन वातवलयों को अनन्त अलोकाकाश में स्थापित किया । दुष्ट परिणामी नारकीय जीवों को अधोलोक में रखा; तथा ऊर्ध्वलोक में

१. *स्थापित किये*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देवों को स्थापित किया। सबके बीच में मनुष्यों को रखा तो भी वे मरण से नहीं बचे। इससे निश्चित होता हैं कि मनुष्यों के पति विधाता अथवा चक्रवर्ती, इन्द्र आदि कोई भी मनुष्यों की रक्षा नहीं कर सकता। यह काल अत्यन्त अलंघ्य हैं।

भावार्थ :- अनेक उपाय करने पर भी काल से कोई नहीं बच सकता। मनुष्यों को निर्बल समझ कर उनकी रक्षा के लिए विधिरूप मन्त्री ने अनेक उपाय किए। ऊपरी दिशा की रक्षा देवों से की और अधोलोक में नारकियों को रखा। बाहर तीन वातवलयों का कोट बनाया और भीतर असंख्यात द्वीप-समुद्रों के कोट बनाये, परन्तु उनकी रक्षा नहीं हो सकी। काल अलंघ्य है, उसे रोका नहीं जा सकता; इसलिए शरीर की रक्षा को छोड़कर धर्म की रक्षा करना चाहिए। यद्यपि आत्मा अविनाशी है, परन्तु देह के प्रति स्नेह के कारण नया-नया शरीर धारण करता है इसलिए उसे जन्मा या मरा कहते हैं। निश्चयनय से यह जीव न जन्मता है, न मरता है - ऐसा अपना अविनाशी स्वरूप जानकर देहादि के प्रति स्नेह या राग छोड़ने से नया शरीर धारण नहीं करना पड़ेगा, यही मुक्ति का उपाय है।

काल से अधिक बलवान कोई नहीं

आयु की स्थिति पूर्ण होने पर काल प्राण लेने का उद्यम करता है तब उससे बचने में कौन समर्थ है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शिखरणी

अविज्ञातस्थानो व्यपगततनुः पापमलिनः,
खलो राहुर्भास्वद्दशशतकराक्रान्तभुवनम्।
स्फुरन्तं भास्वन्तं किल गिलति हा कष्टमपरः,
परिप्राप्ते काले विलसति विधौ को हि बलवान्॥७६॥

दुष्ट राहु का ठौर ज्ञात नहिं देह रहित अरु पाप-मलीन।
सहस्र किरणरूपी कर से दिनकर व्यापक है सुभुवन तीन॥
अहा! खेद है यह रवि, राहु द्वारा ग्रसित किया जाता।
काल प्राप्त होने पर विधि से कौन सुभट रक्षा करता॥७६॥

अर्थ :- निश्चय से आयु के पूर्ण होने पर काल (मृत्यु) को आने से कौन बलवान रोक सकता है ? या रक्षा कर सकता है, अर्थात् कोई भी रक्षा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं कर सकता। हा! यह बड़े कष्ट की बात है? जिसप्रकार सम्पूर्ण जगत के पदार्थों को अपनी हजारों किरणों से प्रकाशित करने में समर्थ सूर्य को भी नव ग्रहों में दुष्ट राहू ग्रहण के समय ग्रस लेता है उसे टालने में कोई समर्थ नहीं है, उसीप्रकार आयु का अन्त समय पाकर कालरूपी राहू जीवरूपी सूर्य को ग्रसित कर लेता है। जिसप्रकार सूर्य सहस्त्र किरणों से युक्त है, उसीप्रकार जीव अनन्त ज्योति - अनन्त प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप है।

राहू और काल दोनों का स्थान अज्ञात है, काल की दशा तो सभी प्रत्यक्ष जानते हैं, तथा राहू का कोई वार (दिन) निश्चित नहीं है, इसलिए लोक में इसे भी स्थान रहित कहा गया है। काल तो शरीर रहित (अमूर्तिक) है ही, राहु को भी अतनु (अशरीरी) कहा गया है। जीवों को ग्रसने के कारण काल को पापी कहा जाता है, तथा जो पापी है वह मलिन है। राहु को भी पापग्रह कहा जाता है। श्याम वर्ण होने से उसकी तुलना भी काल से की जाती है।

भावार्थ :- कालद्रव्य जीवादि छह द्रव्यों में से एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो अपनी अमूर्त और जड़ सत्ता सहित लोक में विराजमान है। वह किसी का हर्ता नहीं है। समय, पल, घड़ी आदि काल की व्यवहार पर्याय हैं। जिस समय जिस जीव की शरीर में रहने की स्थिति पूर्ण हो जाती है, उसी समय वह वर्तमान देह से अन्य देह में गमन करता है; इसलिए लोक में 'काल मारता है'- ऐसा कहा जाता है।

काल द्वारा प्राणियों को मारने की विधि

काल किस स्थान में प्राणियों को किस तरह मारता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

वसन्ततिलका

उत्पाद्य मोहमदविह्वलमेव विश्वं,
वेधाः स्वयं गतघृणष्ठकवद्यथेष्टम्।
संसारभीकरमहागहनान्तराले हन्ता,
निवारयितुमत्र हि कः समर्थः ॥७७॥

पूर्वोपार्जित कर्म जगत को अति निर्दय ठग सम ठगते।
तीन भुवन को महामोह मद उपजा कर गाफिल करते ॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इस संसार भयानक वन में जीवों का करते हैं घात ।
इनका करे निवारण जग में किसमें है ऐसा सामर्थ ॥७७॥

अर्थ :- निर्दयी ठग के समान पूर्वोपार्जित कर्म मोह-मद उत्पन्न करके तीन लोक के जीवों को विह्वल करके संसाररूपी भयानक वन में मारते हैं, वहाँ उनका निवारण करने में कौन समर्थ है ?

भावार्थ :- जिसप्रकार निर्दयी ठग मूढ़ लोगों को नशे की वस्तु खिलाकर मद उत्पन्न करके गहन वन में मारते हैं, उसीप्रकार कर्मरूपी महानिर्दयी ठग अज्ञानी जीवों को मोहरूपी महा-मद उत्पन्न करके संसाररूपी वन में मारते हैं, उन्हें कौन बचा सकता है ? काल (मृत्यु) का कारण कर्म है । जो कर्मों से बँधे हैं, वे काल के वश में हैं; सिद्धों को कर्म नहीं हैं, इसलिए वे काल के वश नहीं हैं ।

यमराज का आकस्मिक आगमन

किसी भी क्षेत्र या काल (समय) में काल (मृत्यू) से बचने का कोई उपाय नहीं हैं, सभी क्षेत्र में और सभी काल में काल (जीवों को) ग्रास बनाता हैं । कर्मो को जीतना ही काल से बचने का उपाय है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

कदा कथं कुतः कस्मिन्नित्यतर्क्यः खलोऽन्तकः ।
प्राप्नोत्येव किमित्याध्वं यतध्वं श्रेयसे बुधाः ॥७८॥

काल कहाँ से कब कैसे किस पर आता यह नहिं जानो ।
फिर कैसे निश्चिन्त हुए कल्याण हेतु अब यत्न करो ॥७८॥

अर्थ :- पण्डितजन अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव ! आत्मकल्याण के लिए प्रयत्न करो । काल के आने पर कुछ भी प्रयत्न नहीं किया जा सकता । काल कब, किस प्रकार, किस जगह और कहाँ से आ जाएगा, कुछ कहा नहीं जा सकता । दुष्ट काल अचानक ही आ जाता है इसलिए आत्मध्यान करके अविनाशी होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

भावार्थ :- आत्मस्वरूप में लीन होने से ही काल का निवारण हो सकता है (मृत्यु से बचा जा सकता है), रागादि का अभाव किए बिना और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किसी उपाय से काल का निवारण करना सम्भव नहीं है। मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, औषधि आदि द्वारा भी काल का निवारण सम्भव नहीं है - ऐसा जानकर मौन होकर बैठ जाओ (अर्थात आत्म कल्याण करो)।

मरण से रहित कोई नहीं

सभी क्षेत्र और काल में मरण होता है। कोई भी क्षेत्र और काल मृत्यु से अगोचर नहीं है - ऐसा प्रत्यक्ष देखकर निश्चिन्त हो जाना चाहिए - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

असामवायिकं मृत्योरेकमालोक्य कञ्चन ।
देशं कालं विधिं हेतुं निश्चिन्ताः सन्तु जन्तवः ॥७९॥

किसी देश अरु काल विधान तथा कारण को यदि देखो ।
मृत्यु से सम्बन्ध रहित, तब प्राणी तुम निश्चिन्त रहो ॥७९॥

अर्थ :- हे प्राणी ! यदि किसी भी क्षेत्र, काल, विधि और कारण को मृत्यु से अगोचर (असम्बद्ध) जानो, तो तुम निश्चिन्त हो जाओ।

भावार्थ :- जगत में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां मरण न हो; ऐसा कोई काल नही है, जब मृत्यु न हो; ऐसी कोई विधि नहीं है, जिससे मरण मिट जाये और ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे शरीर बच जाये। इसलिए सबको सर्वथा काल के वश जानकर आत्म-कल्याण का प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए। सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा किसी भी उपाय से कोई भी प्राणी काल से नहीं बच सकता।

स्त्री शरीर से प्रीति छोड़ने की प्रेरणा

आयु को विनश्वर बताते हुए और स्त्री की निन्दा करते हुए शरीर को अकल्याण का कारण आगामी छन्द में बताते हैं :-

हिरणी

अपिहितमहाघोरद्वारं न किं नरकापदा-
मुपकृतवतो भूयः किं तेन चेदमपाकरोत् ।
कुशलविलयज्वालाजाले कलत्रकलेवरे,
कथमिव भवानत्र प्रीतः पृथग्जनदुर्लभे ॥८०॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह सुन्दर नारी तन नरकादिक के महादु:ख का द्वार ।
यह तो तेरा हितनाशक है तू करता इसका उपकार ॥
पुण्य भस्म करने हेतु यह अग्नि ज्वाल के पुञ्ज समान ।
अत: प्रीति छोड़ो इससे, क्यों करो प्रीति यह दुर्लभ जान ॥८०॥

अर्थ :- तू इस स्त्री के कलेवर (शरीर) में क्यों प्रीति करता है ? यह कलेवर कल्याण को भस्म करने के लिए अग्नि-ज्वाला का समूह है । क्या तू प्रत्यक्ष नहीं देखता कि यह स्त्री का शरीर नरक की आपदा का खुला द्वार है । तू स्त्री के शरीर से बारम्बार अनुराग करके उसका उपकार करता है, जबकि वह तुझे सदा विघ्न करता है, इसलिए तू तरुणी के तन की प्रीति छोड़ । यद्यपि अज्ञानीजन इसे दुर्लभ मानते हैं लेकिन यह कुछ वस्तु ही नहीं है ।

भावार्थ :- स्त्री ही संसार का मूल कारण है, क्योंकि उससे पुत्र-पौत्र आदि सन्तान की प्रवृत्ति होती है । वह अनेक प्रकार के आरम्भ-परिग्रहादि की चिन्तारूप क्लेश को बढ़ानेवाली है ।

भूतकाल में जो निवृत्तिरूपी (मुक्तिरूपी) वधू के वर हुए हैं, वे सब इन स्त्रियों के त्याग से ही हुए हैं और इनके संपर्क से ही प्राणी चारों गतियों में भ्रमण करता है - ऐसा जानकर स्त्री का संसर्ग छोड़ देना चाहिए ।

मनुष्य पर्याय की काने गन्ने से तुलना

स्त्री की प्रीति छोड़कर इस असार मनुष्यभव को उत्कृष्ट धर्म करके सफल बनाने की शिक्षा आगामी छन्द में देते हैं :-

शार्दूल विक्रीडित

व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेऽप्यभोग्योचितं,
विश्वक्क्षुत्क्षतपातकुष्टकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम् ।
मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं नामैकरम्यं पुनः,
निस्सारं परलोकबीजमचिरात् कृत्वेह सारीकुरु ॥८१॥

विपदामय गाँठों से तन्मय नीरस जिसका अन्तिम भाग ।
नहीं भोगने योग्य मूल भी विविध रोग से ग्रस्त असार ॥
घुने हुए इक्षु सदृश तन नाम मात्र से है रमणीय ।
परभव का यह बीज बनाकर सारभूत यह तन करणीय ॥८१॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- यह मनुष्य शरीर घुन के द्वारा खाये हुए काने गन्ने के समान है, इसमें अनेक आपदारूपी गाँठें हैं, यह अन्त में नीरस है तथा मूल में भी खान योग्य नहीं है। इसके सर्वाङ्ग में क्षुधा, गूमड़ा, कोढ़, आदि भयानक रोगरूपी कुत्सित छिद्र हैं। इसका मात्र नाम ही रमणीय है, और तो यह सब प्रकार से असार है, अतः धर्म-साधन द्वारा पर-लोक का बीज बनाकर तू इसे शीघ्र सफल कर।

भावार्थ :- जिसप्रकार काने गन्ने के बीच-बीच में अनेक गाँठें होती हैं, उनमें रस नहीं होता; उसका मूल भाग (जड़) रस रहित है तथा अन्त भाग भी नीरस है। उसके बीच के हिस्से में भी अनेक घुनों द्वारा बनाए गए छिद्र होने से रस नहीं है। इसप्रकार यह काना गन्ना सब तरह से असार है, खाने योग्य नहीं है, मात्र इसका नाम ही अच्छा है। यदि उस गन्ने को बो दिया जाए तो उससे अनेक मीठे गन्ने उत्पन्न होंगे, इसलिए इसे बोकर ही इसका सदुपयोग करना चाहिए। इसीप्रकार इस मनुष्य पर्याय में अनेक आपत्तियां होने से इसमें सुख नहीं है। इसके आरम्भ की बाल्यावस्था तो सुखरूप नहीं है, अन्तिम वृद्धावस्था में भी सुख का स्वाद नही है। मध्यावस्था में भी सर्वत्र क्षुधा, पीड़ा, चिन्ता आदि अनेक रोग हृदय को छेद (अतिशय पीड़ा) देते हैं, जिससे वहाँ भी सुख नहीं है। इसप्रकार यह मनुष्य पर्याय नाम मात्र को ही अच्छी है। वास्तव में यह सब तरह से असार है। इसके द्वारा विषय-सुख भोगने योग्य नहीं हैं। यदि इसके द्वारा धर्म-साधन करके पर-लोक का बीजारोपण किया जाए तो इससे ही स्वर्ग-मोक्ष के अतिशय मधुर फल प्राप्त होंगे। इसलिए इस मनुष्य पर्याय को धर्म-साधन करके सफल करो - यह शिक्षा मानने योग्य है।

आयु की अनिश्चितता

मनुष्य शरीर में स्थित आत्मा क्या करता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

प्रसुप्तो मरणाशंकां प्रबुद्धो जीवितोत्सवम्।
प्रत्यहं जनयत्येष तिष्ठेत् काये कियच्चिरम् ॥८२॥

निद्रा में मृत की आशंका जागृति में जीवन-उत्सव।
नित्य मनाता है यह प्राणी कब तक थिर होगा नरभव ॥८२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- प्रतिदिन सोते समय मरण की आशंका उत्पन्न करता है और जागते हुए जीवन का उत्सव करता है - ऐसी दशा वाला यह जीव, शरीर में क्या चिरकाल तक रहेगा ? अपितु नहीं रहेगा।

भावार्थ :- यह जीव सोते समय मृतक के समान हो जाता है और जागने पर जीवित होता है। इसकी ऐसी दशा प्रतिदिन होती है। अत: जिसप्रकार छिपनेवाले का भरोसा नहीं कि वह कब भाग जाएगा, उसीप्रकार इस जीव का इस शरीर में रहने का कोई भरोसा नहीं। यह जीव शीघ्र ही शरीर को छोड़ देगा - ऐसा निश्चय करके करने योग्य कार्य कर लेना चाहिए।

कुटुम्बीजन हितकारी नहीं

इसप्रकार यह शरीर आत्मा का उपकार नहीं करता - यह कहकर कुटुम्बीजन भी आत्मा का हित करनेवाले नहीं है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

वसन्ततिलका

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्य-
माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम्।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात्
संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति ॥८३॥

बन्धु जनों ने करने योग्य किया क्या हित यह सत्य कहो ?
मरण बाद इस तन शत्रु को, मात्र करें वे भस्म अहो ॥८३॥

अर्थ :- हे आत्मन् ! तू सत्य कह ! क्या तूने इस संसार में बन्धुओं को उनके द्वारा करने योग्य हितरूप कार्य करते हुए पाया है ? हमें तो कुटुम्बियों द्वारा तेरा कुछ भी हित हुआ नहीं दिखता। उनका केवल इतना ही उपकार भासित होता है कि वे तेरे मरने के बाद इकट्ठे होकर तेरे इस शरीररूपी शत्रु को जला देते हैं।

भावार्थ :- जो अपना कुछ हित करें उन्हें भाई-बन्धु कहते हैं। अरे ! तू जिन्हें अपना भाई-बन्धु मानता है, उनने तेरा कुछ हित किया हो तो बता ! जिससे तेरा मानना सच हो जाए। शत्रु के शत्रु को मित्र कहते हैं। तेरे शरीररूपी शत्रु को तेरी मृत्यु के बाद जलाकर इन सबने तेरे बैर का बदला शरीर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से ले लिया। इनके द्वारा तेरा इतना ही हित करना हमें भासित होता है।

इसप्रकार यहाँ कुटुम्ब से हित नहीं होता - ऐसा जानकर उसके प्रति राग न करने की शिक्षा युक्ति पूर्वक दी गई है।

विवाहादि में सहायक बन्धुजन ही वास्तविक शत्रु

विवाहादि कार्य बन्धुओं द्वारा ही किये जाते हैं तो उनसे हित कैसे नहीं होता - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

जन्मसन्तानसंपादिविवाहादिविधायिनः ।
स्वाः परेऽस्य सकृत्प्राणहारिणो न परे परे ।।८४।।

विवाहादि संसार-विधायक कार्य स्व-जन जो करते हैं ।
वे ही शत्रु, अन्य नहीं इक बार प्राण जो हरते हैं ।।८४।।

अर्थ :- संसार की परम्परा बढ़ानेवाले विवाहादि कार्य करानेवाले अपने कुटुम्बीजन ही इस जीव के बैरी हैं। अरे एक बार प्राण हरनेवाले अन्य बैरी जन वास्तविक बैरी नहीं हैं।

भावार्थ :- तू एक बार प्राण लेनेवाले को अपना परम शत्रु मानता है, परन्तु उसके करने से प्राण-नाश तो होता नहीं, वह तो आयु का अन्त आने से होता है, इसलिए प्राण हरण करनेवाला परमार्थ से तेरा बैरी नहीं है। हाँ, विवाहादि कार्यों में जीव को उलझाकर, रागादि का निमित्त बनाकर, अनेक जन्म-मरण के कारणरूप कर्म-बन्ध कराके तेरा बुरा करनेवाले बन्धुजन ही परमार्थ से तेरे बैरी हैं।

जिसप्रकार पुराना कर्ज चुकवानेवाला अपना बैरी नहीं है, अपितु नवीन कर्ज कराने वाला बैरी होता है; उसीप्रकार प्राण हरनेवाला तो पूर्व-कर्म की निर्जरा करानेवाला होने से अपना बैरी नहीं है, अपितु नवीन कर्म-बन्ध का कारण उत्पन्न करनेवाले बन्धुजन ही बैरी हैं; इसलिए ऐसा जानकर, इन्हें हितकारी नहीं मानकर इनसे राग नहीं करना चाहिए।

तृष्णारूपी अग्नि में जलने पर शान्ति की भ्रान्ति

बन्धुजन विवाहादि द्वारा धन-धान्य, स्त्री आदि इष्ट वस्तु को उत्पन्न करनेवाले होने से वाञ्छित प्रयोजन की सिद्धि करनेवाले हैं, इसलिए इन्हें शत्रु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कहना उचित नहीं है - इस शंका का समाधान आगामी छन्द में करते हैं :-

अनुष्टुप छन्द

धनरन्धनसंभारं प्रक्षिप्याशाहुताशने ।
ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं संधुक्षणक्षणे ॥८५॥

आशानल[1] में धन-ईंधन क्षेपण करता है होकर भ्रान्त ।
उस अग्नि को ज्वलन काल में प्राणी माने भ्रमवश शान्त ॥८५॥

अर्थ :- यह जीव भ्रम सहित होने से आशारूपी अग्नि में धनरूपी ईंधन के समूह को डालकर उसकी वृद्धिरूप संधुक्षण[2] के समय जलते हुए अपने आत्मा को शान्त और सुखी हुआ मानता है।

भावार्थ :- जिसप्रकार थोड़ी अग्नि में स्वयं जलता हुआ कोई पागल व्यक्ति उस अग्नि में ईंधन डालकर बहुत अधिक जलते हुए अपने को शीतल हुआ मानता है, उसीप्रकार यह मूढ़ आत्मा भ्रम से आशा के वश होकर दुःखी हो रहा है,पश्चात् उस आशारूपी अग्नि में धनादि सामग्री डालकर उस आशा को बढ़ाकर अत्यन्त दुःखी होने पर भी अपने को सुखी मानता है। परमार्थ से वह सुखी नहीं है। धनादि सामग्री मिलने पर तृष्णा बढ़ने से दुःख ही बढ़ता है, इसलिए धनादि दुःख के ही कारण हैं। धनादिक के कारणभूत कुटुम्बादिक को भी दुःख के ही कारण होने से अपना शत्रु जानना चाहिए।

बाल सफेद होने का यथार्थ आशय

भ्रमरूप मान्यता होने पर तेरी क्या-क्या दशा हो रही है - इसका वर्णन आगामी छन्द में करते हैं :-

आर्या

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः ।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति ॥८६॥

बुद्धि की निर्मलता जाती मानो धवल केश के द्वार ।
अतः बिचारे वृद्ध पुरुष कैसे परभव का करें विचार ॥८६॥

---

१. आशारूपी अग्नि २. जलती हुई अग्नि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- श्वेत केशों के बहाने इस शरीर से तेरी बुद्धि की शुद्धता ही निकल कर बाहर जा रही है। अतः वृद्धावस्था में असमर्थ होने पर तू पर-लोक के लिए विचार कैसे कर सकता है ? क्योंकि इस अवस्था में तो कुछ भी विचार ही नहीं हो सकता है।

भावार्थ :- तू ऐसा सोचता है कि यौवन में धन, स्त्री आदि सामग्री द्वारा इस लोक के सुख भोग लूँ, फिर वृद्धावस्था में धर्म करके पर-लोक का यत्न करूँगा। वृद्धावस्था में जो बाल सफेद हो जाते हैं सो हम ऐसा मानते हैं, मानो सफेद बालों के रूप में तेरी बुद्धि की शुद्धता निकल रही है (अर्थात् बुद्धिमत्ता का अभाव हो रहा है) बुद्धि का अभाव होने पर लौकिक कार्यों का विचार भी नहीं हो सकता तो आगामी पर-लोक का विचार कैसे हो सकता है ? इसलिए वृद्धावस्था आने के पहले ही धनादि को दुःख का कारण जानकर पर-लोक के लिए प्रयत्न करना योग्य है।

संसार-समुद्र का स्वरूप

शुद्ध बुद्धि सहित तथा मोह रहित होकर पर-लोक के लिए चिन्ता करनेवाले जीव बहुत कम हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

इष्टार्थोद्यदनाशितं भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुरन्-
नानामानसदुःखवाडवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे ।
मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले संसारघोरार्णवे
मोहग्राहविदारितास्यविवराद् दूरे चरा दुर्लभाः ॥८७॥

इष्ट-अर्थ सेवन-सुखरूपी खारे जल से भरा हुआ ।
अन्तर में नाना मानस दुःख बड़वानल से तप्त हुआ ॥
जन्म-मृत्यु अरु जरा तरङ्गें उछलें जिस भवसागर में ।
मुँह फाड़े इस मोह-मच्छ से दूर प्रवर्तक[१] दुर्लभ हैं ॥८७॥

अर्थ :- संसार-समुद्र में मोहरूपी ग्राह (मगरमच्छ) के फाड़े हुए मुख से दूर रहनेवाले जीव दुर्लभ हैं। यह संसार-समुद्र इष्ट विषयों से उत्पन्न सुखरूपी

१. *मोहरूपी मच्छ से दूर रहनेवाले।*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

खारे जल से भरा है । जिसप्रकार समुद्र का खारा जल पीने पर भी प्यास नहीं बुझती, उसीप्रकार संसार-समुद्र के विषय-सुखरूपी जल से तृप्ति नहीं होती ।

यह संसार-समुद्र अनेक प्रकार के मानसिक दुःखरूपी बडवानल से तप्त है । जिसप्रकार बड़वाग्नि द्वारा समुद्र का जल सोखा जाता है, उसीप्रकार संसार के मानसिक दुःख, विषय-सुख नहीं भोगने देते, अतः ये संतापरूप हैं ।

यह संसार-समुद्र जन्म-मरण-जरारूपी तरंगो से चञ्चल है । जिसप्रकार समुद्र में लहरें उछलती हैं, उसीप्रकार संसार में जन्म-जरा-मरणादि अवस्थायें होती रहती हैं ।

ऐसे संसार-समुद्र में मोहरूपी मगरमच्छ अपना मुख फाड़ रहा है अर्थात् उसका उदय व्यक्त हो रहा है । मोहरूपी मगरमच्छ के मुख से दूर रहनेवाले अर्थात् मोह के उदय में तद्रूप होकर विकारी न होनेवाले जीव थोड़े हैं । यदि संसार में ऐसे जीव अधिक हों तो संसार कैसे चलेगा ? अतः ऐसे जीव थोड़े ही हैं, इसलिए संसार चल रहा है ।

ज्ञान-ज्योतिवन्त जीव धन्य हैं

तू मोह के मुख से दूर विचरते हुए कठोर आचरण पालनेवाला है, तेरे द्वारा पूर्व में अच्छी तरह पाला हुआ शरीर हिरणियों द्वारा देखा जाता है; अतः तू धन्य है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

मन्दाक्रान्ता

अव्युच्छिन्नैः सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यैः
श्यामाङ्गीनां नयनकमलैरर्चिता यौवनान्तम् ।
धन्योऽसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधेर्मृगीभि
र्दग्धारण्ये स्थलकमलिनीशंकयालोक्यते ते ।।८८।।

अहो ! निरन्तर सुख-सामग्री सेवन करती रमणी के ।
चञ्चल एवं अति रमणीय मनोहर कमल-नयन दल से ।।
यौवन में अर्चित तन तेरा, धन्य ! जगी जब ज्ञान-ज्योति ।
हिरणी तुझको देखे वन में होती थलकमलिनी[१] की भ्रान्ति ।।८८।।

अर्थ :- ग्रहस्थाश्रम में अविच्छिन्न सुखों में पला और मनोहर अंगों से युक्त स्त्रियों के चपल नेत्र-कमलों द्वारा सम्मानित एवं रमणीय शरीर था परन्तु

१. *भूमि पर होनेवाली कमलिनी*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अब यौवन अवस्था में बोधि प्राप्त एवं पूज्य होने पर तेरा वह शरीर भस्म हो गया,अत: वन में हिरणियों द्वारा कमलिनी की आशंका से देखा जाता है; अत: तू धन्य है।

भावार्थ :- जीवों की ऐसी प्रवृत्ति है कि उन्हें जैसा अभ्यास होता है वे वैसी ही प्रवृत्ति करते हैं, इसलिए बहुत से जीव तो मनुष्य भव पाकर दु:ख ही सहते हैं (अर्थात् उनसे दु:ख सहन हो जाता है), परन्तु कुछ लोग पूर्व पुण्योदय से सुख समाज स्त्री आदि कारणों से बहुत सुखी होने पर भी, ज्ञान होने पर यौवनावस्था में ही दीक्षा लेकर तप करते हैं; उन्हें हिरणी जैसा चंचल जीव जले हुए ठूँठ के समान देखता है, अत: वे जीव धन्य हैं, सर्व प्रकार स्तुति करने योग्य हैं।

देखो ! आत्मज्ञान की कोई ऐसी ही महिमा है। परम सुखी तीर्थंकर और चक्रवर्ती भी दीक्षा लेकर सुमेरू पर्वत के समान निश्चल हो गए। बाहुबली आदि ने ऐसा प्रतिमा योग धारण किया कि उनके शरीर से बेलें लिपट गईं। जिन सुकुमालजी को सरसों भी चुभती थी, उन्हें स्यालिनी खाने लगी, तो भी वे निश्चल रहे। ऐसे अनेक पुरुष भूतकाल में हुए हैं - वे सब धन्य हैं।

बाल्यादि तीनों अवस्थाओं में धर्म की दुर्लभता

तेरा जन्म भी इसीप्रकार सफल होगा, अन्य प्रकार से नहीं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं,
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन् वने यौवने।
मध्येवृद्धतृषार्जितुं वसु पशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
वार्द्धिक्येऽर्धमृतः क्व जन्म फलि ते धर्मो भवेन्निर्मलः॥८९॥

पूर्ण अङ्ग बिन बाल्यकाल में जाने नहिं हिताहित क्या ?
यौवन में कामान्ध, कामिनी-द्रुम से सघन विपिन भ्रमता ॥
मध्यकाल में तृष्णावश कृषि आदि क्लेश होते पशु तुल ।
अर्धमृतक वृद्धावस्था, कब करे धर्म से जन्म सफल ? ॥८९॥

अर्थ :- बाल्यावस्था में अविकसित अंगों सहित होने से तू हित या अहित कुछ भी नहीं जानता है। यौवन में स्त्रीरूपी वृक्षों से युक्त सघन वन में

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भ्रमण करते हुए कामान्ध होता है। मध्य वय में अति तृष्णा से धन कमाने के लिए खेती आदि कार्यों में पशुओं के समान भार वहन करता हुआ दुःखी होता है और वृद्धावस्था में अर्धमृतक हो जाता है। इसप्रकार तेरा मनुष्यभव सफल कैसे होगा ? और तुझे निर्मल धर्म कब प्राप्त होगा ?

भावार्थ :- सभी पर्यायों में मनुष्य पर्याय धर्म-साधन में कारण कही गई है। धर्म-साधन करने में ही मनुष्य पर्याय की सफलता है, परन्तु तेरी मनुष्य पर्याय सफल कैसे होगी ? क्योंकि बालकपन में तुझे हित-अहित का कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। जवानी में स्त्री का रसिक होकर तू कामान्ध हो जाता है। मध्य अवस्था में कुटुम्बादि की वृद्धि होने से सबके पालन-पोषण के लिए धनोपार्जन के लिए खेद-खिन्न होता है, तथा बुढ़ापा आने पर इन्द्रिय और मन शिथिल होने से तू अर्धमृतक के समान हो जाता है। ऐसी स्थिति में तू धर्म का साधन कब करेगा ? तथा तेरा मनुष्य जन्म सफल कैसे होगा ?

इस प्रकार बाल और वृद्धावस्था में तो तेरा वश नहीं है[१], अतः यौवनावस्था और मध्यावस्था में स्त्री-कुटुम्बादि का राग छोड़कर धर्म-साधन करने से ही तेरा मनुष्य जन्म सफल हो सकता है।

बाल्यादि तीनों अवस्थाओं में कर्म जनित दुःख

उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं में कर्म तेरा बुरा ही करने वाले हैं, अतः उनके वशीभूत होना योग्य नहीं है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्तुं च तन्नोचितं,
मध्ये चापि धनार्जनव्यतिकरैस्तन्नास्ति यन्नापितः।
वार्द्धिक्येऽप्यभिभूय दन्तदलनाद्याचेष्टितं निष्ठुरं,
पश्याद्यापि विधेर्वशेन चलितुं वाञ्छस्यहो दुर्मते ॥९०॥

विधि ने बाल्यकाल में तेरा अहित किया जो विस्मरणीय।
मध्यकाल नहिं दिए कौन दुःख धन-अर्जन में नहिं सहनीय॥
दन्त-दलन आदि चेष्टा से किया बुढ़ापे में अपमान।
फिर भी विधि के वश में हो चलना चाहे तू दुर्मतिमान ॥९०॥

---

१. इन अवस्थाओं में कुछ भी धर्म-कार्य नहीं किया जा सकता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- इस पर्याय में कर्मों ने बाल्यावस्था में तेरा जो कुछ भी बुरा किया वह याद करने योग्य भी नहीं है। मध्यावस्था में धनोपार्जन के उपायों में ऐसा कोई दुःख बाकी नहीं रहा, जो कर्मों ने तुझे न दिया हो। उन्होंने वृद्धावस्था में दाँत उखाड़ना आदि कठोर चेष्टाओं द्वारा तेरा अपमान किया - यह सब देखकर भी हे दुर्बुद्धि! तू अब भी इन कर्मों के वश होकर रहना चाहता है।

भावार्थ :- लोक में एक बार भी अपना बुरा करनेवाले को अपना बैरी जानकर कोई उसके आधीन नहीं रहना चाहता, उसका नाश करने का ही विचार करता रहता है। अनादि से इन कर्मों ने तेरा जो बुरा किया है उसका तो तुझे स्मरण नहीं है; परन्तु इस पर्याय में बाल्यावस्था में गर्भ, जन्म, शरीर की वृद्धि आदि दशायें करके मध्य अवस्था में धनोपार्जन आदि क्रियायें करके में और वृद्धावस्था में दाँत तोड़ना आदि से अपमान करके इन कर्मों ने तेरा जो बुरा किया, उसे तू प्रत्यक्ष देखता है; फिर भी तू कर्मों के ही आधीन रहना चाहता है, इनके नाश का उपाय नहीं करता। अतः तेरी यह पुरुषार्थहीनता तुझे ही दुःखदायक होगी।

वृद्धावस्था से आत्महित की प्रेरणा

इन्द्रियों की ऐसी प्रवृत्ति देखते हुए तुझे निश्चिन्त रहना योग्य नहीं है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

अश्रोत्रीव तिरस्कृतापरतिरस्कारश्रुतीनां श्रुतिः,
चक्षुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशां दूष्यामि वान्ध्यं गतम्।
भीत्येवाभिमुखान्तकादतितरां कायोऽप्ययं कम्पते,
निष्कम्पस्त्वमहो प्रदीप्तभवनेप्यास्से जराजर्जरे ॥९१॥

तिरस्कारमय वचन न सुनना पड़ें अतः बहरे हैं कान।
निंद्य दशा नहिं देख सकें इसलिए नेत्र में अन्धापन॥
यम को सन्मुख लख कर भय से कम्पन होता है तन में।
निश्चल है तू जलते घर सम जीर्ण जरामय इस तन में॥९१॥

अर्थ :- वृद्धावस्था में दूसरों द्वारा किये गये अपमान, निंदा और तिरस्कार पूर्ण वचनों को कान सुनना नहीं चाहते; इसलिए मानो वे सुनने की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शक्ति रहित हो गए हैं। तेरी निंद्य दशा को देखने में नेत्र असमर्थ हैं, इसलिए मानो वे अन्धे हो गये हैं और सन्मुख आये हुए काल से डरकर शरीर काँप रहा है। इसप्रकार बुढ़ापे से जीर्ण और जलते हुए शरीररूपी भवन में तू निश्चल बैठा है - यह बड़े आश्चर्य की बात है।

भावार्थ :- मरण तो हर हालत में होना ही है अतः समझदार व्यक्ति निश्चिंत नहीं रहते, मरण से पहले ही पर-लोक का प्रयत्न करते हैं। वृद्धावस्था के बाद तो मरण होने का नियम ही है और विषयादि की कारणभूत इन्द्रियाँ शिथिल होने पर भी तू यहीं रहने की आशा से निश्चिंत हो रहा है। जिसप्रकार आग से जलते हुए भवन में किसी को निश्चिंत होकर बैठे देखकर आश्चर्य होता है, उसीप्रकार तेरी दशा देखकर हमें आश्चर्य होता है। निश्चिंत रह कर तू बचने का उपाय नहीं करता, अतः तुझे सावधान किया है।

विषयी जीवों को युक्तिपूर्वक उपालम्भ

उक्त निश्चिंत जीव को आगामी छन्द में शिक्षा देते हैं :-

आर्या

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवादः।
त्वं किमिति मृषा कुरुषे दोषासक्तो गुणेष्वरतः ॥९२॥

अति परिचित में होय अवज्ञा नूतन में होती है प्रीति।
गुण में अरति दोष में रति कर क्यों झूठी करता जग-रीति ॥९२॥

अर्थ :- जिनसे अत्यधिक परिचय और सम्पर्क होता है, उनके प्रति अनादर भाव तथा नवीन विषयों के प्रति प्रीति भाव होता है - ऐसी लोकोक्ति है, परन्तु तू अति-परिचित रागादि दोषों में आसक्त रह कर और सम्यग्दर्शनादि नवीन गुणों में प्रीति न करके इस लोकोक्ति को मिथ्या कैसे करता है?

भावार्थ :- लोक में तो प्रसिद्ध है कि जिसका सेवन बहुत किया जा चुका हो उसके प्रति अनादर होता है और जो अपूर्व वस्तु मिलती है, उसमें प्रीति होती है। लेकिन रागादि का सेवन तो तूने अनादि से किया है, परन्तु उनमें तेरी आसक्ति पायी जाती है, तथा सम्यग्दर्शनादि का लाभ अपूर्व है, परन्तु उनमें तेरी प्रीति नहीं है। सो यह लोक प्रसिद्ध वचन झूठे कैसे करता है। इसका बड़ा आश्चर्य है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

व्यसनी को हिताहित का अभाव

दोषों में आसक्त एवं व्यसनी होकर हित-अहित की भावना न करके तूने संसार में जन्म-मरणादि अनेक दुःख पाए हैं - यह बात आगामी छन्द में दृष्टान्त सहित समझते हैं :-

वसन्ततिलका

हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसापि,
नो संगतं दिनविकासि सरोजमित्थम् ।
नालोकितं मधुकरेण मृतं वृथैव प्रायः,
कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेकः ।।९३।।

हंसों द्वारा भुक्त[1] नहीं होता जल से अलिप्त रहता ।
अतः कठोर कमल जो केवल दिवस-काल में ही खिलता ।।
यह विचार नहिं करें, गन्ध में मुग्ध भ्रमर करते प्राणान्त ।
कहाँ हिताहित का विवेक ? जो व्यसनों में होते हैं भ्रान्त ।।९३।।

अर्थ :- यह कमल का फूल हंसों द्वारा भोग्य नहीं है, अति कठोर है, जल में भी तन्मय नहीं होता और दिन में खिलता है - इसप्रकार कमल के स्वरूप का विचार न करता हुआ भौंरा गन्ध का लोभी होकर व्यर्थ ही मृत्यु को प्राप्त होता है । उसीप्रकार व्यसनी को व्यसन की तीव्रता से अपने हित-अहित का विवेक कहाँ से होगा ? अर्थात् नहीं होगा ।

भावार्थ :- यहाँ अन्योक्ति अलंकार द्वारा दृष्टांत से ही दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) समझाया गया है । जिसप्रकार भौंरा गन्ध के लोभ से कमल में बैठता है परन्तु यह विचार नहीं करता कि हंसों ने इसका सेवन नहीं किया, यह कठोर है, जल से भिन्न ही रहता है और रात्रि में बन्द हो जाता है । वह तो अति आसक्त होकर उस कमल में ही मृत्यु को प्राप्त होता है । उसीप्रकार सुख के लोभ से विषयों का सेवन करता हुआ सरागी जीव यह विचार नहीं करता कि महान पुरुषों ने इन विषयों का सेवन नहीं किया, ये विषय कठोर और दुःखदायक हैं, निर्मल आत्म-स्वभाव से भिन्न ही रहते हैं और पाप का उदय आने पर बिखर जाते हैं । यह सरागी जीव तो व्यर्थ ही पाप का बन्ध करके

१. भक्षण किया गया

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नरकादि का पात्र होता है, क्योंकि व्यसनी जीवों को अपने हित का विचार नहीं हो सकता। विषयासक्ति के कारण पहले तो कुछ भासित नहीं होता लेकिन उसके फल में स्वयं ही दुःख भोगता है।

बुद्धिमानों का प्रमादी होना शोचनीय

सम्यग्ज्ञान का अभाव होने से यह जीव अपने दोषों को नहीं देखता अतः संसार में भ्रमण करते हुए इस जीव को सम्यग्ज्ञान प्राप्त होना अति दुर्लभ है - यह बात *आगामी छन्द में कहते हैं :-*

अनुष्टुप्

प्रज्ञे दुर्लभा सुष्टु दुर्लभा सान्यजन्मने ।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ते ते शोच्याः खलु धीमताम् ।।९४।।

सद्‌बुद्धि होना दुर्लभ है, अति दुर्लभ विचार परलोक ।
बुद्धि प्राप्त कर रहें प्रमादी, अतः ज्ञानियों को है सोच ।।९४।।

अर्थ :- संसार में विचारशक्ति रूप बुद्धि होना दुर्लभ है, और पर-लोक के लिए प्रवर्तनेवाली बुद्धि होना तो अति दुर्लभ है। अतः ऐसी बुद्धि प्राप्त करके भी प्रमादी रहनेवाले जीव ज्ञानियों द्वारा सोचने योग्य हैं।

भावार्थ :- एकेन्द्रिय, असंज्ञी और कुछ अपर्याप्तक संज्ञी जीवों को मन सम्बन्धी से विचार ही नहीं है तथा उन्हें संसार में इन्हीं पर्यायों में बहुत काल भ्रमण करना पड़ता है, इसलिए प्रथम तो बुद्धि की प्राप्ति होना ही कठिन है। यदि कदाचित् किसी को बुद्धि की प्राप्ति भी हो जाए तो पर-लोक के लिए धर्मरूप विचार होना महाकठिन है। अनन्त बार मन सहित होने पर भी किसी जीव को ही धर्म-बुद्धि होती है। जो जीव महाभाग्य से धर्म-बुद्धि पाकर भी सावधान नहीं रहते, धर्म-साधन में शिथिल रहते हैं, ज्ञानियों को उनकी चिन्ता होती है कि ऐसा अवसर पाकर चूकनेवालों की होनहार कैसी होगी ? इसलिए धर्म-बुद्धि पाकर प्रमादी होना योग्य नहीं है।

ज्ञानियों का राजादिक का दास होना विचारणीय

धर्म-बुद्धि के धारक और पराक्रमी होने पर भी लक्ष्मी के विलास की अभिलाषा से राजा आदि की सेवा करनेवालों के प्रति पश्चाताप व्यक्त करते हुए आगामी छन्द में कहते हैं :-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वसन्ततिलका

लोकाधिपाः क्षितिभुजो भुवि येन जाताः
तस्मिन् विधौ सति हि सर्वजनप्रसिद्धे ।
शोच्यं तदेव यदमी स्पृहणीयवीर्या-
स्तेषां बुधाश्च वत किंकरतां प्रयान्ति ॥९५॥

जिससे हुए लोकपति राजा जन-प्रसिद्ध वह धर्म-विधान ।
सोचनीय ! सक्षम होकर भी ज्ञानी नृप के किंकर जान ॥९५॥

अर्थ :- जिस धर्म-साधन से राजा आदि लोक के स्वामी होते हैं, उसी लोक-प्रसिद्ध धर्म-साधन से युक्त तथा वाञ्छित पराक्रम युक्त ज्ञानी भी राजाओं के किंकरत्व(सेवकपने) को प्राप्त होते हैं - यह सोचनीय बात हैं । वे ऐसा कार्य क्यों करते हैं ? उनके बारे में विचार करने से ही हमें खेद होता है ।

भावार्थ :- इस लोक में प्रसिद्ध हैं कि राज-पद धर्म की प्राप्ति होना धर्म का फल है । तथा धर्म सागर की सब यह जीव अत धर्म-साधन की सामग्री मिलने से ही धर्म-साधन हो सकता है । जो जीव अत्यन्त पराक्रमी होने से धर्म-साधन में समर्थ हैं और ज्ञानी होने से धर्म के फल को पहिचानते हैं, फिर भी वे धर्म-साधन तो नहीं करते और धनादि के लोभ से राजा आदि की सेवा करते हैं। हमें उनकी चिन्ता है कि राजा ने जिसका सेवन करके राज्य प्राप्त किया - ऐसे धर्म का सेवन छोड़कर वे राजा की सेवा क्यों करते हैं ? यहाँ यह आशय है कि धर्म का सेवन छोड़कर अन्य कार्य करना योग्य नहीं है ।

धर्म प्राप्ति का विधान

आगामी छन्द में जिसके चरणों में दूसरों का मस्तक झुका है ऐसे कृष्ण नामक राजा द्वारा रखे हुए निधान का स्थान बताने के बहाने धर्मरूपी निधान की प्राप्ति का उपाय दिखाते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावंशाः प्रदेशः परः,
प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधनाः मूर्ध्ना ध्रियन्ते श्रियै ।
भूयांस्तस्य भुजङ्गदुर्गमतमो मार्गो निराशस्ततो,
व्यक्तं वक्तुमयुक्तमार्यमहतां सर्वार्यसाक्षात्कृतः ॥९६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

महावंश का धारक भूभृत जिसका वह उत्कृष्ट प्रदेश ।
मात्र बुद्धि से अन्त ज्ञात हो उन्नत शिखरों सहित नगेश ॥
सर्पों द्वारा दुर्गम एवं दिशा शून्य है विस्तृत मार्ग ।
महापुरुष कह सके नहीं सर्वार्य[१] किया है साक्षात्कार ॥९६॥

अर्थ :- इस छन्द में श्लेषालंकार का प्रयोग किया गया है। पहले अर्थ में किसी कृष्ण नाम के राजा के दुर्गम स्थान में छिपे निधान को सर्वार्य नामक मन्त्री द्वारा प्रगट करने का वर्णन किया गया है और दूसरे अर्थ में धर्म के लक्षण आदि का वर्णन किया है।

प्रथम अर्थ - पर्वतों से युक्त कोई उत्कृष्ट प्रदेश था। उस पर्वत पर इतने बड़े-बड़े बॉस थे कि जिनका अन्त बुद्धि से ही जाना जा सके। उनके शिखर मानो शोभा के लिए ऊँचाईरूपी धन से युक्त होने के कारण अत्यन्त ऊँचे थे। उन तक पहुँचने का मार्ग अत्यन्त विस्तृत था। परन्तु सर्पादि के कारण शत्रुओं के लिए अत्यन्त दुर्गम था। उस मार्ग में दिशाओं की शुद्धि नहीं थी (दिशाऐं स्पष्ट ज्ञात नहीं होती थी) अर्थात् वह प्रदेश सर्व साधारण के लिए अज्ञात और विषम था। फिर भी किसी राजा के सर्वार्य नामक मन्त्री ने वहाँ जाकर उसे प्रत्यक्ष देखा - इसप्रकार प्रथम अर्थ में सर्वार्य मन्त्री की प्रशंसा की है।

द्वितीय अर्थ - प्रदिश्यते अर्थात् जिसमें पर को सम्बोधित किया जाए - ऐसा प्रदेशरूपी धर्म उत्कृष्ट है। क्योंकि लोग लक्ष्मी के लिए राजाओं को मस्तक झुकाते हैं - यह धर्म का ही फल है। वे राजा इक्ष्वाकु आदि वंश के धारक हैं, बुद्धि के पार को प्राप्त हुए हैं (अत्यन्त बुद्धिमान हैं), महान हैं और धन के विपुल भंडार के धारी हैं। वे राजा जिस धर्म के होने से प्रधान होते हैं, उस धर्मरूप प्रदेश तक पहुँचने का मार्ग दान-व्रतादि के भेदों से अनेक प्रकार का है, वाञ्छा रहित है और भुजङ्गों अर्थात् कामी पुरुषों के लिए दुर्गम है, अगोचर है । अरे ! सज्जन पुरुषों में प्रधान हम जैसे लोग भी धर्म का मार्ग बताने में असमर्थ हैं, अर्थात् हमारी इतनी शक्ति नहीं है कि हम उसे प्रगट कर सकें। समस्त आर्य अर्थात् गणधरादि सत्पुरुषों द्वारा अथवा सबके द्वारा पूज्य ऐसे सर्वार्य अर्थात् सर्वज्ञ देव द्वारा धर्म का मार्ग प्रगट किया गया है, तथा यही मार्ग सबके द्वारा प्रतीति करने योग्य है।

---

१. सर्वार्य नामक मन्त्री अथवा समस्त आर्य पुरुषों द्वारा पूज्य सर्वज्ञदेव।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- यहाँ प्रथम अर्थ में सर्वार्य नामक मन्त्री की प्रशंसा की गई है और दूसरे अर्थ में धर्म का फल एवं धर्म का मार्ग प्रगट करनेवालों का स्वरूप कहा है।

यतियों का पर-हित के प्रति अनुराग

शरीरादि के प्रति वैराग्य उत्पन्न करके जीव को धर्म और धर्म का मार्ग दिखानेवाले मुनिराज का वर्णन करते हैं। उन मुनिराज को फल की कुछ भी इच्छा नहीं है। पर का उपकार करने के लिए ही उनकी प्रवृत्ति होती है, क्योंकि "परोपकाराय सतां हि चेष्टितम्" - ऐसा नीति का वचन है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शिखरणी

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेऽपि निवसन्
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम् ।
इमां दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः ॥९७॥

सर्व दुःखों की जनक सर्वथा अशुचि देह में रहकर भी ।
नहिं विरक्त होता है प्राणी करे प्रीति दुःख सहकर भी ॥
ऐसी दशा देख कर यतिगण हमें जगाते हैं वैराग ।
इस तन से अब हो विरक्त ! देखो इनका पर-हित अनुराग ॥९७॥

अर्थ :- सर्व प्रकार से अपवित्र और अनेक शारीरिक व मानसिक दुःखोंवाले इस शरीर में रहता हुआ यह संसारी जीव इससे विरक्त नहीं होता, अपितु इसे देखकर अधिक प्रीति करता है। "क्या यह जीव इस शरीर को देखकर अधिक प्रीति नहीं करता, अपितु अवश्य ही करता है"- यह काकाख्यान अर्थात् मिथ्या गुरुओं द्वारा दिया गया मिथ्या उपदेश है। परन्तु महामुनिराज इन जीवों को भी सारभूत उपदेश देकर शरीर से विरक्त करने का प्रयत्न करते हैं। महान मुनियों का पर-हित के प्रति ऐसा अनुराग देखने योग्य है।

भावार्थ :- अन्य जीव जिसे अच्छा समझें, वैसी शिक्षा देनेवाले तो बहुत हैं; परन्तु मुनिराज को पर-हित का ऐसा अनुराग है कि वे शरीर में आसक्त जीवों को विरक्त करते हैं। यह जीव, शरीर को अपवित्र और दुःख का कारण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रत्यक्ष देखता है तो भी इससे विरक्त नहीं होता, इसी में अति प्रीति करता है; परन्तु जिसप्रकार दीपक में गिरते हुए पतंगों को कोई दयावान बचाता है, उसीप्रकार मुनिराज इस जीव को उपदेश देकर शरीर से विरक्त करते हैं। यद्यपि वे यह जानते हैं कि इसे हमारा उपदेश कड़वा लगेगा, तथापि वे इसे दुःखी जानकर दया करके उपदेश देते हैं। उन मुनियों को अन्य कोई अभिलाषा नहीं है। देखो ! महान पुरुष ऐसे परोपकारी होते हैं।

शरीर : समस्त आपदाओं का स्थान

शरीर से विमुख न होते हुए जीव को मुनिराज सारभूत उपदेश देकर शरीर से विमुख क्यों करते हैं - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

वसंततिलका

इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन,
भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तभुक्तम् ।
एतावदेव कथितं तव संकलय्य,
सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम् ॥९८॥

यह शरीर ऐसा वैसा है बहुत कथन में क्या है सार ।
तूने बार-बार भोगा सब दुःख का घर यह समझो सार ॥९८॥

अर्थ :- यह शरीर ऐसा है, वैसा है - इसप्रकार बहुत कहने से क्या साध्य है ? हे जीव ! तूने इस संसार में शरीर को बारम्बार भोगा और छोड़ा। संक्षेप में तुझसे इतना ही कहना है कि यह शरीर ही जीवों के लिए सर्व आपदाओं का स्थान है।

भावार्थ :- दार्ष्टान्त (सिद्धान्तरूप उपदेश) तो बहुत कहा। तेरा भला न होना हो तो कितना भी कहें सब निष्फल है। तूने ही अनादि से शरीर धारण करके अनेक दुःख भोग कर, उसे छोड़कर पुनः नवीन शरीर धारण किया। अतः संक्षेप में हम इतना ही कहते हैं कि यह शरीर ही जन्म-मरण, क्षुधा-तृषा रोगादि सर्व दुःखों का स्थान है। इसलिए शरीर से विरक्त होकर ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे शरीर का सम्बन्ध ही न हो।

गर्भावस्था के दुःख

इस शरीर को ग्रहण करते हुए गर्भावस्था में तेरी क्या दशा हुई - यह बात

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगामी छन्द में कहते हैं :-

मन्दाक्रान्ता

अन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्तः प्रतीच्छन्,
कर्मायत्तः सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्ध्या ।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो,
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि ॥९९॥

भक्षित अन्न हेतु मुँह फाड़े क्षुधा-तृषा पीड़ित हो दीन ?
बढ़ने की आकांक्षा से हो मात-गर्भ में कर्माधीन ॥
कृमि समूह सह जन्म-क्लेश से डरकर रहता है निस्पन्द ।
मरण जन्म का कारण अतः मरण-भय से होता आक्रान्त ॥९९॥

अर्थ :- हे प्राणी ! कर्माधीन होकर तू माता के उदर रूपी विष्टा स्थान में रहा और बढ़ने के लोभ से बहुत काल तक माता के चबाए हुए अन्न को भक्षण करना चाहा। तथा पानी की एक बूँद मेरे मुख में पड़ जाए - इस आशा से मुख फाड़े रहा अर्थात् क्षुधा-तृषा से अत्यन्त पीड़ित हुआ। उदर के सिकुड़े स्थान में हिले-डुले बिना वहाँ उत्पन्न होनेवाली लटों (कीड़ों) का सहचारी होकर रहा। गर्भावस्था में ऐसी दशा होती है, इसलिए हे प्राणी ! मैं ऐसा मानता हूँ कि जन्मावस्था के क्लेश से डरकर ही तू जन्म के कारणभूत मरण से डरता है।

भावार्थ :- हे जीव ! इस शरीर के प्रति राग से होनेवाले नरकादि के दुःखों की बात तो दूर रही, यह उत्तम मनुष्य पर्याय प्राप्त करने के लिए गर्भ में तूने कैसे दुःख भोगे, उनका चिन्तवन तो कर ! इसी कारण हम तो यह मानते हैं कि मरण के बाद पुनः जन्म धारण करना पड़ेगा, इसलिए तू मरण से डरता है। तूने जन्म लेने में जो दुःख भोगे हैं, उनके भय से ही तुझमें मरण का भय पाया जाता है। इसप्रकार शरीर की उत्पत्ति में दुःख जानकर ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे जन्म के दुःख न भोगना पड़ें।

अज्ञानी की मूर्खता

सम्यग्दर्शन होने के पहले तूने जितने भी कार्य किए उनसे तेरा ही घात हुआ - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वंशस्थ

अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वयाविकल्पमुग्धेन भवादितः पुरा।
यदत्र किञ्चित् सुखरुपमाप्यते तदार्य विद्धयन्धकवर्तकीयम्॥१००॥

प्राणी तूने किया आज तक अजा-कृपाणीय[१] सम कार्य।
सुख सामग्री मिले यहाँ जो अन्धक-वर्तकीय सम न्याय॥१००॥

अर्थ :- हे भोले प्राणी ! यह पर्याय प्राप्त करने के पूर्व तूने अजा-कृपाणीय के समान कार्य किया। जिसप्रकार कोई व्यक्ति किसी बकरी को मारने के लिए छुरी खोज रहा था, तब उस बकरी ने स्वयं अपने खुर से खोदकर छुरी निकाल दी और उसी से उसका मरण हुआ। उसीप्रकार जिससे अपना घात हो, अर्थात् अपना बुरा हो, तूने वही कार्य किया। तू हेय-उपादेय के विचार में मूर्ख रहा। इस संसार में सुखरूप विषयों को तू अंधकवर्तकीयक जान। अर्थात् बुरा करने जिसप्रकार अन्धा ताली बजाकर बटेर को पकड़ना चाहता है - यह बड़े आश्चर्य की बात है, उसीप्रकार संसार में थोड़ा भी सुख हौना अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

भावार्थ :- हे जीव ! तूने बकरी द्वारा स्वयं खोदकर छुरी निकालने के समान अपना बुरा करने का काम किया। इस संसार में विषय-सेवन से तुझे कुछ सुख जैसा लगता है। ये विषय सुख ऐसे ही रहेंगे - ऐसा जानकर तू निश्चिंत हो गया है; परन्तु ऐसी अवस्था अन्धे द्वारा बटेर पकड़ने के समान है, इसलिए इसके भरोसे निश्चिन्त रहना योग्य नहीं है।

कामजन्य वेदना

सुखदायक वस्तुओं के अभिलाषी जीवों की काम द्वारा क्या दशा की जाती है - यह बात आगामी छन्द मं कहते हैं :-

वसन्ततिलका

हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड एव,
चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोऽपि।
पश्याद्धुतं तदपि धीरतया सहन्ते,
दग्धुं तपोऽग्निभिरमुं न समुत्सहन्ते॥१०१॥

---

१. बकरे द्वारा भूमि खोदकर कृपाण निकालने की मूर्खता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहो कष्ट है ! पण्डितमानी जन को भी यह काम प्रचण्ड ।
सुन्दर नारी द्वारा खण्डित करता असमय देता दण्ड ॥
अति आश्चर्य कि इस पीड़ा को करें सहन वे होकर धीर ।
किन्तु नहीं उत्साह तपाग्नि द्वारा भस्म करें हो वीर ॥१०१॥

अर्थ :- हाय ! यह बड़े कष्ट की बात है कि अपने को पण्डित, ज्ञानी यह माननेवालों को प्रचण्ड काम असमय में ही इष्ट स्त्री आदि के निमित्त से खण्डित कर देता है, उनके ज्ञानीपने को खण्ड-खण्ड करके महादुःख देता है। फिर भी यह आश्चर्य देखो कि वे अपने को खण्ड-खण्ड होते हुए धीर-वीरपने से सहन करते हैं और तपरूपी अग्नि द्वारा काम को जलाने में उत्साहित नहीं होते ।

भावार्थ :- देवता पर्यन्त सभी जीवों को काम सताता है । अपने को ज्ञानी माननेवालों को भी स्त्री के निमित्त से भ्रष्ट करके दुःख देता है। जिसप्रकार अपने को बुद्धिमान मानने वाले व्यक्ति को कोई बाणों से घायल करे, तब वह बाणों की मार तो खाए, परन्तु और बाण चलानेवाले को अपना मित्र जानकर उसके नाश का उपाय न करे बल्कि उसे पुष्ट करना चाहे - यह बड़े आश्चर्य की बात है । उसीप्रकार अपने को ज्ञानी माननेवाले किसी व्यक्ति को काम स्त्री द्वारा पीड़ित करता है तब भी वह काम की पीड़ा तो सहन करता है, परन्तु उसे हितरूप जानकर तपरूपी अग्नि से भस्म करने का उपाय नहीं करता, बल्कि अनेक सामग्रियों द्वारा उसे पुष्ट करना चाहता है - यह बड़े आश्चर्य की बात है।

उत्तरोत्तर उत्कृष्ट त्याग के उदाहरण

काम को जलाने में उत्साही व्यक्ति क्या करते हैं - यह बात अगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूल विक्रीडित

अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्,
पापां तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान् ।
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रहीत्,
एते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः ॥१०२॥

तृण सम तुच्छ जानकर लक्ष्मी कोई ज्ञानी देते दान ।
असन्तोष अरु पाप मूल लख बिना दिए तजते धीमान ॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कोई महाविवेकी जन ग्रहते ही नहीं अहितकर जान ।
त्यागी जानें त्याग इसे उत्कृष्ट एक से एक महान ॥१०२॥

अर्थ :- कुछ त्यागीगण विषयों को तृण के समान अकार्यकारी जानकर पुत्रादिक को या अन्य याचकों को लक्ष्मी का दान करते हैं । कुछ त्यागीगण लक्ष्मी को पापरूप और तृप्ति न करनेवाली मानकर किसी को दिए बिना ऐसे ही छोड़ देते हैं और अन्य कोई सौभाग्यशाली त्यागीगण पहले से ही अकल्याणकारी जानकर ग्रहण ही नहीं करते - इसप्रकार इन तीनों सर्वोत्कृष्ट (सम्पूर्ण) त्यागियों को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जानो ।

भावार्थ :- धनादि सर्व सामग्री का त्याग करनेवाले सर्वोत्कृष्ट त्यागी कहलाते हैं । उनमें जो पुत्रादि को धनादि देकर त्याग करते हैं, वे भी उत्कृष्ट त्यागी हैं तथा जो स्वयं किसी को दिये बिना ही धनादि का त्याग करते हैं, वे उनसे भी उत्कृष्ट त्यागी हैं, क्योंकि पुत्रादि को देनेवालों को तो कुछ कषायाँश का उदय है, इसलिए किसी को देने का भाव हुआ है, परन्तु इन्हें तो ऐसा वैराग्य हुआ कि यह सम्पदा कोई भी ग्रहण करे, इन्हें कुछ भी प्रयोजन नहीं है । लेकिन जो धनादि का ग्रहण ही नहीं करते, कुमारावस्था में ही त्याग कर देते हैं, उनसे भी उत्कृष्ट त्यागी हैं, क्योंकि उन्होंने तो भोग कर त्याग किया, परन्तु इन्हें तो ऐसा वैराग्य हुआ कि पहले से ही भोगने के परिणाम ही नहीं हुए ।

इसप्रकार सर्व सम्पदाओं के त्यागियों को अनुक्रम से उत्कृष्ट से उत्कृष्ट जानना चाहिए ।

विरक्ति होने पर सम्पत्ति के त्याग में क्या आश्चर्य ?

सत्पुरुषों द्वारा सम्पत्ति पाकर छोड़ देने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है - यह बात *आगामी छन्द में कहते हैं :-*

अनुष्टुप्

विरज्य सम्पदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम् ।
मा वमीत् किं जगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम् ॥१०३॥

इसमें क्या आश्चर्य कोई नर हो विरक्त संपति तजते ।
ग्लानि भाव होने पर भक्षित भोजन जन क्या नहिं वमते ॥१०३॥

अर्थ :- सत्पुरुष विरक्त होकर सम्पत्ति का त्याग कर देते हैं - अरे !

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसमें क्या आश्चर्य है ? क्या पुरुष ग्लानि होने पर अच्छी तरह भक्षण किए हुए भोजन का वमन नहीं करते ? अपितु अवश्य ही करते हैं।

भावार्थ :- राग रहते हुए त्याग करने पर दुःख होता ही है और दुःख सहना कठिन है, इसलिए यदि सरागी पुरुष त्याग करें तो अवश्य ही आश्चर्य की बात है; परन्तु वैराग्य होने पर त्याग करने में कुछ दुःख नहीं होता, सुख ही होता है और सुख कौन नहीं चाहता, इसलिए विरागी पुरुष त्याग करें तो कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

जिसप्रकार भोजन करने के पश्चात् किसी पुरुष को ऐसी ग्लानि हो जाए कि इस भोजन से मेरे प्राण चले जायेंगे तब वह प्रयत्न करके भी भोजन का वमन कर देता है, उसीप्रकार सहज उपलब्ध विषयों के सेवन से मेरा भी बुरा होगा - ऐसा जानकर उदासीनता होने पर विरक्त जीव उपाय करके भी उनका त्याग करता है - इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

लक्ष्मी का त्याग होने पर विभिन्न परिणामवाले त्यागी

लक्ष्मी का त्याग करनेवाले जीवों के परिणाम कैसे-कैसे होते हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

श्रियं त्यजन् जडः शोकं विस्मयं सात्त्विकः स ताम्।
करोति तत्त्वविच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम् ॥१०४॥

लक्ष्मी तजकर मूढ़ शोक करते अरु पराक्रमी अभिमान।
है विचित्र ! तत्त्वज्ञ पुरुष नहिं करें शोक अथवा अभिमान ॥१०४॥

अर्थ :- पराक्रम रहित मूर्ख पुरुष लक्ष्मी का त्याग करने पर शोक करते हैं और सच्चे पराक्रमी पुरुष गर्व करते हैं, परन्तु तत्त्वज्ञानी पुरुष उस लक्ष्मी का त्याग करने पर न शोक करते हैं और न गर्व करते हैं - यह बड़े आश्चर्य की बात है।

भावार्थ :- धनादि का त्याग करने पर संसारी जीवों के दो प्रकार के भाव होते हैं। पराक्रम रहित व्यक्ति को यदि किसी कारण से धनादिक का त्याग (वियोग) हो जाए तो उसे बहुत शोक होता है तथा "ऐसा कैसे हो गया" - इसप्रकार अन्तरंग में बहुत खेद होता है। पराक्रमी पुरुष को यदि किसी कारण से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धनादि का वियोग हो जाए या वह स्वयं उत्साह से धन का त्याग करे तो उसे गर्व होता है कि मैंने ऐसा कार्य किया - इसप्रकार उसे अहं हो जाता है। लेकिन यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि तत्त्वज्ञानी पुरुषों को धनादि का त्याग करने पर शोक और गर्व दोनों नहीं होते, क्योंकि ज्ञानी धनादिक को परद्रव्य जानते हैं और परद्रव्य का त्याग होने पर खेद और गर्व दोनों नहीं होना चाहिए; इसलिए ज्ञानी शोक और गर्व रहित होते हुए पर द्रव्य का त्याग करते हैं।

शरीर से मोह-त्याग की प्रेरणा

विवकी पुरुष जिसप्रकार लक्ष्मी का त्याग करते हैं उसीप्रकार शरीर का त्याग भी कर देते हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शिखरणी

विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृति मृतिपर्यन्तमखिलं
मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराद्यबहुलम्।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम्॥१०५॥

गर्भकाल से मरण समय तक जो भी शारीरिक आचार।
वृथा क्लेशमय, अशुचिभावमय भय-उत्पादक तिरस्कार॥
इसको तजने से मिलती है मोक्ष-लक्ष्मी कर निरधार।
कौन करे नहिं खलसंगतिवत् इसे त्यागने का सुविचार॥१०५॥

अर्थ :- दुष्टजन के संयोग के समान यह शरीर गर्भ से मरण तक क्लेश, अपवित्रता, भय, पराभव एवं पाप की बहुलता सहित है। इसका ऐसा स्वरूप भली-भाँति विचार कर ज्ञानियों द्वारा त्याग करने योग्य है। यदि इसके त्याग से मुक्ति की प्राप्ति होती है तो ऐसा कौन मूर्ख है, जो इसके त्याग करने में समर्थ नहीं होगा ?

भावार्थ :- जहाँ दुःख, अपवित्रता, भय, अपमान, पाप में से कोई एक भी हों, थोड़े भी हों या कभी-कभी भी हों तो विवेकीजन उसे छोड़ देते हैं; तो शरीर में ये सभी सदैव बहुत अधिक पाये जाते हैं। इसलिए यह शरीर विवेकियों द्वारा छोड़ने योग्य ही है। इसे छोड़ने से यदि अन्य लाभ न हों, तो भी यह छोड़ने योग्य है, फिर तो इसके छोड़ने से तो यदि मोक्ष होता है, तो ऐसा कौन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मूर्ख होगा, जो इसे नहीं छोड़ना चाहेगा ? जिसप्रकार दुष्ट का मिलाप दु:खदायक है, उसीप्रकार इसे भी सर्वप्रकार से दु:खदायक जानकर छोड़ देना चाहिए।

रागादि छोड़ने की प्रेरणा

जिसप्रकार अनेक अनर्थ के कारण होने से लक्ष्मी और शरीर छोड़ने योग्य है, उसीप्रकार रागादि भी छोड़ने योग्य हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

वंशस्थ

कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतिलोमवृत्तिभिः ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम्॥१०६॥

जन्मादिक फल पाये हैं कुज्ञान-राग से बारम्बार ।
अब विपरीत प्रवर्तन करके, अजर-अमर फल पा शिवकार ॥१०६॥

अर्थ :- हे भव्य ! तूने स्वयं कुज्ञान और रागादिरूप विपरीत चेष्टाओं के द्वारा जन्म-मरणादिरूप फल प्राप्त किया है। अतः अब तू ऐसी प्रतीति कर कि इनसे विपरीत प्रवृत्तियाँ करके उनके फल से विपरीत फल (मुक्ति) प्राप्त हो।

भावार्थ :- लोक में भी ऐसा नियम है कि जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न होता है उससे विपरीत कारण से विपरीत फल उत्पन्न होता है। जैसे - गर्मी से होनेवाला रोग उससे विपरीत शीतल वस्तु से नष्ट हो जाता है। अतः हे भव्य ! तूने अज्ञान और असंयम से जन्म-मरणादि के दु:खरूप फल पाये हैं। यदि किसी कारण से एक ही बार कोई कार्य उत्पन्न हो तो यह भ्रम हो सकता है कि यह कार्य किसी और कारण से उत्पन्न हुआ होगा, परन्तु संसारी जीव तो अनादि से बारम्बार अज्ञान और असंयम का सेवन कर रहे हैं और इन्हें जन्म-मरण का दुःख होता दिख रहा है इसलिए यहाँ कोई भ्रम भी नहीं है।

किसी पदार्थ को जब-जब खायें, तब-तब वही रोग उत्पन्न हो तो जानना चाहिए कि यह पदार्थ ही इस रोग का कारण है। यदि किसी और को रोग हुआ हो तो भी (रोग के कारण के सम्बन्ध में) भ्रम हो सकता है। अतः तू स्वयं ही विचार कर कि "मैं कैसा परिणमन कर रहा हूँ और क्या फल पा रहा हूँ।" इसलिए यदि तुझे यह फल बुरा लगता हो तो तू जैसे अज्ञानरूप परिणमन कर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रहा है, वैसे परिणमन करना छोड़ !

अज्ञान और असंयम से विपरीत सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं, उनका सेवन करने पर जन्म-मरणादि फल से विपरीत अविनाशी सुखरूप मोक्ष-फल प्राप्त होता है। इसमें कोई भ्रम भी नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सेवन करनेवाले जीव थोड़े हैं, उन्हें अज्ञान-असंयम जनित आकुलता मिटने से तत्काल ही कुछ सुख होता है तथा अधिक सेवन से बहुत सुख होता दिखता है। अतः जिसप्रकार किसी औषधि के सेवन से रोग घटता हुआ भासित हो तो जान लेना चाहिए कि इसके सेवन से रोग का सम्पूर्ण नाश भी होगा, उसीप्रकार यहाँ भी निश्चय करना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के सेवन से सभी दुःखों का नाश होगा। इसलिए इनका सेवन करना युक्त है।

दया-दम आदि के मार्ग पर चलने की प्रेरणा

तू ऐसे मुक्तिरूपी फल को चाहता है, अतः उस मार्ग में गमन कर - यह बात आगमी छन्द में कहते हैं :-

वंशस्थ

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ।।१०७।।

दया-दम-त्याग समाधि मार्ग में यत्नशील हो करो प्रयाण ।
इससे पाओगे तुम वचन-विकल्प अगोचर पद निर्वाण ।।१०७।।

अर्थ :- हे जीव ! स्व-पर की करुणा करना दया, इन्द्रिय-मन को वश करना दम, पर-पदार्थों से राग छोड़ना त्याग और वीतराग दशारूप सुखी समाधि है - इनकी परम्परारूप मार्ग पर प्रत्यनशील होता हुआ, निष्कपट होकर गमन कर - यही मार्ग तुझे वचन-अगोचर और निर्विकल्प परम पद की प्राप्ति करायेगा।

भावार्थ :- जिसप्रकार कोई अपने इष्ट स्थान पर जाने के लिए सही रास्ते पर सीधा चला जाए तो वह उस नगर में अवश्य पहुँचेगा; उसीप्रकार जो जीव सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप सच्चे मोक्षमार्ग में गर्भित दया, दम, त्याग आदि में निष्कपट होकर प्रवर्तेगा, वह अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति करेगा। "मैं साधन तो करूँगा, परन्तु यदि सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई तो"- ऐसा भ्रम करके

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शिथिल मत होना। इस साधन से साध्य की सिद्धि अवश्य ही होती है।

भेद-ज्ञान और वीतरागता की प्रेरणा

विवेक पूर्वक परिग्रह के त्यागरूप मोक्षमार्ग जीव को मोक्ष पद की प्राप्ति करानेवाला है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

आर्या

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते ॥१०८॥

भेद-ज्ञान से मोह नष्ट करके यदि करो परिग्रह त्याग ।
कुटी प्रवेश[1] द्वारा निर्मल तन सम हो अजर-अमर क्षत-राग[2]॥१०८॥

अर्थ :- जिसप्रकार पवन साधन में कुटी प्रवेश करने से (कुम्भक प्रक्रिया द्वारा वायु रोकने से) शरीर निर्मल होता है; उसीप्रकार जो भेद-विज्ञान द्वारा मोह नष्ट करता है, उसे परिग्रह का त्याग अवश्य ही अजर-अमर कर देता है।

भावार्थ :- भेद-विज्ञान से मोह का नाश करना ही सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्दर्शन है और बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना सम्यक्चारित्र है। वहाँ सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाला जीव यदि सम्यक्चारित्र अंगीकार करे तो उसे साक्षात् मोक्षमार्ग होता है और वह मोक्ष की प्राप्ति अवश्य करता ही करता है, इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि सभी कारण मिलने पर कार्य का होना टाला नहीं जा सकता है, इसलिए यदि किसी को रत्नत्रय में कोई कमी हो तो उसको मोक्ष प्राप्ति होने में सन्देह हो सकता है। मोक्ष के तीनों कारण मिलने पर मोक्ष होता ही होता है - ऐसा निश्चय करना चाहिए।

बाल-ब्रह्मचारियों की प्रशंसा

विवेक पूर्वक त्याग करनेवाले पुरुषों में सर्वोत्तम त्याग करनेवाले पुरुष की प्रशंसा आगामी छन्द में करते हैं :-

अनुष्टप्

अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे ॥१०९॥

---

१. भूमिगत होकर वायु की कुम्भक क्रिया करना २. वीतराग ३. जूठन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भोगों को तजने से जिनका है उच्छिष्ट[१] सकल संसार ।
ब्रह्मचर्यधारी कुमार को अचरज सहित नमन बहु बार ॥१०९॥

अर्थ :- उस कुमार-ब्रह्मचारी को हमारा नमस्कार हो, जिसने भोगे बिना ही विषयों का त्याग करके समस्त विषयों को अपनी जूठन बना दिया है - यह आश्चर्यकारी कार्य है ।

भावार्थ :- पहले (छन्द क्रमांक १०२ में) कहे गये तीन प्रकार के त्यागियों में भोग-सामग्री उपलब्ध होने पर भी वैराग्य के कारण उन्हें भोगे बिना ही छोड़कर कुमारवस्था में ही दीक्षा धारण करनेवाले सर्वोत्कृष्ट त्यागी हैं । भोगने के बाद विषय-सामग्री को छोड़ने में कोई आश्चर्य नहीं है, परन्तु सामग्री मिलने पर भी भोग किए बिना उनका त्याग करने में बड़ा आश्चर्य है । जिसप्रकार किसी के सामने भोजन परोसा जाए और वह उसे बिना खाए छोड़ दे तो उसे जूठन कहते हैं । उसीप्रकार इन्होंने बिना भोगे विषयों को छोड़ दिया, इसलिए सब विषयों को जूठन के समान कर दिया है । अतः उन्हें हम नमस्कार करते हैं ।

परमात्मा बनने का रहस्य

परम उदासीनता लक्षण चारित्र का प्रतिपादन अगामी छन्द में करते हैं :-

अनुष्टुप्

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥११०॥

मैं हूँ सदा अकिञ्चन - इस अनुभव से हो पति त्रिभुवन का ।
यह रहस्य तुझको कहते हम, योगिगम्य परमातम का ॥११०॥

अर्थ :- "मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं है" - ऐसी भावना करके तू बैठ जा ! इससे तू शीघ्र तीन लोक का स्वामी हो जाएगा । योगीश्वरों द्वारा गम्य परमात्मा बनने का यही रहस्य हमने तुझे कहा है ।

भावार्थ :- अज्ञान के कारण पर-पदार्थों में ममत्व होता है और पर-पदार्थ अपने नहीं होते, इसलिए यह जीव हीन अवस्था को प्राप्त हो रहा है । परन्तु जब यह जीव ऐसी भावना करता है कि परद्रव्य मेरा नहीं है, तब इसे परम

१. जूठन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उदासीनतारूप चारित्र होता है, जिसके फल से इसे तीन लोक अपना स्वामी माने - ऐसा पद प्राप्त होता है। यह रहस्य योगीश्वर जानते हैं, वही हमने तुझे कहा है। तू भी ऐसी भावना कर - ऐसी शिक्षा हम तुझे देते हैं।

तप करने की प्रेरणा

तप आराधना का स्वरूप आगामी छन्द में कहते हैं :-

आर्या

दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः ।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम् ॥१११॥

यह भव दुर्लभ, अशुचि, दुःखद परमायु अल्प[१] नहिं जिसका ज्ञान।
अज्ञात मरण, तप इसमें हो, तप करो मुक्ति का कारण जान ॥१११॥

अर्थ :- यह मनुष्य पर्याय दुर्लभ है, अपवित्र है, सुख रहित है, इसका मरण समय ज्ञात नहीं है, इसमें उत्कृष्ट आयु भी अल्प है। परन्तु इस पर्याय में ही तप हो सकता है और तप से ही मुक्ति होती है, इसलिए मनुष्यपना पाकर तुझे तप करना चाहिए।

भावार्थ :- आत्मा का हित मोक्ष है। उसकी प्राप्ति तप के बिना नहीं होती, क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पूर्वक तप की आराधना से साक्षात् मोक्षमार्ग होता है। ऐसा तप मनुष्य पर्याय में ही होता है। कहा भी है :-

देवविसयपसत्ता णेरइया तिव्वदुःखसंतत्ता ।
तिरिया विवेयवियला मणुयाणं धम्मसंपत्ती ॥

अर्थ :- देव विषयासक्त हैं, नारकी तीव्र दुःखों से सतप्त हैं, और तिर्यञ्च विवेक रहित हैं; इसलिए मनुष्यों को ही धर्म की प्राप्ति हो सकती है।

भावार्थ :- यदि मनुष्य पर्याय बारम्बार प्राप्त होती हो और किसी ने वर्तमान पर्याय में तप नहीं किया, तो यह कहा जा सकता है कि आगामी पर्याय में तप कर लेना; लेकिन यहाँ तो कहते हैं कि अनन्तानन्त काल में भी मनुष्य पर्याय पाना दुर्लभ है।

यदि इस पर्याय में देवों जैसे सुख हों तो उन्हें छोड़कर तप करना कठिन है, परन्तु यहाँ तो शारीरिक और मानसिक दुःखों की ही मुख्यता है, अतः दुःख

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को छोड़कर तप करने में क्या खेद है ?

यदि मनुष्य का शरीर सुन्दर हो तो उसके बिगड़ने का भय हो, परन्तु धातुओं और उपधातुओं से उत्पन्न इस महाअपवित्र शरीर को तप में लगाने में क्या भय है ?

यदि देवों के समान मरण का निश्चय हो तो कुछ काल तक निश्चिन्त होकर फिर तप करें, परन्तु मनुष्य के मरने का निश्चय नहीं कि कब मरेगा ?

यदि उत्कृष्ट आयु हो तो, " मेरी तो बहुत अधिक आयु होगी " - ऐसे भ्रम से तप न करे, परन्तु यहाँ उत्कृष्ट आयु भी थोड़ी ही है; इसलिए तुझे प्रमादी न होकर सावधान होकर तप करना ही योग्य है।

ध्यान तप का ध्येय और फल

बारह प्रकार के तपों में मुक्ति का निकटतम साधन ध्यानरूप तप है अत: उसके ध्येय और फल का वर्णन आगामी छन्द में करते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां संमता,
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम् ।
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनः साधनं,
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किं वा समाधौ बुधाः ।।११२।।

त्रिभुवन गुरु परमातम हैं आराध्य यही सज्जन को मान्य ।
चरण स्मृति ही मात्र कष्ट है, कर्म नष्ट इतना व्यय ज्ञान ।।
साध्य-सिद्धि सुख होता अल्प समय में ही निज मन के द्वार [२] ।
क्या समाधि में कष्ट ? अहो ज्ञानी ! निज मन में करो विचार ।।११२।।

अर्थ :- समाधि में तीन लोक के गुरु अर्थात् भगवान की आराधना की जाती है। इस प्रवृत्ति की सराहना (प्रशंसा) सन्तों द्वारा की गई है। समाधि में भगवान के चरण-स्मरण करने का ही क्लेश है और कर्मों का उत्कृष्ट रुप से क्षय होता है - बस इतना ही खर्च है, जबकि थोड़े ही काल में मात्र मन के साधन से मोक्ष-सुख की साधना का फल प्राप्त होता है। इसलिए हे ज्ञानी ! तुम अच्छी तरह मन में विचार करो कि समाधि में क्या कष्ट है।

---

१. उत्कृष्ट आयु भी अल्प है।   २. मन द्वारा।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- बहुत से लोग तप (समाधि) में कष्ट मानते हैं और उनसे कष्ट सहा नहीं जाता इसलिए वे तप नहीं करते। उनसे कहते हैं - सर्व तपों में उत्कृष्ट तप ध्यान ही है, उसमें क्या कष्ट है, वह तुम कहो।

नीच पुरुषों का सेवन करने से लज्जा आदि का खेद होता है, परन्तु ध्यान में तीन लोक के नाथ अरहन्तादिक की या तीन लोक के ज्ञायक आत्मा की आराधना की जाती है।

यदि अपने को कोई नीच कार्य करना पड़े तो खेद होता है, परन्तु ध्यान तो ऐसा कार्य है, जिसकी प्रशंसा महान पुरुष भी करते हैं।

आराधना में यदि क्लेश हो तो खेद उत्पन्न होगा, परन्तु इसमें तो भगवान आत्मा का चरण अर्थात् आचरण अथवा भगवान के चरणों का स्मरण - मात्र इतना सेवन (कार्य) करना है।

यदि साधना करने में अपना कुछ जाता हो तो दुःख हो, परन्तु इसमें तो जिनका नाश ही करना चाहते हैं - ऐसे कर्मों का ही नाश होता है, अपना तो कुछ खर्च नहीं होता।

यदि साधना का फल तुच्छ होता तो वह कुछ भी कार्यकारी नहीं कहलाता, परन्तु ध्यान का फल तो सर्वोत्कृष्ट मोक्ष है।

यदि बहुत काल तक साधना करना हो, तो खेद उत्पन्न होता है, परन्तु ध्यान का फल तो थोड़े ही काल में प्राप्त हो जाता है।

यदि ध्यान का साधन पराधीन हो तो खेद उत्पन्न होता, परन्तु इसमें तो अपने ही मन का साधन होता है अर्थात् मन को अन्य विचारों से हटा कर भगवान के विचार में लगाना है।

इसप्रकार तू विचार कर कि ऐसे ध्यानरूप तप में क्या खेद है ? अतः तू तप करने में अनादर मत कर !

यहाँ कोई कहेगा कि ध्यान में तो कष्ट नहीं है, परन्तु अनशनादि तप में तो कष्ट है; तो उससे कहते हैं कि यदि स्वयं न करना चाहे तो अनशनादि तप में कष्ट होता है, परन्तु यहाँ तो परिणामों में प्रमाद भी न हो और क्लेश भी न हो - इसका विचार रखते हुए ध्यान की सिद्धि के लिए स्वयं ही इच्छा से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनशनादि तप किए जाते हैं, इसलिए इसमें भी कष्ट नहीं होता।

तप ही समस्त सिद्धियों का साधन है

आत्म कल्याणरूप मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को तप के बिना और कोई सामग्री वाञ्छित फल देनेवाली नहीं है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

हरिणी

द्रविणपवनप्राध्मातानां सुखं किमिहेक्ष्यते,
किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खलः ।
चरणमपि किं स्प्रष्टुं शक्ताः पराभवपांसवो,
वदत तपसोऽप्यन्यन्मान्यं समीहितसाधनम् ॥११३॥

तृष्णारूप पवन से प्रेरित को वह सुख क्या मिल सकता ?
और दुष्ट यह काम-व्याध[१] आतम को दुष्ट बना सकता ?
अरे पराभव ! क्या चरणों को छू सकता[२] यह तुम्हीं कहो ?
तप से अधिक श्रेष्ठ साधन क्या अर्थ-सिद्धि का तुम्हीं कहो ? ॥११३॥

अर्थ :- धनादिक के विचाररूपी पवन द्वारा धोंकने[३] से तप्त जीवों को सुख कहाँ देखा जाता है ? कामरूपी व्याध अदुष्ट आत्माओं को दुष्ट कर देता है। क्या कष्टरूपी धूल, क्या चारित्र को स्पर्श करने में समर्थ है ? नहीं, तो कहो ! मनोवाञ्छित अर्थ का साधन तप से अधिक और कौन है ?

भावार्थ :- जगत के जीव जो भी कार्य करते हैं, मानादि के लिए ही करते हैं, अपने प्राण देकर भी बड़ा होना चाहते हैं। मान पोषण के लिए धन कमाने की क्लेशरूप वाञ्छा करते हैं और उससे सदा दुःखी ही रहते हैं, जबकि तप का माहात्म्य ऐसा है कि उससे बिना चाहे ही बड़प्पन (मान-बड़ाई) और ऋद्धि आदि होती है, इसलिए तप से उत्कृष्ट और कुछ नहीं है।

तप की महिमा

तप में प्रवर्तन करनेवाले जीव क्या करते हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

---

१. कामरूपी भील २. चारित्रवन्त को कष्टरूपी धूल नहीं छू सकती।
३. आग जलाने के लिए कोयला आदि को जलाकर उसे पंखे से हिला कर तेज हवा देने की क्रिया को धोंकना कहते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पृथ्वी

इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान्,
गुणाः परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति ।
पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात्स्वयं यायिनी,
नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि ।।११४।।

तप के द्वारा क्रोधादिक रिपु सहजभाव से होंय परास्त ।
प्राण-त्याग करके भी जिनको चाहें वे गुण होते प्राप्त ।।
मोक्षरूप पुरुषार्थ-सिद्धि भी हो जाएगी पल भर में ।
ताप-शमनकर्त्ता इस तप में ज्ञानीजन क्यों नहीं रमें ? ।।११४।।

अर्थ :- तप होने पर अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए क्रोधादि शत्रुओं को यहीं तत्काल जीत लिया जाता है । जिन्हें यह आत्मा अपने प्राण देकर भी प्रगट करना चाहता है - ऐसे गुण स्वयमेव प्रगट हो जाते हैं । आगामी काल में शीघ्र ही मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि हो जाती है । अतः ऐसे दुःखनाशक तप में कौन विवेकी पुरुष नहीं रमेगा ? अपितु अवश्य रमेगा ही रमेगा ।

भावार्थ :- जिन कार्यों में तत्काल गुण (लाभ) हों और भविष्य में अवगुण (हानि) हों अथवा तत्काल अवगुण हों और भविष्य में गुण हों - ऐसे कार्य अनुरागी होकर करते हुए भी जगत के जीव देखे जाते हैं; जबकि यह तप तत्काल भी गुण करता है और भविष्य में भी गुण करता है, अतः ऐसे तप में कौन विवकी प्रवर्तन नहीं करेगा ? अपितु अवश्य करेगा ही करेगा ।

तप का तत्कालीन लाभ तो यह है कि उसके द्वारा प्रत्यक्ष दुःखदायक अनादि कालीन क्रोधादिक का अभाव हो जाता है और जिन्हें लोक प्राण देकर भी प्रगट करना चाहते हैं - ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानादि गुण या ऋद्धि-सन्मानादि अतिशय स्वयमेव प्रगट हो जाते हैं । तप का आगामी गुण अर्थात् लाभ यह है कि उसके फल में शीघ्र ही पुरुष अर्थात् आत्मा को अपने अर्थ अर्थात् मोक्षरूपी प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है ।

इसप्रकार इस लोक और पर-लोक में गुण करने वाले अर्थात् लाभदायक तप को जानकर उसमें रति या प्रीति अवश्य करना चाहिए ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समाधि में ध्यान को सुरक्षित रखने की प्रेरणा

आगामी छन्द में तप में रति करके अपनी आयु और शरीर को सफल करनेवाले जीवों की सराहना करते हैं :-

शिखरणी

तपोवल्ल्यां देहः समुपचितपुण्योर्जितफलः
शलाट्वग्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलितः।
व्यशुष्यच्चायुष्यं सलिलमिव संरक्षितपयः
स धन्यः संन्यासाहुतभुजि समाधानचरमम् ।।११५।।

कच्चे फल के अग्रभाग से जैसे होता नष्ट सुमन ।
तपोबेलि पर पुण्यरूप फल देकर खिरता जिसका तन ।।
धन्य ! अग्नि से दुग्ध सुरक्षित करने वाले नीर समान ।
ध्यान सुरक्षित रखे समाधि-अनल में शोषित आयु जान ।।११५।।

अर्थ :- जिसप्रकार कच्चे फल के अग्र भाग से फूल झड़ जाता है, खिर जाता है, उसीप्रकार जिसका शरीर तपरूपी बेल में पुण्यरूपी उत्कृष्ट फल उत्पन्न करके स्वयं काल पाकर गल जाता है, नष्ट हो जाता है। तथा जिसकी आयु समाधिरूप अन्त अवस्था पाकर संन्यासरूपी अग्नि में दूध को सुरक्षित रखकर सूखनेवाले जल की तरह स्वयं सूख जाती है - वह जीव धन्य है।

भावार्थ :- जिसप्रकार बेल पर लगनेवाला फूल, कच्चे फल को उत्पन्न करके, स्वयं झड़ जाता है; उसीप्रकार जिनका शरीर तप में प्रवर्तित होकर, पुण्य को उत्पन्न करके, स्वयं नष्ट हो जाता है। तथा जिसप्रकार अग्नि का संयोग होने पर जल, दूध को सुरक्षित रखकर, स्वयं सूख जाता है; उसीप्रकार संन्यास दशा में जिनकी आयु, धर्म को सुरक्षित रखकर, स्वयं सूख जाती है - इसप्रकार शरीर और आयु को सफल करनेवाले पुरुष धन्य हैं।

तप करने में ज्ञान की महिमा

परम वैराग्य युक्त जीव अपवित्र और दुःखदायक शरीर को पाल कर उसके संग रहकर भी किसप्रकार तप करते हैं - यह बात आगामी दो छन्दों में कहते हैं :-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुष्टुप्

अमी प्ररूढ़वैराग्यास्तनुमप्यनुपाल्य यत् ।
तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम् ।।११६।।

जो वैराग्यारूढ़ हुए अरु तन का पालन करते हैं ।
महिमा यही ज्ञान की वे चिरकाल तपस्या करते हैं ।।११६।।

अर्थ :- जिन्हें उत्कृष्ट वैराग्य होता है ऐसे जीव, शरीर को पालते हुए भी चिरकाल तक तप करते हैं - इसे हम ज्ञान का ही प्रभुत्व जानते हैं ।

भावार्थ :- जिसके प्रति उदासीनता होती है, उसका पालन करना विरुद्ध है अर्थात् सम्भव नहीं है, परन्तु समझदार लोग उसके पालन करने में अपने प्रयोजन की पूर्ति जानकर, जैसे अपना प्रयोजन सधे, वैसे उसका पालन करते हैं, अनुराग से उसका अधिक पोषण नहीं करते । महामुनि यद्यपि शरीर से उदास हुए हैं, तथापि वे यह भी जानते हैं कि शरीर के रहने पर ही तप हो सकता है, इसलिए वे आहारादिक देकर अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए उसका पालन करते हैं, अनुराग करके उसका बहुत पोषण नहीं करते । इसप्रकार शरीर को रखकर बहुत काल तक तप करने में ज्ञान की ही महिमा है । यदि ज्ञान न हो तो यह जीव अति उग्रता से शरीर का नाश करके देव पर्याय प्राप्त करता है और वहाँ संयम का अभाव हो जाता है, अतः ज्ञानी ऐसा नहीं करते ।

इस शरीर के साथ आधे क्षण भी रहना सह्य नहीं

अनुष्टुप्

क्षणार्धमपि देहेन साहचर्यं सहेत कः ।
यदि प्रकोष्ठमादाय न स्याद्बोधो निरोधकः ।।११७।।

कौन विवेकी रह सकता आधे क्षण भी इस तन के साथ ।
अगर रोकने वाला ज्ञान पकड़ लेता नहिं उसका हाथ ।।११७।।

अर्थ :- यदि ज्ञान हाथ पकड़कर रोकनेवाला न हो तो कौन मुनि आधे क्षण के लिए भी शरीर के साथ रहना सहन करेंगे ? अर्थात् कोई भी सहन नहीं करेंगे ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- जैसे किसी की किसी अन्य व्यक्ति के साथ मित्रता थी, परन्तु बाद में उसे उस मित्र की दुष्टता का ज्ञान हुआ, तब वह उससे लड़कर तत्काल उसका साथ छोड़ना चाहता है, उस समय कोई समझदार व्यक्ति उसका हाथ पकड़कर उसे समझाता है कि ऐसे झगड़ा करने से तो यह भविष्य में नुकसान पहुँचाएगा; इसलिए कुछ दिन इसे साथ रखकर, इसे कमजोर करके, इसका सत्यानाश करना चाहिए।

इसीप्रकार इस आत्मा को शरीर से अनुराग था, परन्तु जब उसने इसे दु:ख का कारण जाना, तब वह उग्र आचरण करके इसका नाश करना चाहता है। उस समय जिनवाणी से उत्पन्न ज्ञान से उसने ऐसा विचार किया कि इस विधि से शरीर का नाश करने पर देवादि पर्याय मिलेगी और वहाँ दु:ख ही होगा; इसलिए कुछ समय तक इसे साथ में रखकर, इसे निर्बल करके, ऐसा कार्य करना चाहिए कि पुन: शरीर धारण न करना पड़े।

इसप्रकार यदि ज्ञान रोकनेवाला न हो तो कौन मुनि शरीर को साथ रखना चाहेंगे ? अत: शरीर को बुरा जानकर भी प्रयोजन की पूर्ति के लिए उसे साथ रखना - यह ज्ञान की ही महिमा है।

परीषह सहने की प्रेरणा

इसी आशय का आगामी दो छन्दों में दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं :-

शिखरिणी

समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्,
तपस्यन्निर्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान् ।
किलाटद्भिक्षार्थी स्वयमलभमानोऽपि सुचिरं,
न सोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्यवशतः ॥११८॥

तृण समान गिन राज्य-लक्ष्मी तज-कर आदिनाथ भगवान ।
तप करते, निर्मान, क्षुधित हो पर-घर भ्रमते दीन समान ॥
नहीं मिला आहार उन्हें निर-अन्तराय बीता बहु काल ।
अत: परीषह क्यों न सहें साधारण जन निज कार्यवशात् ॥११८॥

अर्थ :- श्री आदिनाथ भगवान समस्त साम्राज्य को तृणवत् छोड़कर तप करते हुए मान रहित भूखे रहकर दीन के समान भोजनार्थी होकर बहुत काल तक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भोजन नहीं मिलने पर दूसरों के घर घूमते रहे किया। अतः केवल अपने कार्य के लिए अन्य के द्वारा दिये गये परीषह सहना योग्य है, औरों के लिए नहीं।

भावार्थ :- जो अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है, वह थोड़ा-बहुत कष्ट सह कर भी अपने कार्य की सिद्धि अवश्य करता है। जैसे ऋषभनाथ ने समस्त राज्य का त्याग किया। फिर भोजन का अन्तराय होने पर उसके लिए दीनों के समान दूसरों के घर-घर फिरे। अतः अपने कार्य की सिद्धि के लिए ऐसे महापुरुषों ने भी यह कार्य किया तो इसमें औरों को क्या लज्जा है ? तथा इसके बिना अन्य लोगों के कार्य की सिद्धि सुगमता से कैसे हो जाएगी ? इसलिए कार्य-सिद्धि चाहनेवालों को थोड़ा-बहुत कष्ट सह कर भी मोक्ष का साधन करना चाहिए।

विधि का विलास अलंघ्य है

शिखरिणी

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव,
स्वयं स्रष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याह जगती,
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलंघ्यं हतविधेः ॥११९॥

गर्भ पूर्व सुरपति कर जोड़े जिनके सन्मुख दास समान।
सृष्टि के सृष्टा, जिनके सुत चक्रवर्त्ति हैं निधिपति जान ॥
हुए क्षुधा से व्याकुल भ्रमते पृथ्वी पर वे प्रभु छह मास।
अहो ! कोइ भी लाँघ सके नहिं इस जग में यह विधि-विलास ॥११९॥

अर्थ :- जिनके गर्भ में आने से पहले ही इन्द्र किंकर (दास) के समान हाथ जोड़ता है, जो स्वयं सृष्टि अर्थात् कर्मभूमि की रचना करनेवाले हैं, जिनका पुत्र नौ निधियों का स्वामी चक्रवर्ती हुआ - ऐसे महापुरुष आदिनाथ स्वामी भी छह माह तक क्षुधावान होकर पृथ्वी पर भ्रमण करते रहे - यह बड़े आश्चर्य की बात है। इस संसार में निकृष्ट विधाता कर्म है, उसका विलास अर्थात् चरित्र अत्यन्त अलंघ्य है, इसका निवारण करने में कोई समर्थ नहीं।

---

१. राजा ऋषभदेव ने कर्म-भूमि की व्यवस्थाओं की शिक्षा दी, अतः उन्हें सृष्टि की रचना करनेवाला ब्रह्मा भी कहा जाता है। उन्होंने सृष्टि का निर्माण किया - ऐसा नहीं समझना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- कोई ऐसा जाने कि मैं सुख-सामग्री एकत्रित करके और दुःख के कारणों को दूर करके सुखी हो जाऊँगा; परन्तु संसार में किसी का ऐसा पुरुषार्थ नहीं है, जो कर्म का उदय आने पर उसे दूर कर सके।

श्री तीर्थंकर ऋषभदेव के किंकर (दास) के समान तो इन्द्र थे, और वे स्वयं सर्व सृष्टि की रचना[१] करने के पुरुषार्थ से युक्त थे, उनके पुत्र चक्रवर्ती थे - ऐसी सामग्री होने पर भी उन्होंने अन्तराय के उदय से छह माह तक भोजन के लिए भ्रमण किया, तो फिर औरों की क्या बात करें ?

इसलिए कर्म के उदय से थोड़ा-बहुत कष्ट होता है, उसे भी सहन करके ऐसा चिन्तवन करना चाहिए कि संसार में तो कर्म ही बलवान है, इसलिए संसार अवस्था का अभाव करना ही अपना हितरूप कार्य है - ऐसा निश्चय करके मोक्ष का ही साधन करना चाहिए।

संयमधारियों की महिमा

इसप्रकार सम्यग्दर्शनादि तीन-तीन आराधनाओं का वर्णन किया, परन्तु उनकी उत्कृष्ट सिद्धि के लिए शास्त्र-ज्ञानादि की प्रधानता से प्रवृत्त होनेवाला ही प्रयोजन को अच्छी तरह सिद्ध करने वाला साधक हो सकता है, अन्यथा नहीं इसलिए साधक के अन्तर में होने वाली ज्ञान-आराधना का स्वरूप आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी ।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम् ।।१२०।।

संयमधारी पहले होते दीप समान प्रकाश प्रधान ।
फिर प्रकाश अरु ताप उभय से दीपित होते सूर्य समान ।।१२०।।

अर्थ :- संयमी पुरुष पहले तो प्रकाश की प्रधानतावाले दीपक के समान और बाद में ताप और प्रकाश दोनों से युक्त दैदीप्यमान सूर्य के समान होता है।

भावार्थ :- मोक्ष का साधक प्रथम अवस्था में दीपक के समान होता है। जिसप्रकार दीपक तेल आदि सामग्री द्वारा घट-पट आदि को प्रकाशित करता है, उसीप्रकार वह शास्त्रादि द्वारा जीवादि पदार्थों को जानता है। बाद में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसे सूर्य के समान होना चाहिए। जिसप्रकार सूर्य स्वभाव से ही बहुत से पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला और प्रतापयुक्त होता है, उसीप्रकार उसे भी स्वभाव के बल से पदार्थों को विशेष जाननेवाला और तपश्चरणादि का धारी होना चाहिए - ऐसा अनुक्रम जानना चाहिए।

ज्ञानियों की दीपक से तुलना

ज्ञान आराधना का आराधक जीव क्या करता हुआ यह कार्य करता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः ।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमन् कर्मकज्जलम् ॥१२१॥

दीपक सम हो ज्ञानी, ज्ञान-चरित से भास्वर[१] होते हैं ।
कर्मरूप काजल को वमते[२] स्व-पर प्रकाशक होते हैं ॥१२१॥

अर्थ :- यह ज्ञानवान जीव दीपक के समान होकर ज्ञान और चारित्र से दैदीप्यमान होता हुआ कर्मरूपी काजल को धोता (बाहर निकालता) हुआ स्व-पर को प्रकाशित करता है।

भावार्थ :- ज्ञान-आराधना का आराधक दीपक के समान होता है। जिसप्रकार दीपक दीप्तिमान होकर चमकता हुआ और काजल बाहर फेंकता हुआ स्वयं को और घट-पटादि पर-पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसीप्रकार ज्ञानी ज्ञान-चारित्र सहित दैदीप्यमान होता है और कर्मों की निर्जरा करता हुआ आत्मा और शरीरादि को यथावत् जानता है।

अशुभ और शुभ छोड़ने का क्रम

पूर्वोक्त प्रकार ज्ञान-आराधना करनेवाला जीव, शास्त्रों से उत्पन्न विवेक पूर्वक क्रम से अशुभ और शुभ परिणाम को छोड़ कर शुद्ध परिणाम के आश्रय से मुक्त हो जाता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात् ।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥१२२॥

---

१. दैदीप्यामान २. उगलते

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अशुभ छोड़कर शुभ को पाकर होता शुद्ध जिनागम से ।
अन्धकार नहिं प्रगट करे रवि सान्ध्य-लालिमा बिन [1] जैसे ॥१२२॥

अर्थ :- जिसप्रकार सान्ध्यकालीन अवस्था प्राप्त किये बिना होनेवाले सूर्य को अन्धकार प्रगट नहीं होता उसीप्रकार यह जीव आगम ज्ञान पूर्वक अशुभ से छूटकर शुभ को प्राप्त होता हुआ शुद्ध होता है ।

भावार्थ :- जिसप्रकार जब तक सूर्य में सन्ध्या कालीन लालिमा नहीं होती, तब तक वह अस्त नहीं होता और अन्धकार प्रगट नहीं होता । उसीप्रकार जो अशुभ राग रहित आत्मा होकर क्रम से शुभ राग रूप होकर शुद्ध केवलदशा को प्राप्त होता है और उसे अज्ञानादि अन्धकार उत्पन्न नहीं होते ।

ज्ञानियों का तप और श्रुत के प्रति अनुराग कल्याणकारी है

ज्ञान-आराधना रूप परिणमित जीव तप और शास्त्रों में शुभरूप अनुराग से सरागी होता है अतः वह मुक्त कैसे हो सकता है - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

विधूततमसो रागस्तपःश्रुतनिबंधनः ।
सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदाय सः ॥१२३॥

मोह विनाशक ज्ञानी को जो तप श्रुत सम्बन्धी अनुराग ।
होता है कल्याण प्रयोजक यथा लालिमा सूर्य-प्रभात [2] ॥१२३॥

अर्थ :- जिसप्रकार सूर्य की प्रातःकालीन लालिमा उसके उदय के लिए ही होती है, उसीप्रकार अज्ञान अंधकार रहित ज्ञानी जीव को तप और शास्त्र सम्बन्धी राग भाव कल्याण के उदय के लिए ही है ।

भावार्थ :- सन्ध्याकालीन सूर्यास्त के समय जैसी लालिमा होती है, वैसी ही लालिमा प्रातः कालीन सूर्योदय के समय भी होती है; परन्तु प्रातःकाल की लालिमा और सन्ध्याकाल की लालिमा में इतना भेद है कि प्रातःकाल के समय रात्रि के अन्धकार का नाश करके संधि काल में होनेवाली लालिमा आगामी काल में सूर्य के शुद्ध उदय का कारण है । उसीप्रकार ज्ञानी जीव को जैसा राग विषयादि के प्रति होता है, वैसा ही राग तप और शास्त्रादि के प्रति

१. सन्धाकालीन लालिमा से रहित २. सूर्य की प्रातःकालीन लालिमा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होता है; परन्तु तप और शास्त्र के प्रति जो राग मिथ्यात्व सम्बन्धी अज्ञान का नाश करके सन्धि काल में उत्पन्न होता है, वह भविष्य में जीव की शुद्ध कैवल्य दशारूप उदय का कारण है।

अशुभराग में दोष की अधिकता

आगामी छन्द में उपर्युक्त शुभराग से विपरीत अशुभ राग में दोष दिखाते हैं :-

अनुष्टुप्

विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः ।
रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥१२४॥

ज्ञान-ज्योति तज, तम अपनाकर रागादिक परिणति को प्राप्त ।
राग युक्त रविवत्[१] वह तल पाताल लोक का[२] करता प्राप्त ॥१२४॥

अर्थ :- यह जीव सूर्य के समान व्याप्त प्रकाश को छोड़कर, अंधकार को आगे रखकर राग को प्राप्त होता हुआ पाताल लोक (नरक) को प्राप्त होता है।

भावार्थ :- जिसप्रकार अस्त होता हुआ सूर्य अपने फैलते हुए प्रकाश को छोड़ देता है और जिसके बाद अन्धकार होनेवाला है - ऐसी संध्याकालीन लालिमा को प्राप्त होता है, वह सूर्य ज्योतिष शास्त्र की अपेक्षा और लौकिक दृष्टि की अपेक्षा[३] पाताल में चला जाता है; उसीप्रकार भ्रष्ट होता हुआ आत्मा अपने प्रगट होते हुए ज्ञान भाव को तो छोड़ देता है और जिसके बाद अज्ञान होनेवाला है - ऐसे हिंसा आदि पापरूप राग भाव को प्राप्त होता है, वह आत्मा पाताल में नरकादि और नीच दशारूप निगोदादि पर्यायों में चला जाता है।

इसप्रकार यद्यपि अशुभ और शुभ दोनों राग भाव हेय हैं, परन्तु निचली दशा में शुभ राग तो कथञ्चित् आगामी शुद्धता का कारण भी है, इसलिए थोड़ा हेय है और अशुभ राग भविष्य में कुगति का कारण है, इसलिए सर्वथा हेय है; अतः इसका त्याग अवश्य करना चाहिए।

मोक्षमार्ग की यात्रा

जो मोक्षाभिलाषी जीव निष्कपट मन से चार प्रकार की आराधना में

---

१. सान्ध्यकालीन लालिमा युक्त सूर्य के समान। २. नरकादि के दुःखों को।
३. नीचे गिरता हुआ दिखता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रवर्तन करते हैं, उन्हें निर्विघ्न रूप से मोक्ष की प्राप्ति होती है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूल विक्रीडित

ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलं,
चारित्रं शिविका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः ।
पन्थाश्च प्रगुणः शमाम्बुबहुलश्छाया दयाभावना,
यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः ।।१२५।।

ज्ञान अग्रसर[१], लज्जा मित्र, जहाँ तप है पाथेय समान ।
चारित शिविका, स्वर्ग निवेशन[२] गुणरक्षक से युक्त विमान ।।
सरल, शान्ति-जल युक्त मार्ग है दया भावना छाया जान ।
मुनि को विघ्न रहित पहुँचाती यह यात्रा गन्तव्य स्थान ।।१२५।। [३]

अर्थ :- जहाँ ज्ञानरूपी मार्गदर्शक आगे-आगे चलता हो, लज्जारूपी सहचरी हो तपरूपी का संबल हो, चारित्ररूपी जैसा पालक हो, स्वर्ग जैसा विश्राम स्थल हो, गुणरूपी रक्षक हो, जो सीधा हो, जिसमें उपशमरूपी जल का बाहुल्य हो, दयारूपी छाया हो और भावनारूपी गमन हो - ऐसी सामग्रीयुक्त मार्ग में चलनेवाले मुनि निरापदरूप से अभीष्ट स्थान को पहुँच जाते हैं।

भावार्थ :- जिसप्रकार कोई व्यक्ति किसी नगर को गमन करे और उसे योग्य मार्गदर्शक आदि अनेक सामग्री मिलें तो वह निरापदरूप से उस नगर में पहुँच जाता है; उसीप्रकार किसी मोक्षाभिलाषी भव्य जीव को ज्ञानादिक सामग्री मिले तो वह निरापदरूप से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

जिसप्रकार किसी यात्री को मार्गदर्शक मार्ग बताता है उसीप्रकार ज्ञान मोक्षमार्ग में हेयोपादेय तत्त्वों का निर्णय कराता है।

जिसप्रकार स्त्री साथ में होने से मार्ग में सुख पूर्वक गमन होता है, उसीप्रकार धर्म सम्बन्धी लज्जा साथ में होने से मोक्षमार्ग में सुख पूर्वक प्रवर्तन होता है।

जिसप्रकार खर्च करने वाला व्यक्ति साथ हो तो शिथिलता नहीं होती

---

१. मार्गदर्शक २. पड़ाव ३. इस छन्द में किसी स्थान पर पहुँचने के लिए मार्ग के साँगरूपक अलंकार से मोक्षमार्ग का वर्णन किया गया है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसीप्रकार तप का साधन होने से मोक्षमार्ग में शिथिलता नहीं रहती।

जिसप्रकार चढ़ाई आदि के समय पालकी में बैठकर गमन करने से थकान नहीं होती, उसीप्रकार निष्कषायरूप चारित्र भाव से मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करने पर खेद नहीं होता।

जिसप्रकार मार्ग में ठहरने के स्थान अच्छे हों तो वहाँ विश्राम हो सकता है, उसीप्रकार मोक्षमार्ग में ठहरने के स्थान स्वर्ग हैं, वहाँ सुखपूर्वक विश्राम हो सकता है।

जिसप्रकार रक्षा करने वाले साथ हों तो कोई लूटता नहीं है उसीप्रकार मोक्षमार्ग में क्षमादिक गुण रक्षा करने वाले हैं, अतः क्रोधादिक नहीं लूटते हैं।

जिसप्रकार मार्ग सीधा हो तो आसानी से गमन हो सकता है, उसीप्रकार मोक्षमार्ग सरल अर्थात् कपट रहित है इसलिए उसमें सुख पूर्वक प्रवृत्ति हो सकती है।

जिसप्रकार मार्ग में जगह-जगह जल उपलब्ध हो तो प्यास की तकलीफ नहीं होती उसीप्रकार मोक्षमार्ग में उपशम भावरूपी जल होने से तृष्णा का दुःख नही होता।

जिसप्रकार मार्ग में छाया होने से धूप का कष्ट नहीं होता, उसीप्रकार मोक्षमार्ग में स्व-पर दया होने से संताप नहीं होता।

जिसप्रकार गमन करने से गन्तव्य नगर में पहुँच जाते हैं, उसीप्रकार शुद्ध भावना से मोक्षमार्ग में गमन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जिसप्रकार उपर्युक्त समस्त सामग्री मिलने पर पथिक अभीष्ट नगर पहुँच जाता है उसीप्रकार मोक्षमार्गी भी इष्ट सामग्री (मार्गदर्शक आदि) मिलने पर मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

स्त्रियों का महाविषमय स्वरूप

मोक्षमार्ग में सम्भावित उपद्रवों (बाधाओं) का वर्णन आगामी पाँच छन्दों में करते हैं :-

शार्दूल विक्रीडित

मिथ्यादृष्टि विषान् वदन्ति फणिनो दृष्टं तदा सुस्फुटं,
यासामर्धविलोकनैरपि जगद्दन्दह्यते सर्वतः ।
तास्त्वय्येव विलोमवर्तिनि भृशं भ्राम्यन्ति बद्धक्रुधः,
स्त्रीरूपेण विषं हि केवलमतस्तद् गोचरं मा स्म गाः ॥१२६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अज्ञानी दृष्टि-विष कहते सर्पों को यह किन्तु असत्य ।
जो निज नेत्र-कटाक्ष मात्र से करें सर्वथा जग संतप्त ॥
उन्हें छोड़ विपरीत हुआ तू अतः क्रुद्ध हो वे भ्रमतीं ।
उनका विषय नहीं बनना केवल विषरूप समझ स्त्री ॥१२६॥

अर्थ :- सर्पों में दृष्टि-विष जाति के सर्पों का वर्णन करना मिथ्या है, क्योंकि हम इन स्त्रियों में ही दृष्टि-विषपना प्रत्यक्ष देखते हैं, क्योंकि उनके कटाक्षरूप अर्धावलोकन से भी लोक के सर्वांग में दाह उत्पन्न होता है । तथा उनका त्याग करने से तू उनके प्रतिकूल हो गया है, इसलिए वे तुझ पर क्रुद्ध होकर तुझे भ्रष्ट करने के लिए चारों तरफ घूम रही हैं। स्त्री के रूप में यह केवल विष ही है, इसलिए तू इनके वश में मत हो।

भावार्थ :- लोक में ऐसे सर्पों का वर्णन भी सुनने में आता है, जिन्हें देखने मात्र से विष चढ़ता है, परन्तु यह तो अंलकारमय भाषा में कहा है, यह कथन सत्य नहीं है। लेकिन स्त्रियों के कटाक्ष से तत्काल विष के समान आताप उत्पन्न करनेवाला काम विकार उत्पन्न हो जाता है, इसलिए उनमें ही दृष्टि-विषपना कहना चाहिए।

यहाँ मुनियों को शिक्षा देते हुए कह रहे हैं कि और सब लोग तो स्त्रियों के दास हैं, परन्तु तू उनका त्यागी हुआ है; इसलिए वे तुझे भ्रष्ट होने में कारण बनना चाहती हैं; अतः तू उनके सामने ही मत जा ! मोक्षमार्ग में स्त्रियों के वशीभूत होना ही सबसे बड़ा उपद्रव है।

स्त्रीरूपी सर्प के विष की औषधि नहीं

शार्दूल विक्रीडित

क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति भुजगा दृष्ट्वैव काले क्वचित्,
तेषामौषधयश्च सन्ति बहवः सद्यो विषव्युच्छिदः ।
हन्युः स्त्रीभुजगाः पुरेह च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा,
योगीन्द्रानपि तान्निरौषधविषा दृष्टाश्च दृष्ट्वापि च ॥१२७॥

क्रोधित होने पर ही डसकर प्राण हरे यह सर्प कभी ।
उनका विष हरने वाली औषधि मिलती है आज सभी ॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नारी-सर्प सदा डसता है हो प्रसन्न या क्रोधित भी ।
योगी उसको देखें या वह देखे इस-भव पर-भव भी ॥१२७॥

अर्थ :- सर्प तो किसी समय क्रोधित होने पर ही डस कर प्राण हरण करते हैं और उनके विष को तत्काल दूर करनेवाली औषधि भी मिलती है; परन्तु ये स्त्रीरूपी सर्प क्रोधित होने पर भी डसते हैं और प्रसन्न होने पर भी डसते हैं। ये पर-लोक में और इसलोक में बारम्बार योगीश्वरों को स्त्रियों के द्वारा देखे जाने पर या स्वयं स्त्री को देखने पर उसके द्वारा डस लिये जाते हैं। इस स्त्री रूपी सर्प के विष की कोई औषधि नहीं है।

भावार्थ :- लोक में सर्प को अति अनिष्ट जानकर लोग उससे डरते हैं और स्त्रियों को अत्यन्त इष्ट जानकर उनका विश्वास करते हैं, इसलिए स्त्रियों से राग छुड़ाने के लिए उनकी तुलना सर्प से करके उन्हें सर्प से भी अधिक खतरनाक बताया जा रहा है।

सर्प तो क्रोधित होने पर ही मारता है, परन्तु स्त्री क्रोधित होने पर कोई उपाय करके और प्रसन्न होने पर आकुलता बढ़ाकर जीवों को मारती है।

सर्प तो कभी एक बार मारता है, परन्तु स्त्री इसलोक और पर-लोक में बारम्बार मरण कराती है।

सर्प तो डस कर प्राण हरण करता है, परन्तु स्त्री पुरुषों को देखकर ही या पुरुष उसे स्वयं देखें, (स्त्री पुरुष को न देखे) तो भी वह उनका घात करती है।

सर्प का विष दूर करनेवाली अनेक औषधियाँ हैं, परन्तु स्त्री से उत्पन्न काम-सन्ताप की कोई औषधी नहीं है।

इसप्रकार स्त्रीरूपी सर्प मोक्षमार्गियों को भी भ्रष्ट करता है, इसलिए उसका विश्वास नहीं करना चाहिए।

मुक्ति-स्त्री से ही अनुराग की प्रेरणा

शार्दूलविक्रीडत

एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसीं,
मुक्तिश्रीललनां गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तां त्वं संस्कुरु वर्जयान्यवनितावार्तामपि प्रस्फुटं,
तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः ॥१२८॥

यह उत्तम नायिका जगत्-प्रिय मिले न साधारण जन को ।
मुक्ति-श्री ललना [1] गुण-ग्राहक यदि पाना चाहो इसको ॥
रत्नत्रय से करो विभूषित पर-स्त्री की करो न बात ।
ईर्ष्यायुत महिला होती हैं अतः इसी से कर अनुराग ॥१२८॥

अर्थ :- यह मोक्ष-लक्ष्मीरूपी मनोहर स्त्री उत्तम नायिका है, सामान्य जनों के लिए इसे पाना वर्जित है; चाहे जिस व्यक्ति को इसकी प्राप्ति नहीं होती। फिर भी यह जगत के जीवों को अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि जो इसका स्वरूप जानते हैं वे सभी इसे चाहते हैं।

यह गुणों में स्नेह रखती है अर्थात् जिसमें गुण होते हैं, उसी को इसकी प्राप्ति होती है। यदि तू इसे प्राप्त करना चाहता है तो तू इसे रत्नत्रय आदि आभूषणों से भूषित कर,तथा प्रगट में अन्य लौकिक स्त्रियों की बात भी मत कर ! क्योंकि स्त्रियाँ प्रायः ईर्ष्यालु होती हैं। तू मोक्ष-लक्ष्मी में ही अनुराग बढ़ा - इसी उपाय से तुझे वह प्राप्त होगी।

भावार्थ :- यहाँ अलंकार शैली में मोक्ष-लक्ष्मी को स्त्री कहा है। जिसप्रकार कोई पुरुष किसी स्त्री को अपने वश में करना चाहता है तो वह अन्य स्त्री की बात भी नहीं करता, उसी से अनुराग बढ़ाता है और आभूषणादि से उसे प्रसन्न करता है। उसीप्रकार तू मोक्ष-लक्ष्मी को चाहता है तो लौकिक स्त्रियों की बात भी मत कर, उसी से प्रीति बढ़ा, रत्नत्रय आदि से उसका साधन कर - यही उसकी प्राप्ति का उपाय है।

जिसप्रकार स्त्रियों में परस्पर ईर्ष्या पाई जाती है, इसलिए परस्पर विरोधी दो स्त्रियों में से एक को ही प्रसन्न किया जा सकता है। उसीप्रकार मोक्ष-लक्ष्मी और लौकिक स्त्रियों में परस्पर ईर्ष्या या विपरीतता है, इसलिए उनमें से किसी एक का साधन किया जा सकता है; अतः लौकिक स्त्रियों को छोड़कर मुक्ति-लक्ष्मी का साधन करना चाहिए।

---

१. मुक्तिरूपी स्त्री

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नारी को सरोवर की उपमा

हरिणी

वचनसलिलैर्हास- स्वच्छैस्तरंगसुखोदरैः,
वदनकमलैर्बाह्ये रम्याः स्त्रियः सरसीसमाः।
इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञास्तटेऽपि पिपासवो,
विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनर्न समुद्गताः ॥१२९॥

स्वच्छ हास्यमय वचन सलिलयुत सुखदा चञ्चल लहर समान।
वदन-कमल से बाह्य रम्य है नारी सरोवरी[1] सम जान ॥
बहुत जीव तृष्णातुर हो, तट सरोवरी के हैं जाते ।
विषय-ग्राह[2] से ग्रस्त हुए अज्ञानी निकल नहीं पाते ॥१२९॥

अर्थ :- स्त्रियाँ सरोवरी के समान हैं। वे हास्यरूपी स्वच्छता और वक्रोक्ति आदि सुखद तरंग गर्भित वचनरूपी जल और मुखरूपी कमलों द्वारा बाहर से रमणीय लगती हैं। बहुत से बुद्धिहीन लोग इस स्त्रीरूपी सरोवरी के किनारे ही तृष्णावन्त होते हुए विषयरूपी विषम गोह (मगरमच्छ) द्वारा ग्रस लिए जाते हैं और उससे बाहर नहीं निकल पाते, अर्थात वहीं मरण को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- जिसप्रकार सरोवरी निर्मल जल-तरंगों और कमलों द्वारा बाहर से रमणीय लगती है, परन्तु उसमें गोह (मगरमच्छ) नामक जलचर जीव भी रहता है। कोई अविवेकी व्यक्ति प्यास बुझाने के लिए वहाँ जाता है और किनारे पर ही खड़ा रहता है। अरे ! यह तो अपनी प्यास बुझाने के लिए गया था, परन्तु गोह ने उसे अपने दातों से खींचकर निगल लिया। फिर वह व्यक्ति बाहर नहीं निकल पाता और वहीं उसकी मृत्यु हो जाती है।

उसीप्रकार सरोवरी के समान ये स्त्रियाँ भी हास्य या युक्ति गर्भित वचनों और मुखरूपी कमलों से सुशोभित होती हैं, इसलिए बाहर से रमने योग्य भासित होती हैं, क्योंकि ये काम-सेवनरूप विषय में साधन हैं। कोई अज्ञानी जीव काम-जन्य तृष्णा से आतुर होकर उनके पास जाकर दूर से ही उन्हें देखने लगा; लेकिन अरे रे ! यह तो अपनी चाह मिटाने के लिए गया था, परन्तु काम ने उसे अपनी विषयरूप सामग्री से विह्वल करके भ्रष्ट कर दिया। फिर इसे होश

---

१. छोटा तालाब २. मच्छ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं आता और यह मरकर स्थावर आदि पर्यायों में उत्पन्न होता है। इसलिए इन स्त्रियों का विश्वास नहीं करना चाहिए।

नारी, काम द्वारा निर्मित घातस्थल है

शार्दूल विक्रीडित

पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः प्रज्वाल्य रागानलं,
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः संत्रासिताः सर्वतः ।
हन्तैते शरणैषिणो जनमृगाः स्त्रीछद्मना निर्मितं,
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधादिपस्याकुलाः ॥१३०॥

क्रूर, पापरत, भयप्रद, इन्द्रिय-व्याध[1] मृग-स्थल[2] के चहुँ ओर।
त्रस्त करें रागानल द्वारा इन्द्रिय-लुब्धजनों को घोर ॥
शरण खोजते जन-मृग[3] दौड़ें काम-व्याध नृप[4] से निर्मित।
नारीमय जो छद्मरूप घात-स्थल[5] पायें हो पीड़ित ॥१३०॥

अर्थ :- पापी और क्रोधी इन्द्रियरूपी शिकारी अपने शिकार के निवास स्थान के चारों ओर रागरूपी आग जलाकर सर्वप्रकार से भय उत्पन्न करते हैं, तब भयाक्रान्त मनुष्यरूपी हिरण आकुलित होकर शरण प्राप्त करने के लिए दौड़ते हैं, परन्तु हाय ! हाय !! उन शिकारियों के कामरूपी स्वामी द्वारा स्त्रीरूपी कपट से बनाए गए मरण-स्थल में पहुँच जाते हैं।

भावार्थ :- जिसप्रकार प्रधान शिकारी के अनुचर शिकार करने के लिए जहाँ हिरण होते हैं उस स्थान के चारों ओर अग्नि जलाते हैं, तथा शिकार करने का एक स्थान निश्चित करते हैं। जब अग्नि से डरकर हिरण उस निश्चित स्थान की ओर बचने की आशा से भागते हैं, परन्तु वहाँ बैठा हुआ प्रधान शिकारी उन्हें शस्त्रादि से मार देता है।

उसीप्रकार प्रधानरूपी काम-विकार के इन्द्रियरूपी सेवक, जीवों को भ्रष्ट करने के लिए सर्व वर्णादि विषयों में राग उत्पन्न करते हैं। तथा लोक में एक स्त्री नामक पदार्थ पाया जाता है। वे जीव, रागजन्य आकुलता से पीड़ित होकर सुख की आशा से स्त्री के पास पहुँचते हैं कि हम यहाँ सुखी हो जायेंगे; परन्तु वहाँ

---

१. इन्द्रियरूपी शिकारी २. शिकार करने का स्थान ३. मनुष्यरूपी शिकार ४. कामरूपी शिकारियों का सरदार ५. घात करने का स्थान (कामरूपी व्याधराज ने घातस्थल को छल से नारी बना दिया है)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रधान शिकारी काम उन्हें अपनी कुचेष्टारूपी बाणों से भ्रष्ट (घायल) कर देता है, तब वे बहुत आकुलित होते हैं। इसलिए स्त्रियों को भला स्थान जानकर उनका विश्वास करना योग्य नहीं है।

इसप्रकार बाह्य उपद्रव के कारणरूप प्रवृत्ति का निषेध करके अब अन्तरंग उपद्रव के कारणरूप प्रवृत्ति का निषेध करने के लिए आगामी छन्द कहते हैं :-

नारी के प्रति आसक्ति में निर्लज्जता

पृथ्वी

अपत्रप तपोऽग्निना भयजुगुप्सयोरास्पदं,
शरीरमिदमर्धदग्धशववन्न किं पश्यसि ।
वृथा व्रजसि किं रतिं ननु न भीषयस्यातुरो,
निसर्गतरलाः स्त्रियस्तदिह ताः स्फुटं बिभ्यति ॥१३१॥

तपरूपी अग्नि द्वारा जो हुआ घृणास्पद अरु भयप्रद ।
अर्धदग्ध शव सम तन तेरा ! क्यों न देखता रे निर्लज्ज !
तुझे देखकर भय से व्याकुल होकर सदा भागतीं दूर ।
हैं स्वभाव से कायर नारी, फिर क्यों राग करे भरपूर ॥१३१॥

अर्थ :- हे निर्लज्ज ! तेरा यह शरीर तपरूपी अग्नि से अधजले मुर्दे के समान भय और घृणा उत्पन्न करनेवाला हो रहा है, क्या तू उसे नहीं देखता ? व्यर्थ ही उसमें क्यों आसक्त हो रहा है। हे भ्रष्ट ! तू तृष्णा के वशीभूत होकर स्त्रियों से नहीं डरता, उनका संग करना चाहता है; परन्तु वे स्त्रियाँ सहज ही चञ्चल और कायर होने से तुझसे प्रगट में डरती हैं, तेरी भयानक मूर्ति देखकर दूर भागती हैं।

भावार्थ :- दीक्षा लेकर भी काम-विकार से स्त्रियों में आसक्त होनेवाले को यहाँ शिक्षा दी जा रही है कि तेरा शरीर तप से अधजले मुर्दे के समान भयानक और घृणास्पद हो गया है, और तू स्त्रियों का संग चाहता है। अरे ! उनका ऐसा स्वभाव है कि जिसका शरीर कुरूप दिखता है, उसकी मजाक उड़ा कर उससे दूर भागती हैं; इसलिए हे निर्लज्ज ! तुझे उनका संग तो मिलना नहीं है, व्यर्थ ही अपना बिगाड़ क्यों करता है ? इस पदवी को प्राप्त करके तुझे अपना भला ही करना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

काम सेवन में खेद

तू जिन स्थानों में रति करता है उनका स्वरूप आगामी तीन छन्दों में दिखाते हैं :-

वसन्ततिलका

उत्तुङ्ग सङ्गत कुचाचल दुर्गदूर -
मारादबलित्रयसरिद्विषमावतारम् ।
रोमावली कुसृति मार्गमनङ्गमूढाः,
कान्ताकटीविवरमेत्य न केऽत्र खिन्नाः ।।१३२।।

उन्नत और निकटवर्ती कुचरूप अचल[1] से जो दुर्गम ।
उदर-स्थित त्रिवली सरिता से पार प्राप्ति अत्यन्त विषम ।।
रोम पंक्ति पथ भटक भटक कर भी पहुँचें यदि काम-विमूढ़ ।
कान्ता का कटि-छिद्र प्राप्त कर कौन खिन्न होता नहिं मूढ़ ।।१३२।।

अर्थ :- ऐसे कौन मूढ़ हैं जो काम-विकार से स्त्री के योनि-स्थान के समागम से खेद-खिन्न नहीं होते, अपितु सभी जीव तत्काल व भविष्य में भी महा खेद को प्राप्त करते हैं । वह स्थान, अत्यन्त ऊँचे और परस्पर मिले हुए कुचोंरूपी पर्वतों के गढ़ से दुर्लभ हैं । अत्यन्त विशाल त्रिवलीरूप नदियों के कारण उससे पार होना अति विषम है तथा रोम-पंक्तियों के कारण वहाँ पहुँचने का मार्ग अत्यन्त खोटा (कष्ट प्रद) है ।

भावार्थ :- जिसप्रकार जिस स्थान तक पहुँचने के मार्ग में परस्पर मिले हुए ऊँचे-ऊँचे पर्वत हों, जिससे पार होना कठिन है - ऐसी नदी हो और सघन वृक्षों के कारण जो अत्यन्त दुर्गम हो; उस स्थान तक पहुँचने में महाकष्ट होता है । उसीप्रकार योनि स्थान में रमण करने के पूर्व ऊँचे-ऊँचे कुच (स्तन) हैं, अत्यन्त खेदजनक त्रिवली है और बालों के कारण उसकी प्राप्ति कठिन है; अतः उस स्थान की प्राप्ति में खेद होता ही होता है । फिर भी यह मूढ़ जीव प्रत्यक्ष खेद को सुख मानता है । जिसप्रकार कोई दुःखी व्यक्ति अपना सिर फोड़ने में सुख मानता है, उसीप्रकार काम से पीड़ित व्यक्ति दुःख में भी सुख की कल्पना करता है; इसलिए काम-विकार मिटाना योग्य है ।

---

१. स्तनरूपी पर्वत

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्त्री की योनि का वीभत्सरूप

वसन्ततिलका

वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य,
नाडीव्रणं विषमनिर्वृतिपर्वतस्य।
प्रच्छन्नपादुकमनङ्गमहाहिरन्ध्र -
माहुर्बुधा जघनरन्ध्रमदः सुदत्याः ॥१३३॥

कामी का मल-क्षेपण थल, कामायुध का नाड़ी-व्रण[1] जान ।
दुर्गम मोक्षरूप पर्वत का आच्छादित गड्ढे सम मान ॥
कामरूप इस महासर्प के रहने का यह है स्थान ।
बुधजन कहते सुन्दर दन्तवती नारी का जघन स्थान ॥१३३॥

अर्थ :- ज्ञानी जनों ने सुन्दर दाँतोंवाली स्त्री के जघन रंध्र अर्थात् योनिरूप छिद्र को विषयी पुरुषों का विष्टा घर, कामरूपी शस्त्र का घाव, विषम मोक्षरूपी पर्वत को आच्छादित करने वाला गड्ढा और कामरूपी महासर्प का बिल अर्थात् रहने का स्थान कहा है ।

भावार्थ :- जिसप्रकार शौचालय विष्टाक्षेपण का स्थान है, उसीप्रकार योनि-छिद्र कामी पुरुषों के वीर्य-क्षेपण का स्थान है । जिसप्रकार शस्त्र से घाव हो जाता है, उसीप्रकार योनि-छिद्र पुरुष के लिङ्गरूपी काम के शस्त्र का घाव है । जिसप्रकार पर्वत की आड़रूप छिपा हुआ गड्ढा वहाँ पहुँचने में बाधक होता है उसीप्रकार यह मोक्ष की आड़रूप छिपा हुआ गड्ढा है, जो मोक्ष तक पहुँचने में बाधक है । जिसप्रकार बिल में सर्पों का वास है, वहाँ जो प्राणी जाते हैं, वे सर्प उसे डस लेते हैं; उसीप्रकार योनि-छिद्र में काम का वास है, जो उसमें रति करते हैं उन्हें वह मोहित कर लेता है ।

इसप्रकार अनेक उपमाओं द्वारा योनि-छिद्र की अनिष्टता जानकर उससे राग नहीं करना चाहिए ।

विषय-सुख का पोषण करनेवाले ठग

शार्दूल विक्रीडित

अध्यास्यापि तपोवनं वत परे नारीकटीकोटरे,
व्याकृष्टा विषयैः पतन्ति करिणः कूटावपाते यथा ।

१. नसों पर होनेवाला घाव ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रोचे प्रीतिकरीं जनस्य जननीं प्राग्जन्मभूमिं च यो,
व्यक्तं तस्य दुरात्मनो दुरुदितैर्मन्ये जगद्वञ्चितम् ।।१३४।।

तप हेतु विपिन जाकर भी जन नारी कटि-कोटर में गिरते ।
विषयों से आकर्षित गज ज्यों छल-कृत गड्ढे में पड़ते ।।
पूर्वजन्म की जन्म-भूमि को प्रीतिंकर जो कहते हैं ।
दुष्टवचन द्वारा वे वञ्चक सारे जग को ठगते हैं ।।१३४।।

अर्थ :- हा ! हा ! धर्म से भ्रष्ट होनेवाले कोई जीव तप करने के स्थान अर्थात् वन में जाकर भी विषयों से प्रेरित होकर कपट से बनाए हुए गड्ढे में गिरनेवाले हाथी के समान स्त्री के कटि-छिद्र में गिरते हैं । अरे ! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि योनि तो मनुष्य का जन्म स्थान होने से उसकी माता है और उसे प्रीति उत्पन्न करनेवाली कह कर खोटी कवितायें लिखनेवाले दुष्टात्मा कुकवियों के दुष्ट वचनों से यह जगत ठगाया जाता है ।

भावार्थ :- जिसप्रकार वन में स्वाधीन विचरण करनेवाले हाथी को पकड़नेवाले लोग कपट से गड्ढा खोदकर उसे ढक देते हैं और विषय-सेवन के लोभ से हाथी उस गड्ढे में गिरकर अनेक कष्ट सहता है; उसीप्रकार वन में स्वाधीन विचरण करनेवाले मुनियों को भ्रष्ट करने में कारण स्त्री का योनि-स्थान है और विषय-सेवन के लोभ से वे स्त्री की योनि में रमण करते हैं और पर-लोक में अनेक कष्ट सहन करते हैं । आचार्यदेव कहते हैं कि जीव को काम-विकार तो अनादि से है, उसे वैराग्य पोषक शिक्षा देनेवाले मिलें तो काम-विकार घटे परन्तु खोटे कवि अनेक युक्तियों से उसके अंगो को रमणीय दिखाकर उनके विकार को और अधिक बढ़ानेवाले काव्य लिखते हैं[१] और उनके वचनों से ठगाकर यह जीव चेतता नहीं है । अरे ! इन कुकवियों की ढीठता तो देखो ! जिस योनि-स्थान में अपना जन्म हुआ, उसी को रमने योग्य बताते हैं; इसलिए उनके बहकावे में आकर स्त्री की योनि में राग मत करो । रागी होने पर महाकष्ट पाओगे - यहाँ ऐसी शिक्षा दी गई है ।

---

१. पण्डित भूधरदास जी ने भी निम्न छन्द में यही भाव व्यक्त किया है :-
राग उदै जग अन्ध भयो सहजै सब लोगन लाज गवाँई। सीख बिना नर सीखत हैं विषयादिक भोगन की चतुराई ॥
ता पर और रचैं रसकाव्य, कहा कहिए तिनकी निठुराई। अन्ध असूझन की अँखियनि में, झोंकत है रज रामदुहाई ॥
- भूधरशतक : छन्द क्रमांक ६४

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नारी विष से भी अधिक भयानक है

अनुष्टुप्

कण्ठस्थः कालकूटोऽपि शम्भोः किमपि नाकरोत्।
सोऽपि दन्दह्यते स्त्रीभिः स्त्रियो हि विषमं विषम्॥१३५॥

कालकूट कण्ठस्थ हुआ पर जिसका कुछ भी कर न सका।
विषमरूप विष नारी द्वारा वह शिव भी अति दहक रहा॥१३५॥

अर्थ :- रुद्र के कण्ठ में स्थित कालकूट विष भी कुछ नहीं कर सका, लेकिन वह रुद्र भी स्त्रियों द्वारा संतापित किया जाता है; इसलिए स्त्रियाँ अन्य विषों से भी अधिक विषम विष हैं।

भावार्थ :- लोक में यह कहा जाता है कि कालकूट विष के समान निरुपाय (उपाय रहित) और अनिष्ट विष दूसरा नहीं है, परन्तु यह स्त्री उससे भी अधिक विषम और निरुपाय है। देखो ! महादेव ने अपने कण्ठ में कालकूट विष को रखा परन्तु उसने उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ा, लेकिन स्त्री ने उन्हें भी काम-पीड़ित करके आताप उत्पन्न किया इसलिए उसका विषमपना कालकूट से भी अधिक जानना चाहिए। स्त्रियों के प्रति अनुराग उत्पन्न करानेवाले, विष को अमृत बतानेवाले ठगों से भी अधिक महाठग हैं - ऐसा जानना चाहिए। अतः उनके वचनों से प्रभावित होकर स्त्रियों में अनुराग नहीं करना चाहिए।

स्त्रियों को चन्द्रमा की उपमा देना उचित नहीं है

आगामी छन्द में कहते हैं कि स्त्रियों के शरीर को चन्द्रमा आदि की उपमा देकर आसक्ति बढ़ाना झूठा है :-

मालिनी

तव युवतिशरीरे सर्वदोषैकपात्रे,
रतिरमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत्।
ननु शुचिषु शुभेषु प्रीतिरेष्वेव साध्वी,
मदनमधुमदान्धे प्रायशः को विवेकः॥१३६॥

सर्व-दोष के घर इस नारी तन में यदि तुझको अनुराग।
चन्द्र आदि सम सुन्दरता लख तुझको होता है अति राग॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तब तो शुचि शुभ इन पदार्थ से करना है अति प्रीति भला ।
किन्तु मदन-मधु से मदान्ध को होती यह न विवेक कला ॥१३६॥

अर्थ :- हे प्राणी ! सभी दोषों के पात्र स्त्री-शरीर में चन्द्रमा आदि पदार्थों के समान स्वभाव मानकर जो तू प्रीति करता है, सो ये चन्द्रमा आदि पदार्थ शुभ हैं और शुचि हैं, अतः इनमें प्रीति करना ठीक है, परन्तु कामरूपी मदिरा के मद से अन्ध प्राणियों में विवेक कहाँ पाया जाता है ?

भावार्थ :- खोटे कवि चन्द्रमा, कमल आदि पदार्थों की उपमा स्त्री के अंगों से करके अनुराग उत्पन्न कराते हैं। कामान्ध होने के कारण तुझे कुछ नहीं दिखता है। तथा हॉड़-माँस के बने इन अंगों से चन्द्रमा की समानता कैसे हो सकती है ? तेरी बुद्धि में चन्द्रमा आदि की उपमा ठीक लगती है तो जिनकी उपमा दी है, वे तो इनसे कुछ भले होंगे। लेकिन स्त्री के अंग तो अपवित्र और बुरे हैं तथा चन्द्रमा आदि पवित्र और भले हैं तो चन्द्रमा आदि में ही अनुराग क्यों नहीं करता ? परन्तु जैसे कीड़ा विष्टा में रति मानता है, वैसे तू स्त्री के अंगों में रति मानता है। कामान्ध को भले-बुरे का विवेक नहीं होता, इसलिए कामान्धपना मिटाकर विवेकी होना योग्य है।

मन की नपुंसकता

स्त्री के शरीर में प्रीति मन द्वारा होती है और मन नपुंसक है अतः वह नपुंसक मन ज्ञानी पुरुषों को कैसे जीत सकत सकता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

पृथ्वी

प्रियामनुभवत् स्वयं भवति कातरं केवलं,
परेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ह्लादते।
मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः,
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान जीयते॥१३७॥

प्रिया-भोग में आकुल है पर कायर भोग नहीं सकता ।
किन्तु भोगती हुई इन्द्रियों को लख आनन्दित होता ॥
अतः नपुंसक कहा शब्द से और अर्थ से भी यह मन ।
शब्द-अर्थ से हुए पुरुष को कैसे जीत सकेगा मन ॥१३७॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- स्त्री को भोगते समय मन तो कायर बना रहता है, क्योंकि वह उसे भोग नहीं सकता; परन्तु जब स्पर्शनादि इन्द्रियाँ स्त्रियों को भोगती हैं तब यह मात्र हर्ष करता है; इसलिए यह मन केवल शब्द से ही नहीं अपितु अर्थ से भी नपुसंक ही है। लेकिन भली बुद्धि के धारक ज्ञानी शब्द और अर्थ दोंनों से पुरुष लिंग हैं, अत: वे इस मन द्वारा कैसे जीते जा सकते हैं ? अर्थात् नहीं जीते जा सकते।

भावार्थ :- कोई कहेगा कि जब मन विकारी हो जाए तो विवेकी भी क्या कर सकते हैं ? (अर्थात उन्हें भी मन के कारण काम सेवन करना पड़ता है ?) ऐसे लोगों को युक्ति से समझाते हैं कि व्याकरण में मन शब्द को नपुंसक लिंगी कहा गया है। तथा यह मन शब्द से ही नपुंसक लिंगी नहीं है अपितु अर्थ ही से भी नपुंसक ही है।

जिसप्रकार नपुंसक स्त्री को भोगना चाहता है परन्तु भोग नहीं सकता तथा अन्य पुरुषों की भोग-क्रीड़ा देखकर स्वयं हर्ष करता है; उसीप्रकार यह मन भी स्त्री को भोगना चाहता है परन्तु स्वयं भोग नहीं सकता, अन्य स्पर्शनादि इन्द्रियाँ जब भोग करती हैं तब यह उनकी क्रीड़ा ही देखकर स्वयं हर्ष करता है। इसप्रकार मन, शब्द और अर्थ दोनों प्रकार से नपुंसक है।

सुबुद्धि अर्थात् सुधी शब्द को व्याकरण में पुरुष लिंगी कहा गया है इसलिए वह शब्द की अपेक्षा भी पुरुष है। तथा जिसकी बुद्धि अच्छी हो उसे सुधी कहा जाता है। (बुद्धिरूपी स्त्री के धनी को सुबुद्धि कहते हैं) तथा स्त्री का धनी पुरुष ही होता है, स्त्री नहीं, इसलिए यह अर्थ से भी पुरुष है। अत: पुरुषार्थ करनेवाला सुधी पुरुष नपुंसक मन से नहीं हार सकता। नपुंसक मन इस सुधी पुरुष को कैसे जीत सकता है ? इसलिए मन को बलवान मानकर अपने को पुरुषार्थ नहीं छोड़ देना चाहिए। पुरुषार्थ करके मन के विकारों का अभाव करना ही योग्य है।

तप की श्रेष्ठता

विवेकी पुरुषों द्वारा मन को जीतकर उत्तम तप करना चाहिए, इससे वे परम पूज्यत्व को प्राप्त होते हैं - यह बात *आगामी छन्द में कहते हैं :-*

स्रग्धरा

राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरुतपः पूज्यमत्रापि यस्मात्,
त्यक्त्वा राज्यं तपस्यन्न लघुरतिलघुः स्यात्तपः प्रोह्य राज्यम्।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

राज्यात्तस्मात् प्रपूज्यं तप इति मनसालोच्य धीमानुदग्रं,
कुर्यादार्यः समग्रं प्रभवभयहरं सत्तपः पापभीरुः ।।१३८।।

सौजन्य युक्त साम्राज्य, ज्ञान युत तप, दोनों ही श्रेष्ठ कहे ।
राज्य त्याग तप ग्राहक उत्तम, निम्न राज्य हित तप छोड़े ।।
अतः राज्य से श्रेष्ठ तपस्या ज्ञानी मन में करें विचार ।
धारण करते पाप-भीरु हो, उत्तम तप नाशक संसार ।।१३८।।

अर्थ :- सौजन्य अर्थात नीति सहित राज्य और शास्त्र-ज्ञान सहित तप-ये दोनों पूज्य हैं; परन्तु इनमें भी जो राज्य को छोड़कर तप करते हैं, वे लघु नहीं होते, बल्कि महानपने को प्राप्त करते हैं । तथा तप को छोड़कर राज्य करनेवाले अत्यन्त लघुत्व अर्थात् नीचपने को प्राप्त होते हैं । इसलिए राज्य की अपेक्षा तप अधिक उत्कृष्ट अर्थात् पूज्य है । इस प्रकार अपने मन से उक्त विचार करके पापों से भयभीत बुद्धिमान आर्यपुरुष करके संसार भय को दूर करनेवाला तप करते हैं ।

भावार्थ :- लोक में दोनों चीजें प्रधान हैं; नीति सहित राज्य और ज्ञान सहित तप । उनमें राज्य को छोड़कर तप करनेवाले वन्दनीय होते हैं और तप को छोड़कर राज्य करनेवाले अति निंद्य होते हैं; इसलिए यह निश्चित है कि राज्य की अपेक्षा विशेष तप प्रधान है । लोक में भी प्रत्यक्ष देखा जाता है कि राजा तपस्वी को वन्दन करता है, परंन्तु तपस्वी राजा को वन्दन नहीं करता । इसप्रकार विचार कर संसार से भयभीत ज्ञानीजन, राज्य को पापरूप संसार का कारण जानकर और तप को संसार-दुःख दूर करने का कारण जानकर, तप को ही अंगीकार करते हैं ।

गुण हीनता से हानि होती है

तपरूपी गुण का नाश होने पर लघुपना हो जाता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि ।
पश्चात् पादोऽपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्याद् गुणक्षतिः ।।१३९।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिन पुष्पों को पूर्व काल में सुरगण भी निज-शीष धरें ।
फिर पैरों से भी नहिं छूते, गुण-क्षति क्या क्या नहीं करे ॥१३९॥

अर्थ :- पहले सुगन्ध आदि गुणों से युक्त होने पर पुष्पों को देवों द्वारा भी मस्तक पर धारण किया जाता है और बाद में गुणों के निकल जाने के बाद कोई उन्हें पैरों से भी नहीं छूता - यह न्याय युक्त भी है क्योंकि गुणों का नाश होने पर कितनी लघुता नहीं होती ? अपितु सर्व ही होती है ।

भावार्थ :- लोक में गुणों से ही महिमा होती है । देखो ! जिस फूल को सुगन्धादि गुण होने पर महान पुरुष भी अपने मस्तक पर रखते थे, उसी फूल की सुगन्ध निकल जाने पर कोई पैरों की ठोकर भी नहीं मारता । इसीप्रकार ज्ञान सहित तप होने पर देव भी जिसकी पूजा करते हैं, भ्रष्ट होने पर कोई उसका समागम भी नहीं करता । अतः गुण का नाश लघुपना अवश्य करता है, इसलिए गुण की रक्षा अवश्य करना चाहिए ।

यहाँ यह आशय समझना चाहिए कि कुल, पद या वेश आदि से अपने को बड़ा मानना भ्रम है । कोई जीव गुणवान होने पर वन्द्य था, वही जीव गुणहीन होने पर निन्द्य हो जाता है, अतः स्वयं भ्रष्ट होने पर पूर्ववर्ती अन्य गुणवान जीवों के गुणों से यह वन्द्य कैसे हो सकता है ? अपने वर्तमान गुणों से ही वन्द्यपना होता है, ऐसा निश्चय करना चाहिए ।

दोष का अंश भी निन्द्य है

बहुत गुण होने पर भी दोषों का अंश भी रहना ठीक नहीं है क्योंकि दोष का अंश रहने से तो सम्पूर्ण दोषमय रहना ही अच्छा है - यह बात आगामी छन्द में अन्योक्ति अलंकार द्वारा समझाते हैं :-

वसन्ततिलका

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं तद्वान्
भवेः किमिति तन्मय एवं नाभूः ।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या,
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः ॥१४०॥

चन्द्र ! दोष युत यदि होना था दोषरूप क्यों नहीं हुआ ।
शेष ज्योति मल को दिखलाती राहु दृष्टिगोचर न हुआ ॥१४०॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- हे चन्द्रमा ! तू कालिमारूप लाञ्छन सहित ऐसा क्यों हुआ ? और यदि लाञ्छन सहित ही होना था तो तू सम्पूर्ण ही कालिमामय क्यों नहीं हो गया ? तेरे मल को अतिशय बलवान बताने वाली (कालिमा को और अधिक उभारनेवाली) अवशेष ज्योति से क्या सिद्धि है ? अरे, जरा विचार कर ! यदि तू राहु के समान पूरा काला होता तो किसी के द्वारा देखने और टोकने योग्य नहीं होता।

भावार्थ :- यहाँ अन्योक्ति अलंकार द्वारा चन्द्रमा को उलाहना दिया गया है, अतः इस दृष्टान्त से उत्कृष्ट मुनिपद धारण करके उसमें दोष लगानेवालों के लिए यह उलाहना समझना चाहिए -

जिसप्रकार उज्ज्वल पदवी (ज्योति) के धारक चन्द्रमा में किञ्चित् भी कालिमा दिखने पर सब लोग उसे कलंकी कहकर टोकते हैं, परन्तु राहू पूरा काला होने पर भी उसका ऐसा ही स्वरूप है - ऐसा जानकर उसे कोई नहीं टोकता। उसीप्रकार तू निर्मल ऊँची मुनिपदवी का धारक हुआ है, अतः तेरा जरा भी दोष भासित होता है तो तुझे कलंकी मानकर सभी टोकते हैं और नीची पदवी के धारक गृहस्थ को सर्वमल युक्त होने पर भी उसका ऐसा ही पद है - ऐसा जानकर उसे कोई नहीं टोकता।

इसप्रकार चन्द्रमा के बहाने इसको शिक्षा दी है कि तू दोष युक्त क्यों हुआ ? और यदि दोष युक्त ही होना था तो पूर्ण दोष युक्त क्यों नहीं हुआ ? ऊँचा मुनिपद छोड़कर नीचा गृहस्थ पद ही अंगीकार करना था। अरे ! तू इन ऊँची मुनिपद की क्रियाओं को साधता है, इनसे तुझे क्या साध्य है ? ये ही तेरे दोषों को प्रगट करती हैं। यदि तू गृहस्थ होता तो अन्य गृहस्थों के समान तुझे भी कोई नहीं टोकता। इसलिए हमारी तो यही शिक्षा है कि यदि तू ऊँची मुनि पदवी धारण करता है तो उसमें दोष मत लगा और यदि दोष लगाता है तो मुनिपद धारण मत कर।

आदिपुराण में भी ऐसा कहा है कि आदिनाथ स्वामी के साथ चार हजार राजा मुनिदीक्षा लेकर भ्रष्ट हो गए, तब देवों ने उनसे कहा कि इस पद में ऐसा भ्रष्ट आचरण करोगे तो हम दण्ड देंगे, इस पदवी को छोड़कर जैसा रुचे वैसा करो।

यहाँ कोई कहता है कि लोक को कहना हो, वैसा कहे, लेकिन फल तो जितना गुण-दोष होगा उतना ही लगेगा ? - इस प्रश्न का उत्तर षट्पाहुड (अष्ट

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पाहुड) में निम्नानुसार दिया गया है :-

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गहदि अत्थेसु ।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोयं ॥[1]

अर्थ :- यथाजातरूप नग्न मुनि तिल के तुष मात्र भी पदार्थों का ग्रहण नहीं करते, यदि किञ्चित् भी ग्रहण करें तो उसके फल में वे निगोद जाते हैं।

अतः यहाँ देखो ! बहुत परिग्रह का धारी गृहस्थ थोड़ा भी धर्म साधे तो शुभगति प्राप्त करता है और मुनि थोड़ा-सा भी व्रत-भंग करे तो निगोद जाता है तथा न्याय भी ऐसा ही है कि अनशन तप का धारी अन्न का दाना भी ग्रहण करे तो पापी होता है और अनशन व्रत धारण नहीं करनेवाला अवमौदर्य व्रत में उससे अधिक भोजन करते हुए भी धर्मात्मा होता है।

इससे सिद्ध होता है कि दोष सहित ऊँची पदवी की अपेक्षा नीची पदवी ही श्रेष्ठ है इसलिए दोष लगाकर ऊँची पदवी को बिगाड़ना योग्य नहीं है।

दोष बतानेवाले दुर्जन भी हितकारी हैं

विद्यमान दोषों को प्रकाशित करनेवाला दुर्जन भी हितकारी होने से आराध्य है और दोषों को छिपानेवाला आचार्य या गुरु भी अहितकारी होने से आराध्य नहीं है - इसप्रकार आगामी छन्द में योग्य-अयोग्य को दिखाते हुये कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

दोषान् कांश्चन तान्प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,
सार्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं,
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः ॥१४१॥

दोष-प्रवर्तन इच्छा से यदि शिष्य-दोष को गुरु ढकता ।
दोष सहित हो मरण शिष्य का तो फिर गुरु क्या कर सकता ॥
अतः हमारा नहीं हितैषी दोष ढाँकने वाला गुरु ।
अल्पदोष को अतिशय कहने वाला दुर्जन सच्चा गुरु ॥१४१॥

---

१. *अष्ट पाहुड (सूत्र पाहुड) गाथा १८*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- कोई व्यक्ति गुरु-प्रवृत्ति कायम रखने के अभिप्राय से शिष्य में विद्यमान दोषों को छिपाता है और यदि उन दोषों के रहते हुए ही शिष्य का मरण हो जाए तो गुरु क्या करेगा ? इसलिए ऐसा गुरु मेरा गुरु नहीं है तथा जो मेरे दोषों को देखने में प्रवीण अर्थात् निरन्तर मेरे दोषों को अच्छी तरह देखनेवाला और मेरे थोड़े दोषों को भी बढ़ा-चढ़ाकर कहनेवाला दुर्जन भी मेरा सच्चा गुरु है।

भावार्थ :-पिछले छन्द में दोषवान की निन्दा की थी। यदि कोई कहे कि हमें दोष-ग्राही नहीं होना चाहिए, मात्र गुण-ग्राही होना चाहिए, तो उससे कहते हैं कि जो दोषयुक्त होकर भी अपना उच्चपना कायम रखना चाहते हैं, उन्हें दोष प्रगट करनेवाला बुरा लगता है; परन्तु जो धर्मात्मा अपनी भूमिका से अधिक उच्चपना प्रगट नहीं करना चाहते और यदि अपने में कोई दोष हो तो उसे दूर करना चाहते हैं, उन्हें दोष प्रगट करनेवाला बुरा नहीं लगता।

यहाँ धर्मात्मा जीव ऐसा विचार करते हैं कि गुण-दोष का ज्ञान तो गुरु-उपदेश से होता है। यदि गुरु-प्रवृत्ति (विनय आदि) करवाने के लोभ से जिसप्रकार अपना सम्प्रदाय (संघ) बढ़े, उसप्रकार कार्य करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में यदि वे दोष न बतायें तो शिष्य को दोषों का ज्ञान नहीं होगा और वह दोषों का अभाव नहीं करेगा। यदि गुरु सोचें कि बाद में दोष बताकर छुड़ा देंगे, परन्तु दोष रहते हुए ही शिष्य का मरण हो जाए तो वह कुगति में जाएगा, तब गुरु क्या करेंगे ? इसलिए जो दोष को छिपाए वह गुरु नहीं है।

दुर्जन लोग थोड़े दोषों को देखकर भी बढ़ा-चढ़ा कर प्रगट करते हैं तो धर्मात्मा जीव अपने दोषों को जानकर उनका अभाव करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। इसप्रकार दोषों का कथन उपदेश के समान गुणकारी होता है, इसलिए दोषों को कहनेवाला यद्यपि दुर्जन है तथापि गुरु के समान कार्यकारी है।

इसप्रकार धर्मात्मा जीव दोष छिपानेवाले गुरु की अपेक्षा दोष बतानेवाले दुर्जन को भी भला जानते हैं।

प्रश्न :- दोष कहने से मर्म-छेद (अर्थात् दोषी व्यक्ति के मन में चोट लगती है) होता है अतः पाप भी तो होता है ?

उत्तर :- यदि ईर्ष्या भाव से बुरा करने के अभिप्राय से दोष प्रगट करें तो पाप ही होता है परन्तु यदि करुणावन्त होकर दोष छुड़ाने के अभिप्राय से दोष

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रगट करें तो पुण्य ही होता है।

प्रश्न :- दुर्जन को तो पाप ही होता हैं फिर उसे गुरु कैसे कहा है ?

उत्तर :- दुर्जन तो पापी ही है, परन्तु यहाँ दोष छिपानेवाा गुरु दुर्जन से भी बुरा है - यह बताने के लिए यहाँ अलंकारिक भाषा में उसे गुरु कहा है। परमार्थ से वह गुरु नहीं है।

इसप्रकार धर्मात्मा जीव दोष कहनेवाले को इष्ट मानते हैं।

गुरु के कठोर वचन भी हितकारी हैं

यहाँ कोई तर्क देते हैं कि शिष्य का दोष कहने से उसे चिन्ता हो जाएगी, इसलिए आचार्य दोषों को छिपाकर प्रवृत्ति करते हैं ? - इसका समाधान आगामी छन्द में करते हैं :-

अनुष्टुप्

विकाशंयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः ।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः ॥१४२॥

हो कठोर गुरु-वाणी पर भव्यों का मन विकसित करती ।
जैसे सूर्य किरण कठोर भी कमल-कली विकसित करती ॥१४२॥

अर्थ :- जिसप्रकार सूर्य की किरणें भी कमल को प्रफुल्लित करती हैं उसीप्रकार गुरु की कठोर वाणी भी भव्य जीव के मन को प्रफुल्लित करती है।

भावार्थ :- श्री गुरु दोष छुड़ाने और गुण-ग्रहण कराने के लिए कदाचित् असुहावने कठोर वचन भी कहें तो भी भव्य जीव का मन उन वचनों को सुनकर प्रसन्न ही होता है, उसे चिन्ता या खेद नहीं होता। जिसप्रकार सूर्य की किरणें यद्यपि औरों को आताप उत्पन्न करनेवाली उग्र या कठोर होती हैं, तथापि वे कमल की कली को प्रफुल्लित ही करती हैं; उसीप्रकार गुरु के वचन पापियों को स्वयं हीन होने के कारण यद्यपि दुःख उत्पन्न करनेवाले कठोर होते हैं, तथापि वे धर्मात्मा के मन को आनन्द ही उत्पन्न करते हैं। धर्मात्मा जीवों को श्री गुरु जब दबाकर (अत्यन्त कठोरता के साथ) उपदेश देते हैं, तब वे अपने को धन्य मानते हैं।

प्रश्न :- कठोर उपदेश से पापियों को तो दुःख ही होगा ?

उत्तर :- श्री गुरु जिसे पापी या तीव्र कषायी समझते हैं, उसे कठोर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उपदेश नहीं देते, वहाँ माध्यस्थ भाव रखते हैं।

यहाँ तो आचार्य शिष्य को शिक्षा देते हैं कि श्री गुरु तेरा भला करने के लिए कठोर वचन कहते हैं, उन्हें तुझसे ईर्ष्या का प्रयोजन नहीं है, अतः उन्हें इष्ट जानकर उनका आदर ही करना चाहिए।

धर्मात्माओं की दुर्लभता

धर्म को कहने-सुनने और अंगीकार करने के प्रति सावधान रहनेवाले प्राणी इस काल में थोड़े ही हैं - यह बात *आगामी छन्द में कहते हैं :-*

अनुष्टुप्

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा ।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः ।।१४३।।

पूर्व सुलभ, अब दुर्लभ, वक्ता-श्रोता उभय लोक हितकार ।
किन्तु पूर्व अरु अब भी दुर्लभ, जो पालें निर्मल आचार ।।१४३।।

अर्थ :- पूर्व काल में दोनों लोकों में हितकारी धर्म को कहने और सुननेवाले सुलभ थे, किन्तु करनेवाले दुर्लभ थे, लेकिन इस काल में तो कहने और सुननेवाले भी दुर्लभ हो गए हैं।

भावार्थ :- इस लोक और पर-लोक में जीव का हित करनेवाले धर्म को कहनेवाले और सुननेवाले पहले चतुर्थ काल में बहुत होते थे, परन्तु अंगीकार करनेवाले तो उस समय भी थोड़े ही थे, क्योंकि संसार में धर्मात्मा थोड़े ही होते हैं।

लेकिन अब यह पञ्चमकाल ऐसा निकृष्ट है कि इसमें सच्चे धर्म को कहनेवाले और सुननेवाले भी थोड़े पाये जाते हैं, क्योंकि कहनेवाले तो अपने लोभ और मान के अभिलाषी हो गये हैं, इसलिए वे यथार्थ नहीं कहते तथा सुननेवाले जड़ और वक्र हो गए हैं, इसलिए वे परीक्षा रहित, हठग्राही होने से यथार्थ बात नहीं सुनते। जब कहना-सुनना ही दुर्लभ हो गया तो अंगीकार करने की बात ही क्या करना ?

इसप्रकार इस काल में धर्म दुर्लभ हो गया है, सो ठीक ही है, क्योंकि यह पञ्चमकाल ऐसा निकृष्ट है कि जिसमें सभी उत्तम वस्तुऐं अल्प होती जाती हैं और धर्म भी तो उत्तम है, अतः उसकी वृद्धि कैसे हो सकती है ? इसलिए इस निकृष्ट काल में जिन्हें धर्म की प्राप्ति होती है, वे ही धन्य हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विवेकी जन प्रशंसा में सन्तुष्ट नहीं होते

यहाँ कोई कहेगा "दोनों लोकों में हितकारी धर्म को कहने वाले श्री गुरु के द्वारा शिष्यों के दोषों को बताकर उन दोषों को दूर कराना चाहिए - यह तो ठीक है, परन्तु दोष प्रगट करने पर शिष्य को अनिष्ट का संयोग होने से आर्तध्यान होगा और वह अपना हित नही कर सकेगा" - इस सन्देह का निवारण आगामी छन्द में करते हैं :-

पृथ्वी

गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं,
भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामतिप्रीतये ।
कृतं किमपि धार्ष्ट्यतः स्तवनमप्यतीर्थोषितैः,
न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता ॥१४४॥

गुण अरु दोष विवेकवान यदि अल्प दोष अतिशय कहते ।
बुद्धिमान जन सदुपदेशवत् उसमें अति प्रीति करते ॥
किन्तु धृष्टता वश अविवेकी करें प्रशंसा तो धीमान् ।
तुष्ट नहीं होते हैं इसमें, उन्हें कष्टप्रद यह अज्ञान ॥१४४॥

अर्थ :- गुण-दोष के विवेक से युक्त सत्पुरुषों द्वारा अपने दोष अधिकता से प्रगट करना भी बुद्धिमानी जीवों को भले उपदेश के समान अत्यन्त प्रीति उत्पन्न करनेवाला होता है और धर्मतीर्थ का सेवन न करनेवाले (दुष्ट पुरुषों) द्वारा धीठता से किया गया गुणानुवाद भी उन बुद्धिमान विवेकी जीवों को संतोष उत्पन्न नहीं करता । परन्तु तुझे (शंकाकार को) अन्यथा भासित होता है; तेरी इस अज्ञानता से हमें खेद होता है ।

भावार्थ :- जो जिसका हित करना चाहता है, वह वैसा ही कार्य करता है, जिसमें उसके प्रिय का हित हो; इसलिए सत्पुरुष भी अपने प्रिय का अहित करनेवाले दोषों को दूर करने के लिए उसके दोष प्रगट करते हैं । यदि वे उसके दोष प्रगट नहीं करेंगे तो अज्ञानी अपने दोषों को कैसे जानेंगे और दोषों को जाने बिना उन्हें दूर कैसे करेंगे ? तथा जो जिस व्यक्ति से अपना लोभादिक प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है, वह वही कार्य करेगा, जिससे वह व्यक्ति प्रसन्न हो; इसलिए वह उस व्यक्ति के दोषों को भी धीठपने से गुण बताकर उसकी बड़ाई

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करेगा, क्योंकि यदि वह बड़ाई न करे तो अज्ञानियों का मान कैसे बढ़ेगा और यदि उनका मान न बढ़े तो वे उसका प्रयोजन क्यों सिद्ध करेंगे ?

इसप्रकार सत्पुरुष दोष भी प्रगट करते हैं और अधर्मी प्रशंसा भी करते हैं। मूर्खों को उनके दोष बताना बुरा लगता है और प्रशंसा करना अच्छा लगता है। लेकिन विवेकीजन ऐसा मानते हैं कि यह मेरा भला करने के लिए ही दोष बता रहे हैं, यह तो मुझे अच्छी शिक्षा दे रहे हैं - इसप्रकार विचार कर वे उसे अच्छा ही मानते हैं। अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए दोषों को गुण बतानेवाले तो ठग हैं; उनके द्वारा की गई प्रशंसा मेरा अहित करनेवाली है - इसप्रकार विचार कर वे उसे अनिष्ट मानते हैं।

इसप्रकार दोष बताने से विवेकियों को आर्तध्यान हो जाएगा - ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए।

ज्ञानियों में श्रेष्ठ कौन ?

बुद्धिमान पुरुषों को दोष प्रगट किये जाने पर अपने दोषों को देखकर उनका त्याग करना चाहिए और गुण देखने पर गुणों को ग्रहण करना चाहिए - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ ।
यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः ॥१४५॥

गुण-दोषों के कारण से ही, अन्य कारणों से निरपेक्ष ।
करते हैं जो ग्रहण-त्याग वे ही हैं ज्ञानी-जन में श्रेष्ठ ॥१४५॥

अर्थ :- अन्य कारणों की अपेक्षा छोड़कर जो जीव गुणों और दोषों के कारण ही ग्रहण और त्याग करते हैं, वे ही ज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं।

भावार्थ :- जीवों में किसी को ग्रहण करने की और किसी को छोड़ने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जिनसे सम्यग्दर्शनादि गुण प्रगट हों, उनका ग्रहण करना चाहिए और जिनसे मिथ्यादर्शनादि दोष उत्पन्न हों, उनका त्याग करना चाहिए। इसप्रकार जो गुणों और दोषों के कारण ग्रहण-त्याग करते हैं तथा जिनका अन्य कोई विषय-कषायादि का प्रयोजन नहीं पाया जाता, वे जीव उत्कृष्ट ज्ञानी जानना चाहिए, क्योंकि वे अपना हित साधते हैं, और अपना हित साधना ही बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहित का त्याग और हित में प्रवर्तन करने की प्रेरणा

उपरोक्त प्रकार से उल्टा ग्रहण-त्याग करने से उत्पन्न दोषों का वर्णन आगामी छन्द में करते हैं :-

अनुष्टुप्

हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशम् ।
विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः ।।१४६।।

हित को छोड़ अहित में स्थिति करके दुःखी हुआ दुर्बुद्धि ।
हो सुबुद्धि, इससे विपरीत प्रवर्तन करके परम सुखी ।।१४६।।

अर्थ :- हे जीव ! तू दुर्बुद्धि होता हुआ हित को छोड़कर अहित में स्थित रहकर अपने को अत्यन्त दुःखी करता है, इसलिए अब इसका उल्टा कर ! अर्थात् सुबुद्धि होता हुआ अहित को छोड़कर हित में स्थित रहते हुए उसी की वृद्धि कर ! इससे तू अपने स्वाभाविक सुख को प्राप्त करेगा।

भावार्थ :- हे जीव ! तूने सम्यग्दर्शनादि-हितकारी गुणरूप कार्यों का तो त्याग किया और मिथ्यादर्शनादि अहितकारी दोषरूप कार्यों का ग्रहण किया - इसप्रकार त्याग-ग्रहण करने से तू अनादि काल से ही दुःखी हुआ है। अतः तू स्वयं अपनी अवस्था का विचार करके देख कि मैंने क्या किया ? और उसका फल मुझे क्या मिला ? यदि तू इससे उल्टा कार्य करे अर्थात् गुणों को ग्रहण करे और दोषों का त्याग करे, तो तू अवश्य सुखी होगा, क्योंकि कारण उल्टा होने पर कार्य भी उल्टा अवश्य होता है।

जिसप्रकार जल छोड़कर अग्नि का सेवन करने से ऊष्णता बढ़ती है और अग्नि छोड़कर जल का सेवन करने से शीतलता बढ़ती है; उसीप्रकार जिस परिणमन से तू अनादि से दुःखी हुआ है, उससे उल्टे परिणमन से अवश्य ही सुखी होगा।

हे जीव ! तूने अनादि से गुणों को छोड़कर दोषों का सेवन किया है; इसलिए अब तुझे दोषों को छोड़कर गुणों का सेवन करना चाहिए।

गुणों का ग्रहण और दोषों के त्याग की प्रेरणा

कारण सहित गुण और दोषों को जानने से क्या होता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शिखरणी

इमे दोषास्तेषां प्रभवनममीभ्यो नियमतः,
गुणाश्चैते तेषामपि भवनमेतेभ्य इति यः ।
त्यजंस्त्याज्यान् हेतून् झटिति हितहेतून् प्रतिभजन्,
स विद्वान् सद्वृत्तः स हि स हि निधिः सौख्ययशसोः ।।१४७।।

यही दोष हैं अरु यह इनकी उत्पत्ति का कारण है ।
यह सद्गुण हैं अरु यह इनकी उत्पत्ति का कारण है ।।
यह विचार, जो त्याज्य-हेतु [१] को तजे, शीघ्र हित-हेतु [२] भजे ।
सच्चरित्र विद्वान वही वह ही सुख-यश-निधि का घर है ।।१४७।।

अर्थ :- ये दोष हैं और ये इन कारणों से उत्पन्न होते हैं तथा ये गुण हैं और ये इन कारणों से उत्पन्न होते हैं - ऐसा निश्चय करके जो जीव त्यागने योग्य कारणों को शीघ्र छोड़ता है और हित के कारणों का सेवन करता है, वही जीव ज्ञानी है, वही सम्यक् चारित्रवान है और वही सुख और यश का निधान है ।

भावार्थ :- विवेकी पुरुष सर्वप्रथम दोष और गुण को पहचानते हैं । वहाँ विचार करने पर आत्मा को दुःख के कारण होने से मिथ्यात्वादि दोषरूप भासित होते हैं और आत्मा को सुख का कारण होने से सम्यक्त्वादि गुणरूप भासित होते हैं ।

इसके पश्चात् वे दोष और गुण के कारणों को पहचानते हैं । वहाँ कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र आदि या विषयादि सामग्री दोषों का कारण भासित होती है तथा सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र आदि या व्रत-संयमादि गुणों के कारण भासित होते हैं ।

इसप्रकार निश्चय करके दोषों के कारणों का त्याग करना चाहिए और गुणों के कारणों को ग्रहण करना चाहिए ।

वहाँ गुण-दोष और उनके कारणों का निश्चय सहित ज्ञान तो सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान है तथा सर्व दोषों के कारणों को छोड़कर गुणों का ग्रहण करना सम्यक्चारित्र है । इसप्रकार इन तीनों के मिलने से मोक्षमार्ग होता है और उसका फल मोक्ष है जहाँ अन्नत सुख का अनुभव होता है तथा उस जीव की सर्व प्रकार से महिमा होती है । इसलिए पहले गुणों और दोषों को कारण सहित जानना चाहिए ।

---

१. छोड़ने योग्य दोषों का कारण २. हित का कारण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विवेकियों का कर्त्तव्य

विवेकी जीवों को हित की वृद्धि और अहित का नाश - ये दोनों कार्य करना चाहिए, क्योंकि उनके बिना अन्य धनादि की वृद्धि और नाश तो सभी प्राणियों में देखा जाता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

वसन्ततिलका

साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ-
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात् ।
धीमान् स यः सुगतिसाधनवृद्धिनाशः
तद्व्यत्ययाद्विगतधीरपरोऽभ्यधायि ॥१४८॥

सब जीवों में वृद्धि-नाश[1] का कारण होता एक समान ।
जन्मान्तर में अर्जित शुभ अरु अशुभ कर्म का उदय प्रधान ॥
बुद्धिमान वह जिसकी वृद्धि और विनाश सुगति साधन ।
वह विमूढ़ है जिसकी वृद्धि-विनाश होय दुर्गति साधन ॥१४८॥

अर्थ :- विगत पूर्व जन्मों में उपार्जित पुण्य-पाप कर्मों के उदयरूप संयोग से शरीर, धनादि की वृद्धि या हानि सभी प्राणियों में समानरूप से पायी जाती है, परन्तु बुद्धिमान वही है, जिसको सुगति की कारणभूत वृद्धि-हानि पायी जाए तथा उनसे अन्य जिनमें दुर्गति के कारणभूत वृद्धि-हानि होती है वे निर्बुद्धि हैं - ऐसा श्री गुरु ने कहा है।

भावार्थ :- लोक में वही बुद्धिमान माना जाता हैं जिसके धनादि की वृद्धि और दरिद्रता आदि का नाश हो तथा दरिद्रता आदि की वृद्धि और धनादि का नाश होने पर वह व्यक्ति निर्बुद्धि (मूर्ख) समझा जाता है; परन्तु ऐसा मानना मिथ्या है, क्योंकि इस वृद्धि-हानि में जीव का कर्त्तव्य कुछ भी नहीं है। जैसा पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप का उदय होता है, वैसा कार्य सभी जीवों का स्वयमेव होता है।

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कोई व्यक्ति अत्यधिक बुद्धिमान होने पर भी दरिद्र होता है और कोई व्यक्ति बिलकुल मूर्ख होने पर भी धनवान होता है। एक

---

१. सम्पत्ति आदि का संयोग और वियोग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ही जीव जिस बुद्धि से (उपाय से) अधिक धनवान होता है वही जीव उसी बुद्धि से निर्धन होता देखा जाता है; इसलिए इस वृद्धि-नाश में बुद्धि का कुछ भी प्रयोजन नहीं है, इसमें अपना पुरुषार्थ मानना निरर्थक है।

वास्तव में सम्यक्त्वादि धर्मरूप भावों की वृद्धि और मिथ्यात्वादि अधर्मरूप भावों का नाश होने पर बुद्धिमान मानना चाहिए तथा मिथ्यात्वादि की वृद्धि और सम्यक्त्वादि का नाश होने पर निर्बुद्धि मानना चाहिए - यही सत्य है, क्योंकि इस वृद्धि-नाश में जीव का कर्त्तव्य है, क्योंकि जैसा अपनी बुद्धि से विचार होता है, वैसा ही कार्य जीव के द्वारा जीव में होता है।

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कोई तिर्यञ्चादि भी अपनी बुद्धि से धर्म-साधन करके स्वर्गादि प्राप्त कर लेता है और कोई राजादिक भी निर्बुद्धि होकर अधर्म-साधन करके नरकादि प्राप्त करता है।

इसप्रकार धर्म की वृद्धि और नाश में ही जीव की बुद्धि का प्रयोजन जानकर धर्मवृद्धि का पुरुषार्थ करना चाहिए।

यथार्थ चारित्र पालनेवाले मुनि विरले ही हैं !

सुगति के साधनभूत धर्मरूपी भावों की वृद्धि करनेवाले जीव थोड़े हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शिखरिणी

कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो,
नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनमदोऽस्त्याश्रमवताम् ।
नतानामाचार्या न हि नतिरताः साधुचरिताः,
तपःस्थेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः ॥१४९॥

कलि[१] में नीति, जगत में नरपति करते निश्चित दण्ड-विधान ।
किन्तु उसे धन स्रोत बनाते, धन विहीन हैं आश्रमवान[२] ॥
निज-वन्दन-अनुरक्त गुरु सन्मार्ग दिखाने में असमर्थ ।
साधु-चरित आचरक शिष्य हैं मणि समान अतएव विरल ॥१४९॥

अर्थ :- कलि-काल में दण्ड ही नीति है, दण्ड देने से ही न्याय-मार्ग चलता है और दण्ड राजाओं द्वारा दिया जाता है। राजा के बिना कोई और दण्ड

१. कलि-काल २. वनवासी साधू

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देने में समर्थ नहीं है, परन्तु वे राजा धन के लिए ही न्याय करते हैं, जहाँ धन आने का प्रयोजन सिद्ध न हो, वहाँ वे न्याय नहीं करते; लेकिन यह धन आश्रमवासी मुनियों के पास नहीं होता, क्योंकि उनका वेश ही धन रहित है। इन भ्रष्ट मुनियों को राजा न्याय मार्ग में नहीं चलाते (इन पर शासन नहीं करते)। आचार्य स्वयं की विनय-नमस्कारादि कराने के लोभी हो गए हैं, अतः वे भी विनयवान् मुनियों को न्याय में प्रवर्तन नहीं कराते। इसप्रकार इस काल में मुनियों का निर्दोष आचरण करनेवाले तपस्वी मुनि, शोभायमान उत्कृष्ट रत्नों की भाँति थोड़े ही हैं।

भावार्थ :- इस पञ्चमकाल में उत्पन्न होनेवाले जीव जड़ और वक्र होते हैं, वे दण्ड के भय बिना न्याय मार्ग में प्रवर्तन नहीं करते (कानून का पालन नहीं करते) तथा लोक-पद्धति में राजा दण्ड देनेवाले हैं और धर्म-पद्धति में आचार्य दण्ड देनेवाले हैं। यहाँ राजा धन के प्रयोजन की पूर्ति हेतु ही न्याय करते हैं, लेकिन मुनियों के पास धन नहीं होता इसलिए वे राजा उन पर शासन नहीं करते, इसलिए मुनि जैसी चाहें वैसी प्रवृत्ति करते हैं। आचार्य तो विनय के लोभी हो गए हैं इसलिए वे मुनियों को दण्ड नहीं देते, अतः मुनि भय रहित स्वच्छन्द हो गए हैं। कोई विरले मुनि ही यथार्थ धर्म का साधन करनेवाले हैं।

स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेवालों की संगति का निषेध

जो मुनि, आचार्यों को नमन नहीं करते, उनकी आज्ञा में नही रहते और स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं, उनकी संगति करना योग्य नहीं हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

एते ते मुनिमानिनः कवलिताः कान्ताकटाक्षेक्षणैः,
अङ्गालग्नशरावसन्नहरिणप्रख्या भ्रमन्त्याकुलाः ।
संधर्तुं विषयाटवीस्थलतले स्वान् क्वाप्यहो न क्षमाः,
मा व्राजीन्मरुदाहताभ्रचपलैः संसर्गमेभिर्भवान् ॥१५०॥

मुनि-मानी जो हुए कामिनी के कटाक्ष अवलोकन ग्रास ।
शर से घायल हुए हिरणवत् इधर-उधर भ्रमते संत्रास ॥
विषय-वनस्थल में जो निज को थिर रखने में हैं असमर्थ ।
वायु प्रताड़ित मेघ समान, करो न कभी इनका संसर्ग ॥१५०॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- जो प्रत्यक्ष में मुनि नहीं हैं, परन्तु अपने को मुनि मानते हैं, वे स्त्रियों के कटाक्ष भरे अवलोकन से ग्रसित, बाणों के घावों से पीड़ित हिरण के समान व्याकुल होकर भ्रमण करते हैं। वे विषयरूपी वन के स्थल भाग में कहीं भी स्वयं को स्थिर नहीं रख पाते - ऐसे पवन द्वारा खण्डित बादलों के समान चपल और चञ्चल भ्रष्ट मुनियों की संगति भव्य जीवों को नहीं करना चाहिए।

भावार्थ :- जिसप्रकार हिरण के अंगो में बाण लगने पर वह उसकी पीड़ा से व्याकुल होकर कूदता फिरता है, जंगल में किसी एक जगह स्थिर नहीं रह पाता; उसीप्रकार इन भ्रष्ट मुनियों के अन्तरंग में मानो स्त्रियों के कटाक्षमय अवलोकनरूपी कामबाण लगा है, इसलिए ये उसकी पीड़ा से व्याकुल होकर भ्रमरूप हो रहे हैं, किसी एक विषय में मन लगाने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् काम की तीव्रता के कारण धर्म-साधन करना तो दूर; परन्तु ये देखना-सुनना-सूंघना आदि विषयों में भी मन को स्थिर नहीं कर सकते।

जिसप्रकार बादल हवा से बिखर कर चंचल हो जाते हैं (यहाँ-वहाँ उड़ने लगते हैं) उसीप्रकार ये मुनि विकारी भावों से भ्रष्ट होकर चञ्चल हो जाते हैं। अरे ! उनकी तो होनहार ही ऐसी है, परन्तु हे भव्य ! तुझे कुछ धर्म-बुद्धि है, अतः इसलिए तुझे शिक्षा देते हैं कि तू ऐसे भ्रष्ट लोगों की संगति मत कर, यदि संगति करेगा तो तू भी उनका साथी होकर दुर्गति को प्राप्त होगा। भावार्थ यह है कि भ्रष्ट मुनि संगति करने योग्य भी नहीं हैं।

अयाचक वृत्ति धारण करने की प्रेरणा

इन भ्रष्ट मुनियों की संगति नहीं करने से तू ऐसी समस्त सामग्री प्राप्त कर लेगा, जिनकी तू याचना करता है, अतः तू याचना रहित होकर बैठ जा - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

वसंततिलका

गेहं गुहाः परिदधासि दिशो विहायः
संव्यानमिष्टमशनं तपसोऽभिवृद्धिः ।
प्राप्तागमार्थ तव सन्ति गुणाः कलत्र-
मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याञ्चाम् ॥१५१॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गुफा मात्र ही तेरा घर, तू दिशारूप परिधान पहन ।
तप की वृद्धि इष्ट भोजन है, नभ ही है तेरा वाहन ॥
हे आगम को प्राप्त यती ! गुणगण ही तेरे हुए कलत्र ।
अत: अयाचक वृत्तिवान तू , वृथा याचना अब मत कर ॥१५१॥

अर्थ :- यहाँ जिसने आगम का अर्थ समझ लिया है, उसे सम्बोधित करते हुए कहते हैं - हे प्राप्तागमार्थ ! गुफा तो तेरा मन्दिर है, दिशायें वस्त्र है, आकाश वाहन है, तप की वृद्धि इष्ट भोजन है और गुण स्त्री हैं । इसप्रकार किसी और के पास जो याचना करने योग्य सामग्री नहीं है, वह तेरे पास है । अब तू व्यर्थ ही याचना करता है, तुझे दीन होना योग्य नहीं है ।

भावार्थ :- लोक में धनादि अनेक वस्तुओं की इच्छा होने पर याचना की जाती है । यदि तू धन चाहता है तो तूने सर्व मनोरथों की पूर्ति करनेवाला आगम का अर्थरूपी धन प्राप्त कर लिया है । यदि तू मन्दिर (मकान) की याचना करता है तो अपने आप बने हुए गुफा आदि मन्दिर तेरे पास हैं । यदि तू वस्त्र चाहता है तो तूने दिशारूपी वस्त्र पहन रखे हैं अर्थात् तू दिगम्बर हो गया है । यदि तू वाहन की याचना करता है तो तेरे पास आकाशरूपी वाहन है, जहाँ इच्छा हो वहाँ जा । यदि तुझे भोजन की इच्छा है तो तेरे पास तृप्तिदायक तप की वृद्धिरूपी भोजन है तथा यदि तू स्त्री को चाहता है तो क्षमा आदि गुण ही तुझे रमण करानेवाली स्त्री है ।

इसप्रकार तेरे पास सभी सामग्री है, अब तुझे क्या चाहिए, जो तू याचना करता है ? तेरी तो दीनता रहित सर्वोत्कृष्ट वृत्ति हो गई है, इसलिए तुझे याचना रहित होने की शिक्षा देते हैं ।

कौन दीन और कौन अभिमानी

याचना करनेवाला छोटा है और याचना नहीं करनेवाला बड़ा है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

परमाणोः परं नाल्पं नभसो न परं महत् ।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ ॥१५२॥

परमाणु से कोई लघु नहिं, नभ से हुआ न कोई महान ।
ऐसा कहने वाले ने नहिं देखे दीन, सहित अभिमान ॥१५२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- परमाणु से छोटा कोई नहीं, तथा आकाश से बड़ा और कोई नहीं - ऐसा कहनेवालों ने क्या दीन और अभिमानियों को नहीं देखा ?

भावार्थ :- कुछ लोग कहते हैं कि परमाणु से छोटा और आकाश से बड़ा दूसरा कोई नहीं है, परन्तु ऐसा लगता है कि उन्होंने दीन और अभिमानी लोगों को देखा नहीं है (अन्यथा वे ऐसा नहीं कहते)। यदि वे दीन व्यक्ति को देखते तो परमाणु से छोटा दीन को कहते और यदि वे अभिमानी को देखते तो आकाश से भी बड़ा अभिमानी को कहते। यहाँ यह आशय है कि याचना करनेवाला दीन पुरुष, धर्म या मानादि घटने से सबसे छोटा ही है और याचना नहीं करनेवाला अभिमानी पुरुष, धर्म या मानादि बढ़ने से सबसे बड़ा है।

प्रश्न :- कषाय तो धर्म का प्रतिपक्षी है, अत: दीन के मानादि घटने से और अभिमानी के मानादि बढ़ने से धर्म कैसे होगा ?

उत्तर :- किसी कषाय की तीव्रता से कोई अन्य कषाय मन्द हो जाए, तो उससे धर्म नहीं होता। दीन व्यक्ति को लोभ की तीव्रता के कारण मान आदि घट जाते हैं, परन्तु इससे उसे धर्म नहीं होता, पाप ही होता है तथा सभी कषायें घटने पर भी भ्रम से कषाय करनेवाले जैसी अवस्था भासित होने पर भी धर्म ही है। यहाँ मान कषाय करनेवाले का नाम अभिमानी नहीं है। लोभ होने पर भी किसी की याचना नहीं करना ही अभिमान है। परन्तु धर्मात्मा जीव की सभी कषायें मन्द हो गई हैं इसलिए वह पापी जीवों की विनय नहीं करता (क्योंकि लोभ भी नहीं है); इसलिए वह भ्रम से मानी जैसा भासित होता है, परन्तु वह मानी नहीं है, उसे धर्म ही है। इसलिए दीनता नहीं करना चाहिए।

याचक का गौरव दाता में चला जाता है

याचक का गौरव कहाँ गया, जिससे उसमें लघुपना (हीनता) आ गया ? इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

याचितुर्गौरवं दातुर्मन्ये संक्रान्तमन्यथा ।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतौ गुरुलघू तदा ॥१५३॥

याचक का गौरव दाता में चला गया निश्चित मानो ।
याचक लघु अरु दाता गुरु अन्यथा हुए कैसे जानो ॥१५३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- मैं ऐसा मानता हूँ कि याचक का गौरव दातार में संक्रमित हो गया है। यदि ऐसा न हो और अन्यथा हो तो याचना के समय याचक की अवस्था लघु और दातार की अवस्था गुरु कैसे हो जाती है ?

भावार्थ :- यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार करके आचार्य देव कहते हैं कि हमें ऐसा भासित होता है कि पहले याचक और दातार दोनों एक समान थे, परन्तु जिस समय याचक याचना करता है और दातार देता है; उस समय याचक का बड़प्पन दातार में चला गया; इसलिए याचक हल्का (हीन) हो जाता है और दातार महन्त (उच्च) हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो उस समय याचक संकोच आदि के कारण हीन और दातार प्रफुल्लता आदि के कारण महान क्यों भासित होता है ? इसलिए दीनपना निषिद्ध है।

प्रश्न :- मुनिराज भी दान लेते हैं तो क्या वे भी हीन हो गए ?

उत्तर :- मुनिराज याचना करके दीन होकर दान नहीं लेते। जिसप्रकार लोग राजा आदि को भेंट देते हैं उसीप्रकार भक्त लोग विनय पूर्वक मुनि को दान देते हैं और वे लोभासक्त होकर ग्रहण नहीं करते, इसलिए वे हीन नहीं हैं। लोभ से दीन होकर लेनेवाला व्यक्ति ही हीन होता है।

वाञ्छक और अवाञ्छक की स्थिति

लेनेवाले और देनेवाले की गति विशेष का वर्णन आगामी छन्द में करते हैं :-

अनुष्टुप्

अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयोः ।।१५४।।

वाञ्छक पाता अधोगति अरु ऊर्ध्वगति नहिं वाञ्छक जो।
स्पष्ट बताते ऊँचे नीचे हुए तुला के पलड़े ज्यों ।।१५४।।

अर्थ :- जिन्हें ग्रहण करने की इच्छा है, वे जीव अधोगति प्राप्त करते हैं और जिन्हें ग्रहण करने की इच्छा नहीं है, वे ऊर्ध्वगति प्राप्त करते हैं। इनका ऊँचा-नीचा होना मानो तराजू के दोनों पलड़ों द्वारा स्पष्ट रूप से प्रगट किया जाता है।

भावार्थ :- तराजू के दोनों पलड़े समान हैं, परन्तु जो पलड़ा अन्य वस्तु का ग्रहण करता है वह नीचा हो जाता है और ग्रहण नहीं करनेवाला ऊँचा हो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जाता है। इन पलड़ों का यह स्वरूप मानो हमारी दशा को बताता है कि लोभ से पर-वस्तुओं को ग्रहण करनेवाला तत्काल भी नीचा होगा और भविष्य में भी नरकादि नीची गतियों में जाएगा और लोभ छोड़नेवाला व्यक्ति वस्तुओं का ग्रहण नहीं करेगा तो तत्काल भी ऊँचा रहेगा और भविष्य में भी स्वर्ग-मोक्ष आदि ऊँची गतियों में जाएगा। इसप्रकार युक्ति द्वारा स्पष्ट किया गया है कि दीनता से हीनता और दुर्गति प्राप्त होती है, इसलिए दीनता नहीं करना चाहिए।

प्रश्न :- दीनता में ऐसा कौन-सा पाप है (जिससे दुर्गति होती है) ?

उत्तर :- दीन व्यक्ति को लोभ कषाय की तीव्रता होती है जिससे अन्य कषायें भी निर्बल हो जाती हैं, उसकी लोक-लज्जा मिट जाती है, वह धर्म को भी नहीं गिनता। अरे ! बहुत क्या कहें ? जो धर्म सर्वोत्कृष्ट है, उसका अपमान करके भी वह अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है, इसलिए दीनता महापाप है।

दरिद्रता की श्रेष्ठता !

याचकों की मनोकामना पूर्ण न करनेवाले ऐश्वर्य से दरिद्रता अच्छी है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

सस्वमाशासते सर्वे न स्वं तत् सर्वतर्पि यत्।
अर्थिवैमुख्यसंपादिसस्वत्वान्निस्वता वरम् ।।१५५।।

सभी धनिक से आशा रखते, वह न दे सके सबको धन।
याचक विमुख होय धनपति से, अतः श्रेष्ठ होना निर्धन ।।१५५।।

अर्थ :- सभी लोग धनी व्यक्तियों से याचना करते हैं और सभी को तृप्त कर सके - ऐसा धन किसी के पास नहीं होता, इसलिए याचकों को विमुख करनेवाले धनी होने से तो धन रहित होना ही अच्छा है।

भावार्थ :- यदि कोई ऐसा माने कि धनवान होने से अभिलाषियों के मनोरथ पूर्ण किए जा सकते हैं, इसलिए धनवान होना अच्छा है; परन्तु सभी अभिलाषियों की माँग पूरी कर सके इतना धनी व्यक्ति तो कोई नहीं होता। सीमित धन होने पर भी सभी लोग उसकी आशा रखेंगे और सभी की आशा पूरी न होने से वे दुःखी होकर विमुख हो जायेंगे; इसलिए ऐसा धनवान होने से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अच्छा निर्धन होना है। निर्धन होने से कोई उससे आशा नहीं रखेगा।

प्रत्यक्ष देखो कि धनवान के राजा, मित्र, स्त्री, पुत्र, याचक आदि सभी दिखाई देते हैं, परन्तु निर्धन का कोई दिखाई नहीं देता। इसलिए दातार होने की चाह से धनवान होने की इच्छा करने में लोभ और मान की तीव्रता समझना चाहिए। जो स्वयमेव (पुण्य के उदय से) धनवान हों और धन का पूर्ण त्याग न कर सकें, तब दान देने से कुछ लोभ का त्याग होने पर उनका उतना ही भला होता है, इसलिए उन्हें दान देने का उपदेश देते हैं। यहाँ दान के छल से धनवान को भला जानना उचित नहीं है।

आशारूपी खाई की अगाधता

धनवान से याचना करनेवालों की आशारूपी खाई कैसी है ? - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं।

अनुष्टुप्

आशाखनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च या।
सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम् ॥१५६॥

निधियों द्वारा भी नहिं भरती, जो अगाध आशा की खान।
वह जिस धन से भर जाती है, वह सच्चा धन स्वाभिमान ॥१५६॥

अर्थ :- आशारूपी खान निधियों से भी अधिक गहरी है, वह भी जिससे समान हो जाती है (भर जाती है), ऐसा मानरूपी धन ही तेरा सच्चा धन है।

भावार्थ :- धनादि की चाह ही आशा है और आशारूपी खाई (गड्ढा) नवनिधियों से भी ज्यादा गहरी है (अर्थात् नवनिधियों से भी नहीं भरी जा सकती)। निधियों के निधान से धनादि निकालने पर भी वह खाली नहीं होता, परन्तु कदाचित् उसका भी अन्त आ जाए, लेकिन धनादि की चाहरूपी आशा की कोई थाह नहीं है। नवनिधियाँ मिलने पर भी आशारूपी गड्ढा खाली ही रहता है, इससे ज्ञात होता है कि उन निधानों से भी अधिक अथाह आशारूपी गड्ढा है।

हे जीव ! सन्तोष वृत्ति के कारण याचनारूप नम्रता (दीनता) का अभाव ही यहाँ मान है और इस मानरूपी धन का प्रमाण इतना अधिक है कि यह

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आशारूपी खान के समान हो जाता है। इस मानरूपी धन के होने पर आशा की अधिकता नहीं होती। इसलिए अभिमानरूपी धन को नवनिधियों से भी बड़ा जानकर सन्तोष धारण करके धनादिक के लिए याचना नहीं करना चाहिए, क्योंकि आशा की पूर्ति के लिए ही धनादि की याचना की जाती है और निधान पाकर भी आशा नहीं मिटती तो थोड़े से धन से कैसे मिटेगी ? अत: सन्तोषवृत्ति रखकर धनादि के लिए नम्रीभूत (दीन) नहीं होना चाहिए - यही परिणमन उपादेय है।

आशारूपी खाई भरने का उपाय : तृष्णा का परित्याग

आशारूपी खान मानरूपी धन के समान कैसे होती है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

आशाखनिरगाधेयमध: कृतजगत्त्रया ।
उत्सर्प्योत्सर्प्य तत्रस्थानहो सद्भि: समीकृता ।।१५७।।

तीन लोक भी जिसमें लघु, यह आशारूपी खान अगाध ।
करें सत्पुरुष पृथ्वीतल सम उसमें स्थित धन का त्याग ।।१५७।।

अर्थ :- यह आशारूपी खान अथाह है। इसने तीन लोक के जीवों को अपने आधीन कर लिया है, परन्तु यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि सत्पुरुषों द्वारा इसमें से धनादिक को निकाल-निकाल कर इसे (पृथ्वी तल के) समान किया जाता है[१]।

भावार्थ :- पाषाण आदि की किसी खान में से पत्थर निकालकर उसे अन्य भूमि के समान करना बहुत कठिन कार्य है। यह आशारूपी खान इतनी अथाह है कि इसने तीन लोक के जीवों को अपने आधीन कर लिया है, इसके सामने तीन लोक की सम्पदा भी कम है, आशारूपी खान उससे भी अधिक बड़ी है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इस खान में पाए जानेवाले धनादि पदार्थों को निकाल-निकाल कर सत्पुरुष उसे समान कर लेते हैं। यहाँ यह आशय है कि आशारूपी खान में अनेक पदार्थों की चाह पाई जाती है, परन्तु सत्पुरुष त्याग भाव के द्वारा उन पदार्थों की चाह छोड़ते हैं, इसप्रकार वे सर्व

---

१. आशा का अभाव करके समता भाव प्रगट किया जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चाह को छोड़कर आशा को मिटाकर वीतराग भावरूप समान भाव में प्रवर्तन करते हैं।

निर्ग्रन्थों द्वारा परिग्रह-ग्रहण का निषेध

जिन्होंने निर्ग्रन्थ दशा धारण करके महाव्रतादि की प्रतिज्ञा की है - ऐसे मुनियों को पूर्वोक्त प्रकार से परिग्रह के ग्रहण का अभाव करके आशा को समानरूप करना चाहिए[1] - यह बात आगामी दो छन्दों कहते हैं :-

हिरणी

विहितविधिना देहस्थित्यै तपांस्युपबृंहय-
न्नशनमपरैर्भक्त्या दत्तं क्वचित् कियदिच्छति ।
तदपि नितरां लज्जाहेतुः किलास्य महात्मनः,
कथमयमहो गृह्णात्यन्यान् परिग्रहदुर्ग्रहान् ॥१५८॥

तन-थिति हेतु आगमोक्त विधि से मुनिगण लेते आहार ।
किसी काल में भक्तजनों द्वारा प्रदत्त तप-वर्धनहार ॥
तो भी वह नितान्त लज्जा का कारण होता है उनको ।
अन्य परिग्रह-दुर्ग्रह[2] ग्रहण करें कैसे आश्चर्य अहो ॥१५८॥

अर्थ :- मुनिराज को कभी-कभी तप को बढ़ाने के लिए और शरीर की स्थिति के लिए गृहस्थ लोग नवधा भक्ति पूर्वक जो योग्य आहार देते हैं, उसे वे किसी काल में किञ्चित् मात्र ग्रहण करते हैं; परन्तु यह भी उन मुनि महात्माओं के लिए अतिशय लज्जा का कारण है, तो वे अन्य परिग्रहरूपी खोटे ग्रहों को कैसें ग्रहण करेंगे ? अर्थात् बिलकुल भी ग्रहण नहीं करेंगे।

भावार्थ :- कोई अज्ञानी जीव मुनिराज को भी किञ्चित् परिग्रह का ग्रहण मानते हैं, यहाँ उन्हें समझाते हुए आचार्य कहते हैं :-

अहो ! मुनि को समस्त आशाओं का अभाव हो गया है, मात्र एक आहार की ही इच्छा होती है और वह भी मात्र शरीर को रखने के लिए ही आहार को चाहते हैं, क्योंकि आहार के बिना मनुष्य शरीर की स्थिति नहीं रहती। शरीर को भी तप के लिए रखते हैं, क्योंकि मनुष्य शरीर के बिना तप

१. आशा को छोड़कर समता भावरूप परिणमन करना चाहिए २. दुष्ट पिशाच

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं हो सकता, अतः वे भोजन के द्वारा शरीर को रखकर तप को ही बढ़ाते हैं, प्रमादी नहीं होते।

आचार-शास्त्रों में वर्णन की गई विधि के अनुसार आहार मिलने पर ही लेते हैं, आसक्त होकर सदोष आहार ग्रहण नहीं करते। अन्य गृहस्थों द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करते हैं, स्वयं नहीं बनाते और बिना दिया ग्रहण नहीं करते। भक्ति पूर्वक दिया गया आहार ही लेते हैं, याचना करके दातार को दबाकर आहार नहीं लेते। ऐसा योग्य आहार भी योग्य काल में या अनेक उपवासों के बाद पारणा में लेते हैं, हमेशा नहीं लेते और लेते भी हैं तो पूरा पेट भरकर नहीं लेते, भूख से कुछ कम लेते हैं - इसप्रकार आहार लेने पर भी महान मुनियों को लज्जा उत्पन्न होती है कि "हमें इतनी इच्छा होती है, इसमें भी हमारी हीनता है।" - इसप्रकार जिन्हें आहार लेने में भी लज्जा होती है तो वे जिनका ग्रहण तीव्र राग बिना नहीं हो सकता - ऐसे धन-वस्त्रादि दुष्ट परिग्रहों का ग्रहण कैसे करेंगे ? बिलकुल नहीं करेंगे।

जिनागम में लंगोट मात्र परिग्रह रखने पर भी अणुव्रती कहा गया है तो अधिक परिग्रह रखने पर मुनिपना कैसे माना जा सकता है ? इसलिए मुनि को वस्त्रादि परिग्रह मानना मिथ्या है।

कलि-काल का चक्रवर्तित्व

शार्दूलविक्रीडित

दातारो गृहचारिणः किल धनं देयं तदत्राशनं,
गृह्णन्तः स्वशरीरतोऽपि विरताः सर्वोपकारेच्छया।
लज्जैषैव मनस्विनां ननु पुनः कृत्वा कथं तत्फलं,
रागद्वेषवशीभवन्ति तदिदं चक्रेश्वरत्वं कलेः ॥१५९॥

दाता हुए गृहस्थ, देयधन[१] मुनिगण जो लेते आहार।
तन-विरक्त होकर भी लेते, चाहें सब जग का उपकार॥
तो भी स्वाभिमान युत लज्जित, मुनिपद का फल यह आहार,
राग-द्वेष वश मानें देखो, कलि का चक्रवर्ति-आचार[२] ॥१५९॥

अर्थ :- इस मुनिधर्म में गृहस्थ दातार हैं, देने योग्य भोजन धन है तथा सबके उपकार की इच्छा से शरीर से विरक्त रहते हुए भोजन ग्रहण करना, क्रिया

१. गृहस्थों द्वारा देने योग्य आहार २. कलि-काल का चक्रवर्तीपना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है - यह भी बुद्धिमानों के लिए लज्जा की बात है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मुनि इस भोजन को भेष का फल समझकर राग-द्वेष के वशीभूत होते हैं। यह कलि-काल का चक्रवर्तीपना है।

भावार्थ :- गृहस्थ तो अपनी भक्ति से दातार होता है और मुनिजन पात्र होते हैं, तब भोजनरूपी धन का ही दान होता है, अन्य धनादिक का दान नहीं होता तथा उस आहार को भी मुनिजन ग्रहण करते हैं तो उससे भी जिसप्रकार अपना, दातार का व अन्य जीवों का भला हो, उसप्रकार से ही आहार लेते हैं। ऐसा नहीं करते कि आहार लेकर प्रमादी होकर अपना बुरा करें, दातार को कषाय उत्पन्न कराके उसका बुरा करें और अन्य जीवों को दोष का कारण होकर उनका बुरा करें। आहार लेते हुये वे अपने शरीर से भी विरक्त रहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि यह शरीर मुझे इष्ट नहीं है, परन्तु इसके द्वारा तप का साधन करना है; यह नष्ट न हो जाए इसलिए थोड़ा नीरस आहार लेना चाहिए - ऐसा जानकर आहार लेते हैं। स्वाद आदि के लोभ से आहार नहीं करते।

इसप्रकार आहार ग्रहण करने पर भी उन्हें लज्जा उत्पन्न होती है, आहार लेने में संकोच उत्पन्न होता है, अपनी हीनता भासित होती है; फिर भी बड़ा आश्चर्य होता है कि (लोग) इस कलि-काल में आहार के लिए मुनिपना अंगीकार करते हैं। वे इस भेष द्वारा आजीविका की सिद्धि करते हैं, अतः हमें तो ऐसा भासित होता है कि यह कलि-काल के चक्रवर्तीपने की महिमा है। जैसे चक्रवर्ती अपने क्षेत्र में रहनेवाले देव आदि से भी अपनी आज्ञा मनवाता है वैसे यह कलि-काल भी अपनी मर्यादा में उत्पन्न होनेवाले मुनि आदि से भी विपरीत प्रवृत्ति करवाता है।

प्रश्न :- यदि यह काल का ही दोष है तो इस काल में ऐसे मुनि मानना चाहिए ?

उत्तर :- जिसप्रकार कलि-काल में अन्याय की प्रवृत्ति होती है, लेकिन उसे न्याय नहीं मानना चाहिए; ऐसा जानना चाहिए कि इस अन्याय की प्रवृत्ति काल-दोष से है; उसीप्रकार कलि-काल में भ्रष्ट भेषधारियों की प्रवृत्ति होती है, लेकिन उन्हें मुनि नहीं मानना चाहिए; ऐसा जानना चाहिए कि ऐसे भेषधारियों की प्रवृत्ति काल-दोष से होती है।

जैसे यह कहा जाए कि यह कार्य किसी दुष्ट (पाप कर्म) के उदय से हुआ है, तो वहाँ दुष्ट के समान उस कार्य की भी निन्दा समझना चाहिए; वैसे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह कहा जाये कि यह कार्य कलि-काल से हुआ है तो वहाँ कलि-काल के समान उस कार्य की भी बहुत निन्दा समझना चाहिए। इसलिए भोजनादि के लिए रागी-द्वेषी होनेवाले भेषधारी मुनियों की निन्दा करने के लिए यहाँ कलि-काल की महिमा कही है।

कर्मों के निमित्त से होनेवाली हानि

हे जीव ! तू कर्मों के आधीन होकर राग-द्वेष करता है, परन्तु उन कर्मों ने तेरा क्या भला किया ? - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

आमृष्टं सहजं तव त्रिजगतीबोधाधिपत्यं तथा,
सौख्यं चात्मसमुद्भवं विनिहतं निर्मूलतः कर्मणा।
दैन्यात्तद्विहितैस्त्वमिन्द्रियसुखैः संतृप्यसे निस्त्रपः,
स त्वं यश्चिरयातनाकदशनैर्बद्धस्थितस्तुष्यसि ॥१६०॥

जिसने लोक-प्रकाशक[1] पर स्वामित्व तुम्हारा लुप्त किया।
आत्मोत्पन्न सौख्य को भी उन कर्मों ने निर्मूल किया ॥
अरे दीन ! उन कर्मज[2] इन्द्रिय-सुख में ही सन्तुष्ट हुआ।
कष्ट भोग नीरस भोजन के बन्धन में तू तुष्ट हुआ ॥१६०॥

अर्थ :- हे जीव ! जिस कर्म ने तेरे स्वभावभूत तीन लोक के ज्ञान का स्वामित्वपना नष्ट किया (केवलज्ञान प्रगट नहीं होने दिया) और जिसने तेरे आत्मजन्य (अतीन्द्रिय) सुख का मूल से ही नाश किया; फिर भी तू निर्लज्ज होकर दीनता पूर्वक उसी कर्म द्वारा उत्पन्न इन्द्रिय सुखों से तृप्त हो रहा है। तू उपवासादि के कष्ट सहने के बाद मिलनेवाले कुत्सित नीरस आहार में ही आजीविका की स्थिरता मानकर सन्तुष्ट हो रहा है।

भावार्थ :- जिसप्रकार किसी बड़े राजा को उसका कोई बैरी राज्य-भ्रष्ट कर दे और वह राजा उसी बैरी द्वारा दिए गए थोड़े से भोजन को दीनता पूर्वक ग्रहण करके प्रसन्न हो तो उसे निर्लज्ज कहकर धिक्कारते हैं। उसीप्रकार हे जीव ! तू अनन्त ज्ञान और सुख का स्वामी महान पदार्थ है; कर्मरूपी बैरी ने तेरे ज्ञान

---

१. केवलज्ञान २. कर्म से उत्पन्न

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और सुख का नाश करके तुझे भ्रष्ट कर दिया है और तू दीन होकर उन्हीं कर्मों के उदय से उत्पन्न किञ्चित् विषय-सुख में सन्तुष्ट हो रहा है, इसलिए तू निर्लज्ज है धिक्कारने योग्य है।

जिसप्रकार उस बैरी द्वारा महाकष्ट से खराब भोजन पाकर भी यदि राजा सन्तुष्ट हो जाए तो वह अति निन्द्य है; उसीप्रकार हे भ्रष्ट मुनि ! तुझे कर्मों ने बहुत सुख भी नहीं दिया; बहुत उपवासादि कष्ट सहने के बाद तुझे गृहस्थ के यहाँ जैसा-तैसा आहार मिलता है और तू उसी को अपनी आजीविका की स्थिरता मानकर सन्तुष्ट हो रहा है, इसलिए तू बहुत निन्द्य है।

इसलिए जैसे उस राजा को अपने शत्रु के नाश करने का उपाय करना चाहिए, वैसे तुझे भी कर्मों का नाश करने का उपाय करना चाहिए; विषयासक्त होना योग्य नहीं है।

इन्द्रिय-सुख के लिए भी धैर्य की आवश्यकता

हे मुनि ! यदि तुझे इन्द्रिय-सुख की भी अभिलाषा है, तो भी जहाँ विशेष इन्द्रिय सुख हैं, उसका विचार कर - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो सहस्वाल्पं स्वरेव ते।
प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा पेयं भुक्तिं विनाशयेः ॥१६१॥

भोग स्वर्ग में, जरा ठहर रे भिक्षु तुझे उनकी तृष्णा ।
भोजन तो पकने दे ! पानी पी क्यों नष्ट क्षुधा करता ॥१६१॥

अर्थ :- हे भिक्षुक मुनि ! यदि तुझे विषय-भोगों की चाह है तो, थोड़ा सहनशील हो। वे भोग स्वर्गों में हैं। रे मूर्ख ! तू पकते हुए भोजन को देखकर ! जलादि को ही पीकर भोजन का नाश क्यों करता है ? ऐसा मत कर !

भावार्थ :- जैसे कोई मूर्ख व्यक्ति भूख लगने पर पकते हुए भोजन को प्रत्यक्ष देखकर भी जब तक भोजन पककर तैयार हो तब तक धैर्य धारण नहीं करता, उतनी देर तक भी भूख सहन नहीं करता और कुछ जलादि पीकर ही भोजन का नाश कर लेता है (क्योंकि भूख समाप्त होने से भोजन करने का रस खत्म हो जाता है), वैसे विषयों का अभिलाषी यह मूर्ख व्यक्ति "धर्म-साधन से थोड़े ही काल में स्वर्ग की प्राप्ति होगी और वहाँ विशेष विषय सामग्री मिलेगी"

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

- इसका विचार नहीं करता अर्थात् जब तक मनुष्यायु पूर्ण होकर स्वर्ग की प्राप्ति हो, तब तक धैर्य धारण नहीं करता, इतने काल तक भी इच्छाओं की आकुलता को सहन नहीं करता और यहाँ सदोष भोजनादि कुछ विषय-सेवन करके स्वर्ग सुख का नाश करता है। रे मूर्ख ! तू ऐसा कार्य क्यों करता है ? ऐसा मत कर ! यदि तुझे भोगों की वाञ्छा ही है, तो थोड़े समय धैर्य रख, धर्म-साधन कर; तुझे स्वर्ग में बहुत विषय मिलेंगे।

यद्यपि विषयाभिलाषा योग्य नहीं है, तथापि यहाँ भ्रष्ट होते हुए जीव को लोभ दिखाकर भ्रष्ट होने से रोकने का प्रयोजन है।

महामुनियों का कुछ भी बिगाड़ने में कर्म असमर्थ

यद्यपि कर्मों द्वारा इन्द्रिय-सुख और जीवन - ये दो ही कार्य प्राप्त होते है, तथापि वे कर्म उन महामुनियों का क्या कर सकते हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम् ।
किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ।।१६२।।

निर्धनता ही धन है और मृत्यु ही है जीवन जिनका ।
ज्ञान-चक्षुयुत सज्जन का क्या कर सकते ये कर्म भला ।।१६२।।

अर्थ :- निर्धनता ही जिनका धन है और मरण ही जिनका जीवन है और जो ज्ञान ही जिनका नेत्र है - ऐसे सन्त पुरुषों का विधाता अर्थात् कर्म क्या कर सकते हैं ? अर्थात् कुछ नहीं कर सकते।

भावार्थ :- जो महामुनि ज्ञान-नेत्रों से पदार्थों का अवलोकन करते हैं उनके लिए धनादि रहित निर्ग्रन्थपना ही धन है; क्योंकि जैसे अन्य जीव धन से सुखी होते हैं, वैसे ये मुनि निर्ग्रन्थपने से सुखी हैं। उनके लिए मरण ही जीवन है; क्योंकि जैसे अन्य जीव प्राण धारण करने से सुखी होते हैं, वैसे ये मुनि इन्द्रियादि प्राण छूटने पर सुख मानते हैं। ऐसे महामुनियों का कर्म क्या कर सकते हैं ? क्योंकि उन कर्मों का बल तो इतना ही है कि वे निर्धनता या मरण आदिरूप अनिष्ट कर सकते हैं, परन्तु मुनिराज इससे तो दुःखी नहीं होते, इसलिए कर्म इनका कुछ भी नहीं कर सकते।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आशा को निराश करनेवालों का कर्म कुछ नहीं बिगाड़ सकते

यदि ऐसा है तो विधाता अर्थात् कर्म किसके कार्य के कर्त्ता होते हैं[१] - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः।
किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता ॥१६३॥

जीवन अरु धन-अभिलाषी के लिए विधाता विधि[२] ही है।
जिनकी आशा नष्ट हुई उनका क्या कर सकता विधि है ? १६३॥

अर्थ :- जिन्हें जीने की और धन पाने की आशा है, विधाता (कर्म) उनके ही विधाता हैं; परन्तु जिनकी आशा नष्ट हो गई है, विधाता उनका क्या कर सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते।

भावार्थ :- यहाँ कर्म को विधाता कहा गया है। जो अज्ञानी जीव प्राप्त पर्यायरूप जीवन और धन को चाहते हैं, उनमें कर्म अपना कार्य उत्पन्न करने में समर्थ होने से कर्मपना धारण करते हैं और वे ही जीव कर्म से डरते हैं। हमारा मरण न हो जाए या हम निर्धन न हो जायें - ऐसी आशा होने से ही कर्म उन्हें दुःखी करते हैं। लेकिन जिनकी आशा नष्ट होने से जिन्होंने धनादिक को छोड़ दिया है और जो मरण के कारणों के सम्मुख हुए हैं, उनका कर्म कुछ नहीं कर सकते। - ऐसे मुनिराज कर्मों से नहीं डरते, मरण हो तो हो, उन्हें पर्याय छोड़ने का भय नहीं है और निर्धनता को निराकुलता का कारण जानकर उन्होंने स्वेच्छा से ही धनादि को छोड़ा है - इसप्रकार जिन्होंने आशा का अभाव कर दिया है, उन्हें कर्म कैसे दुःखी करेंगे ? मोह हीन होने पर कर्म का उदय भी हीन होता जाता है और वह आत्मा को दुःखी करने रूप कार्य का कर्त्ता नहीं होता।

स्तुत्य और निंद्य व्यक्तियों की चरम स्थिति

कुछ लोग विशाल राज्य छोड़कर तप अंगीकार करते हैं और कुछ लोग तप छोड़कर राज्य अंगीकार करते हैं - इन दोनों कार्यों का फल आगामी दो छन्दों में कहते हैं :-

---

१. किस जीव को दुःख में निमित्त हो सकते हैं २. कर्म

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुष्टुप्

परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः ।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया ।।१६४।।

स्तुति अरु निन्दा दोनों की चरम कोटि को प्राप्त हुए ।
तप के लिए राज्य-त्यागी अरु तप-त्यागी विषयाशा से ।।१६४।।

अर्थ :- जो तप के लिए चक्र (राज्य) को छोड़ते हैं और जो विषयों की आशा से तप को छोड़ते हैं - ये दोनों ही स्तुति और निन्दा के सर्वोत्कृष्ट भाग को प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ :- इस लोक में कुछ लोग स्तुति करने योग्य और कुछ लोग निन्दा करने योग्य हैं । उन सब में चक्रवर्ती पद छोड़कर मुनिपद धारण करनेवाले सर्वोत्कृष्टरूप से स्तुति करने योग्य हैं क्योंकि वे ऐसी चक्रवर्ती पद की सम्पदा को छोड़कर मुनि-धर्मरूप दुर्द्धर अनुष्ठान का आचरण करते हैं, इसलिए वे सर्वोत्कृष्ट स्तुति योग्य महिमा के पात्र हैं और जो ग्रहण किया हुआ मुनिपद छोकर विषय-वाञ्छा के कारण राज्य को अंगीकार करते हैं, वे सर्वोत्कृष्टरूप से निन्दा के योग्य हैं, क्योंकि छोटी-सी प्रतिज्ञा भंग करने पर भी निन्दा होती है, जबकि इसने तो मुनिपद अंगीकार करके उसका भंग किया है, इसलिए इसका भ्रष्टपना उत्कृष्टतम निन्दनीय है ।

प्रश्न :- निन्दा करना तो उचित नहीं है ?

उत्तर :- ईर्ष्या के कारण द्वेष-बुद्धि से निन्दा करना योग्य नहीं है, परन्तु पापाचरण प्रगट करके उसे बुरा बताने के लिए निन्दा करने में दोष नहीं है । यदि ऐसा न हो तो शास्त्रों में पापी जीवों की निन्दा क्यों की गई है ।

विषयाभिलाषियों द्वारा तप छोड़ने पर आश्चर्य

हरिणी

त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलं
सुखमनुपमं स्वोत्थं नित्यं ततो न तदद्भुतम् ।
इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकं
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तुं जहाति महत्तपः ।।१६५।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुपम आत्मोत्पन्न शाश्वत-सुख फल तप से होता जान ।
तप के लिए चक्र[1] तजते चक्री इसमें आश्चर्य न मान ॥
किन्तु सुबुद्धि त्यक्त विषय-विष पुनः भोग अभिलाषा से ।
गुरुतम तप को तज देते हैं अति आश्चर्य हमें इससे ॥१६५॥

अर्थ :- चक्रवर्ती तप के लिए राज्य छोड़ें तो छोड़ें, क्योंकि इसका फल अनुपम, आत्मजन्य शाश्वत सुख है, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि बुद्धिमान होकर भी छोड़े हुए विषय-विष को पुनः भोगने के लिए महान तप को छोड़ देते हैं ।

भावार्थ :- जिसप्रकार लोक में अधिक सुख की प्राप्ति के लिए थोड़े सुख को छोड़ देने में कोई आश्चर्य नहीं माना जाता, परन्तु यदि कोई सर्वथा दुःखदायक विष को छोड़कर पुनः उसे खाने के लिए बड़े पद को छोड़े तो महान आश्चर्य की बात है; उसीप्रकार मोक्ष सुख के लिए चक्रवर्ती पद को छोड़ने में कोई आश्चर्य नहीं है, परन्तु कोई सर्वथा दुःखदायक विषयों को छोड़कर भी पुनः उनके सेवन के लिए त्रिलोक पूज्य मुनिपद को छोड़े तो यह महान आश्चर्य की बात है । ऐसा अनर्थ कैसे हो सकता है ?

तप से च्युत होनेवालों की निर्भयता पर आश्चर्य

तप छोड़नेवालों के प्रति आश्चर्य व्यक्त करते हुए आगामी छन्द में कहते हैं :-

वसंततिलका

शय्यातलादपि तुकोऽपि भयंप्रपातात्,
तुङ्गात्ततः खलुविलोक्यकिलात्मपीडाम् ।
चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गाद्,
धीमान् स्वयं न तपसः पतनाद्बिभेति ॥१६६॥

ऊँची शैय्या से बालक गिरने से डरता पीड़ा जान ।
किन्तु त्रिलोक-शिखर तप से गिरने का भय न करे धीमान ॥१६६॥

अर्थ :- छोटा बालक भी पीड़ा होने के भय से ऊँची शैय्या से गिरने से डरता है, परन्तु यह सचमुच में बड़े आश्चर्य की बात है कि बुद्धिमान व्यक्ति तीन

---

१. राज्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लोक के शिखर समान अत्यन्त ऊँचे तप से गिरने में भी नहीं डरते।

भावार्थ :- विचार रहित होने पर भी बालक थोड़ी-सी ऊँची शैय्या से गिरने से डरता है, क्योंकि उसको भी इतना विचार तो है कि यहाँ से गिरने पर मुझे दर्द होगा। लेकिन यह जीव मुनिलिंग का धारी है, विचारवान है और यह तप भी तीन लोक के शिखर के समान ऊँचा है, क्योंकि तीन लोक के जीव तप को बड़ा पूज्य मानते हैं परन्तु फिर भी यह जीव इससे भ्रष्ट होने में नहीं डरता, स्वयमेव ही भ्रष्ट होता है। इतना भी विचार नहीं करता कि भ्रष्ट होने पर लोक में हास्य होने से मुझे अपमान-जन्य पीड़ा होगी और पर-लोक में चिरकाल तक नरक-निगोदादि में दुःख सहना पड़ेंगे - यह बड़े आश्चर्य की बात है।

अहो ! लोक में तो ऊँचा पद पाने के बाद पराधीनता से भी नीचा होने पर इतनी लज्जा आती है कि वह आत्महत्या तक का विचार करता है, परन्तु यह इतना निर्लज्ज हो गया है कि मुनि-पद जैसा उच्च-पद पाकर खुद अपने आप भ्रष्ट होकर नीचा हो रहा है - ऐसा असम्भव कार्य देखकर आश्चर्य कैसे न होगा ? भ्रष्ट होनेवाला मुनि लोक रीति का उल्लंघन करके निन्दा का पात्र होता है इसलिए यहाँ आश्चर्य व्यक्त किया जा रहा है।

तप को मलिन करनेवालों की निन्दा

जिस तप से महापाप धुल जाते हैं, उस तप को भी नीच पुरुष मलिन कर देते हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

विशुध्यति दुराचारः सर्वोऽपि तपसा ध्रुवम्।
करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरोऽपरः ॥१६७॥

सर्व दुराचारों की शुद्धि होती है जिस तप द्वारा।
वह तप मलिन किया जाता है अन्य निंद्य पुरुषों द्वारा ॥१६७॥

अर्थ :- पूर्व में किए गए सभी दुराचार तप के द्वारा निश्चित रूप से शुद्ध हो जाते हैं (दूर हो जाते हैं), और जिनमत से बाह्य, सबसे अधिक निकृष्ट निंद्य जीव उस तप को भी मलिन कर देते हैं।

भावार्थ :- जिसप्रकार जल से मल धोया जाता है, परन्तु जो उस जल में ही मल मिलाता है वह नीच कहा जाता है; उसीप्रकार तप से पाप दूर हो जाते

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं, तीव्र पापी भी तप करके पाप दूर कर लेता है, परन्तु जो पाप दूर करने के कारण तप में ही पाप लगाता है वह महानीच है।

यहाँ यह आशय है कि पाप करनेवाला तो नीच है ही, परन्तु पाप मिटाने का कारण मुनिलिंग धारण करके उसमें दोष लगानेवाला उससे भी अधिक नीच है। अन्यत्र भी यह न्याय कहा गया है कि "अन्य स्थान में किया गया पाप धर्मस्थान में दूर होता है, परन्तु धर्मस्थान में किया गया पाप कहाँ दूर होगा ? वह तो वज्र-लेप हो जाता है"[1] इसीप्रकार गृहस्थ दशा में किए गए पाप मुनिदशा में दूर हो जाते हैं, परन्तु मुनिदशा में किया गया पाप कहाँ दूर होगा ? वह तो वज्र-लेप हो जाता है - ऐसा निश्चय करके मुनिलिंग में दोष लगाना योग्य नहीं है।

आश्चर्य-उत्पत्ति के दो प्रमुख कारण

लोक में आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले बहुत कारण हैं, उनमें तप को छोड़ना अति आश्चर्यपने का कारण है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

वसन्ततिलका

सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किं तु,
विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः ।
पीत्वाऽमृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः,
संप्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजन्ति ॥१६८॥

है त्रिलोक में शत-शत कौतुक किन्तु हमें दो ही भासें ।
अमृत पीकर वमें अभागे, संयम निधि पाकर त्यागें ॥१६८॥

अर्थ :- तीन लोक में कौतूहल के सैकड़ों उदाहरण हैं, परन्तु इनमें हमें तो ये दो कार्य ही अत्यन्त आश्चर्य उत्पन्न करते हैं - एक तो भाग्यहीन पुरुष द्वारा अमृत पीकर उसका वमन करना और दूसरा संयम-निधान पाकर उसे छोड़ना।

भावार्थ :- जहाँ असम्भव कार्य भासित हो, वहाँ आश्चर्य उत्पन्न होता है। लोक में तो अनेक कौतुकरूप कार्य आश्चर्य उत्पन्न करते हैं, परन्तु हमें तो इन दो कार्यों में ही आश्चर्य होता है। जिससे जरा आदि रोग नहीं होते - महाभाग्य से ऐसा अमृत पान करके किसी ने उसका वमन कर दिया - एक तो

1. *अन्यक्षेत्रे कृतं पापं धर्म-क्षेत्रे विनश्यति । धर्म-क्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह आश्चर्य है; और कोई काललब्धि से जन्म-मरण आदि दुःखों का नाश करनेवाले संयम का निधान ग्रहण करके भी उसे छोड़ दे - दूसरा यह आश्चर्य है। इन दो आश्चर्यों में पहला तो दृष्टान्तरूप जानना। जैसे अमृत-पान करके उसका वमन करना विपरीत कार्य है, वैसे संयम ग्रहण करके उसे छोड़ना विपरीत कार्य है, इसलिए विवेकी पुरुष ऐसा कार्य नहीं करते।

रागादि का नाश करने की प्रेरणा

पूर्वोक्त कारणों से संयम-निधान को नहीं छोड़नेवाले विवेकी जीव सर्व परिग्रह का त्याग करके अब रागादि का समूल नाश करने के लिए प्रयत्न करें - ऐसी शिक्षा आगामी छन्द में देते हैं :-

मालिनी

इह विनिहतबह्वारम्भबाह्योरुशत्रोः,
उपचितनिजशक्तेर्नापरः कोऽप्यपायः।
अशनशयनयानस्थानदत्तावधानः कुरु,
तव परिरक्षामान्तरान् हन्तुकामः ॥१६९॥

बहु आरम्भ-परिग्रह आदिक बाह्य शत्रु का नाश किया।
अतुल आत्मबल अर्जित करके अब न कोई भी शत्रु रहा॥
भोजन शयन गमन स्थिति में सावधान होकर रहना।
अन्तरंग अरि नाश हेतु तुम अपनी परिरक्षा करना ॥१६९॥

अर्थ :- हे मुनि! तुमने यह मुनिलिंग धारण करके बहुत आरम्भादिक पापकर्मरूप बाह्य शत्रुओं का नाश करके अपनी शक्ति संचित कर ली है, इसलिए तुम्हारा और कोई दूसरा विघ्न करनेवाला शत्रु नहीं रहा; परन्तु अब तो अन्तरंग शत्रुओं के नाश करने का अभिलाषी होकर भोजन करना, सोना, चलना, बैठना आदि क्रियाओं में सावधान रहकर अपनी रक्षा कर - ऐसी शिक्षा हम तुम्हें देते हैं।

भावार्थ :- राजाओं के दो प्रकार के शत्रु होते हैं, बहिरंग और अन्तरंग। अपने राज्य की सीमा के बाहर स्थित अन्य राजा आदि स्पष्ट रूप से बहिरंग शत्रु हैं, और अपने पास रहनेवाले खान-पान आदि में सहायक नौकर आदि के रूप में छिपे हुए दुश्मन अन्तरंग शत्रु हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बाह्य शत्रुओं का नाश करनेवाले राजा को राजभ्रष्ट होने का कोई कारण तो नहीं रहा, परन्तु यदि वह खान-पान आदि क्रियाओं में सावधानी न रखे तो अन्तरंग शत्रुओं द्वारा मारा जा सकता है। इसलिए अन्तरंग शत्रुओं से भी खान-पान आदि क्रियाओं में सावधान रहकर अपनी रक्षा करना चाहिए।

इसीप्रकार मुनियों के भी दो प्रकार के शत्रु हैं, बहिरंग और अन्तरंग। मुनिलिंग से बाह्य स्पष्ट रूप से विपरीत भासित होनेवाले हिंसादिरूप आरम्भादि बहिरंग शत्रु हैं और मुनिलिंग में भी होने वाली खान-पान आदि क्रियाओं में रागादि प्रमादरूप मोहमय (चारित्र मोहमय) छिपे हुए विपरीत भाव अन्तरंग शत्रु हैं।

अपनी रक्षा जिसप्रकार हो, उसप्रकार बाह्य आरम्भादिक का त्याग करनेवाले मुनियों को मुनिपद से भ्रष्ट होने का कोई कारण तो नहीं रहा, परन्तु खान-पान आदि क्रियाओं में प्रमादी होकर असावधान रहनेवाले मुनियों का मुनिपद रागादि अन्तरंग भावों से नष्ट हो जाता है। इसलिए रागादि अन्तरंग शत्रुओं से अपने मुनिपद की जिसप्रकार रक्षा हो, उसप्रकार खान-पानादि क्रियाओं में सावधानी रखना चाहिए।

यहाँ यह आशय है कि बाह्य आरम्भादिक का त्याग करके निश्चित नहीं होना चाहिए, मुनिलिंग में होनेवाली खान-पानादि क्रियाओं में भी रागादिक नहीं करना चाहिए।

शास्त्राभ्यास की प्रेरणा

मन को रोकने से आत्मा की रक्षा होती है और रागादि का नाश होता है, अत: ऐसा कार्य करना चाहिए, जिससे मन रुके - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शिखरणी

अनेकान्तात्मार्थ प्रसवफलभारातिविनते,
वच: पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं,
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो मर्कटममुम्॥१७०॥

अनेकान्तमय अर्थ पुष्प-फल के प्रभार से हुए विनम्र।
वचनरूप पत्तों से शोभित विस्तृत नय शाखा संयुक्त॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उन्नत अरु सम्यक् विस्तृत मतिज्ञान मूल पर थिर श्रुतज्ञान ।
मन-मर्कट को नित्य रमाओ नित प्रतिदिन हे बुद्धिमान ॥१७०॥

अर्थ :- बुद्धिमान पुरुषों को इस मनरूपी बन्दर को सदाकाल प्रतिदिन शास्त्ररूपी वृक्ष में रमाना चाहिए। यह शास्त्र रूपी वृक्ष अनेकान्तमय पदार्थरूपी फूलों और फलों के भार से नम्रीभूत है, वचनरूपी पत्तों से व्याप्त है, नयरूपी सैकड़ों विशाल शाखाओं से युक्त है, अत्यन्त ऊँचा है और विस्तृत मतिज्ञान इसकी जड़ है।

भावार्थ :- कोई कहेगा कि मन तो बन्दर के समान चञ्चल है, इसलिए सावधानी रखने पर भी रागादिरूप परिणमित हो जाता है तो क्या करना चाहिए? - ऐसा कहनेवाले को शिक्षा देते हैं :-

जिसप्रकार बन्दर यदि खाली (फुरसत में) रहेगा तो कुछ न कुछ उत्पात अवश्य करेगा, इसलिए उसे वृक्षों में रमा दो तो वह प्रसन्न भी रहेगा और किसी का कुछ नुकसान भी नहीं करेगा; उसीप्रकार मन को कोई आलम्बन नहीं रहेगा तो वह रागादि रूप प्रवर्तन अवश्य करेगा, इसलिए यदि उसे शास्त्राभ्यास में लगा दें तो वह रागादिरूप प्रवर्तन नहीं करेगा और प्रसन्न भी रहेगा।

यहाँ मात्र शास्त्रों के बाह्य पठन-पाठन आदि को ही शास्त्राभ्यास नहीं समझना चाहिए, परन्तु शास्त्र के कहे अनुसार स्वरूप का ध्यान आदि करना भी शास्त्राभ्यास ही है, क्योंकि शुक्लध्यान में भी वितर्क सहित ध्यान कहा गया है और वितर्क श्रुत को कहते हैं; इसलिए जब तक केवलज्ञान न हो तब तक शास्त्रों में मन लगाने से ही रागादि की हीनता होती है।

मनरूपी बन्दर को रमाने के लिए शास्त्रों को वृक्ष के समान कहा गया है। वृक्ष में फूल और फल सारभूत हैं और वह उनके भार से झुका रहता है। वह सघन पत्तों द्वारा सुशोभित होता है। वृक्ष की शाखाओं पर फूल और फल लगते हैं। वह अत्यन्त ऊँचा होता है। विस्तृत जड़ें ही उसके अस्तित्व का मूल कारण हैं। वृक्ष के समान शास्त्र में भी स्याद्वाद रूप अर्थ सारभूत हैं और वे ही ग्रहण करने योग्य है। शास्त्र, युक्ति गर्भित वचनों से सुशोभित हैं, उनमें अनेक नयों के द्वारा कथन करके पदार्थों का निरूपण किया जाता है। शास्त्र, तीनों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लोकों में पूज्य होने से सर्वोच्च हैं। मतिज्ञान अथवा बुद्धि शास्त्रों के विस्तार में मूल कारण है। इसप्रकार वृक्ष के समान शास्त्र में बन्दर के समान मन को लगाना चाहिए।

वस्तु का अनेकान्तिक स्वरूप

शास्त्ररूपी वृक्ष में मन लगानेवाले जीव किस प्रकार तत्त्व की भावना भाते हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

तदेव तदतद्रूपं प्राप्नुवन्न विरंस्यति ।
इति विश्वमनाद्यन्तं चिन्तयेद्विश्ववित् सदा ॥१७१॥

तद्रूप धर्म अरु अतद्रूपपन सहित वस्तु नहिं होती नाश ।
विश्व अनादि-अनन्त विश्वविद्[1] करते ऐसा नित विश्वास ॥१७१॥

अर्थ :- समस्त तत्त्वों को जाननेवाले ज्ञानी अनादिनिधन समस्त जीवादि वस्तुओं के बारे में चिन्तवन करते हैं कि वस्तु विवक्षित स्वरूप को तथा उससे प्रतिपक्षी स्वरूप को प्राप्त होने पर भी नष्ट नहीं होती।

भावार्थ :- शास्त्राभ्यास करनेवाले ज्ञानी केवल शब्दों और अलंकारों में ही मन को नहीं रमाते, वे वस्तु स्वरूप का चिन्तन करते हैं कि जीवादि वस्तुऐं नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं; सत्तारूप भी हैं, असत्तारूप भी हैं; एक भी हैं, अनेक भी हैं; तत् स्वरूप भी हैं, अतत् स्वरूप भी हैं। इसप्रकार परस्पर विरुद्ध धर्म स्वरूप जीवादि वस्तुऐं कभी नष्ट नहीं होतीं, सदा अपने स्वभावरूप रहती हैं। अनादि निधन समस्त जीवादि पदार्थों का यही स्वरूप है। तत्त्वज्ञानी जीव शास्त्र द्वारा इसप्रकार चिन्तवन करते हैं। ऐसे चिन्तवन से उन्हें वस्तु स्वरूप भासित होता है, जिससे सम्यग्दर्शन आदि प्राप्त करके वे अपना कल्याण कर लेते हैं।

प्रमाण से सिद्ध वस्तु का अनेकान्तिक स्वरूप

उपर्युक्त प्रकार का ज्ञान तो भ्रमरूप होगा - इस शंका का निराकरण आगामी छन्द में करते हैं :-

---

१. विश्व को जाननेवाले

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुष्टुप्

एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पादव्ययात्मकम् ।
अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः ॥१७२॥

एक वस्तु है एक काल में ध्रौव्योत्पाद-विनाश स्वरूप ।
है प्रमाण से सिद्ध, अन्यथा सिद्ध न होता वस्तु स्वरूप ॥१७२॥

अर्थ :- एक ही वस्तु एक ही समय में ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय - इन तीनों स्वरूप है, अन्यथा प्रमाण से अबाधित वस्तु में 'यह वही है' ऐसी प्रतीति और 'यह अन्य है' ऐसी प्रतीति सिद्ध नहीं होगी।

भावार्थ :- यदि एक ही अपेक्षा से वस्तु को तद्रूप भी कहा जाए और अतद्रूप भी कहा जाए तो भ्रम ही है, परन्तु यदि अन्य अपेक्षा से कहा जाए तो विरोध नहीं है। जैसे किसी पुरुष को एक ही व्यक्ति का पिता भी कहा जाए और पुत्र भी कहा जाए तो भ्रम ही है, परन्तु यदि उसे किसी व्यक्ति का पिता और किसी अन्य व्यक्ति का पुत्र कहा जाए तो विरोध नहीं है, अपितु वस्तु स्वरूप की सिद्धि ही है।

एक ही वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। जैसे - कोई व्यक्ति पहले रंक था, फिर राजा हो गया, वहाँ उसकी अवस्था पलटने की अपेक्षा उसमें अन्यत्व भासित होता है, इसलिए 'यह अन्य है' - ऐसा माना जाता है; परन्तु मनुष्यपने की अपेक्षा पहले भी मनुष्य था और अब भी वही मनुष्य है - ऐसा एकत्व भासित होता है, इसलिए 'यह वही है' - ऐसा माना जाता है। ऐसी प्रतीति प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित नहीं है, वस्तु स्वरूप ऐसा ही भासित होता है, इसलिए वही पुरुष एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप को धारण करता है। जिस समय वह रंक से राजा हुआ, उसी समय राजापने का उत्पाद है, रंकपने का व्यय है और मनुष्यपना ध्रुव है। इसीप्रकार कोई जीव मनुष्य से देव हुआ, उसमें मनुष्यपने और देवपने की अपेक्षा 'यह अन्य है' - ऐसी प्रतीति की जाती है, और जीवपने की अपेक्षा 'यह वही है' - ऐसी प्रतीति की जाती है। इसप्रकार उसमें एक ही समय में देवपने का उत्पाद, मनुष्यपने का व्यय और जीवपने का ध्रौव्य - ऐसे तीनों भाव पाये जाते हैं।

इसीप्रकार जीवादि सभी वस्तुऐं एक ही समय में स्थूल और सूक्ष्म पर्यायों से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपने को धारण किये हुए हैं। इसप्रकार एक ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व सिद्ध हुआ।

इसीप्रकार एक ही वस्तु को स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा सत्तारूप (अस्तित्व) और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा असत्तारूप (नास्तित्व) मानना चाहिए। एक ही पुरुष, इस द्रव्यरूप है और इस द्रव्यरूप नहीं है, इस क्षेत्र में है और इस क्षेत्र में नहीं है, इस काल में है और इस काल में नहीं है तथा इस भावरूप है और इस भावरूप नहीं है - ऐसा माना जाता है, इसलिए एक ही वस्तु एक साथ सत्ता और असत्तारूप है।

इसीप्रकार वस्तु अंशी की अपेक्षा एकरूप और अंशों की अपेक्षा अनेक रूप मानना चाहिए। जैसे - एक ही पुरुष सम्पूर्ण शरीर की अपेक्षा एक रूप भी कहा जाता है और हाथ-पैर आदि की अपेक्षा अनेकरूप भी कहा जाता है, इसलिए एक ही वस्तु एक साथ एक-अनेक रूप है।

इसीप्रकार वस्तु तद्रूप है भी और तद्रूप नहीं भी है - ऐसा तत्त्व भासित है। अतः सम्यग्ज्ञानी जीव शास्त्रों द्वारा यथा योग्य प्रमाण से अविरुद्ध अपेक्षा से ऐसा ही विचार करते हैं।

परस्पर विरुद्ध धर्ममय सभी पदार्थ

कोई तर्क करता है कि वस्तु का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसमें सर्वथा नित्यादि एक स्वरूप ही पाया जाता है - इसका समाधान आगामी छन्द में करते हैं :-

वसंततिलका

न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं,
नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात्॥
तत्त्वं प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूप-
माद्यन्तहीनमखिलं च तथा यथैकम् ॥१७३॥

नहीं सर्वथा नित्य सर्वथा क्षणिक नहीं वस्तु का रूप।
मात्र ज्ञानमय, नहिं अभावमय, निर्बाधित भासित न स्वरूप[1] ॥
प्रतिक्षण जानो तत्त्व तत्-अतत् वस्तु का अविरुद्ध स्वरूप।
जैसा एक पदार्थ अनादि-निधन है वैसा सबका रूप ॥१७३॥

---

१. *सर्वथा*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- वस्तु सर्वथा नित्य अर्थात् स्थिर नहीं है और सर्वथा क्षणिक अर्थात् विनाशीक भी नहीं है। सर्वथा ज्ञानमात्र नहीं है और सर्वथा अभावरूप भी नहीं है, क्योंकि सर्वथा अखण्ड एक ही धर्मरूप प्रतिभासित होने में विरोध है; अविरोधरूप से ऐसा भासित नहीं होता, क्योंकि वस्तु प्रतिसमय उसरूप (अपने स्वरूप) भी है और उसरूप नहीं भी है। वस्तु का अनादिनिधन स्वरूप ऐसा ही है। जैसे एक पदार्थ ऐसा अनेकान्तरूप भासित होता है, वैसे ही सभी पदार्थों का स्वरूप जानना चाहिए।

भावार्थ :- वस्तु का स्वरूप सर्वथा एकरूप नहीं है। अनेक अपेक्षाओं से अनेक स्वरूप है।

साँख्य, नैयायिक आदि मतवाले वस्तु को सर्वथा नित्य ही मानते हैं, जबकि बौद्धमती सर्वथा क्षणिक ही मानते हैं। ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धमती मात्र ज्ञान का ही अस्तित्व मानते हैं, बाह्य वस्तुऐं हैं ही नहीं - ऐसा मानते हैं। शून्यवादी बौद्धमती सभी वस्तुओं का अभाव मानते हैं। - इसप्रकार अनेक लोग वस्तु को एकान्तरूप मानते हैं, परन्तु वस्तु-स्वरूप ऐसा नहीं है, क्योंकि विचार करने पर ऐसे एकान्त में विरोध भासित होता है।

एक ही वस्तु में अवस्था बदले बिना अर्थ-क्रिया की सिद्धि नहीं होती, इसलिए वह सर्वथा नित्य कैसे हो सकती है ? और अन्य-अन्य अवस्थायें होने पर भी किसी भाव की नित्यता की अपेक्षा वस्तु सदैव एकरूप भासित होती है, इसलिए उसे सर्वथा क्षणिक कैसे माना जा सकता है ?

इसीप्रकार ज्ञान का अस्तित्व भी भासित होता है और बाह्य पदार्थों का अस्तित्व भी भासित होता है। यदि बाह्य पदार्थों की सत्ता न मानी जाए तो प्रमाण और अप्रमाण ज्ञान का विभाग नहीं हो सकता, इसलिए सर्वथा ज्ञान की ही सत्ता नहीं है। पदार्थों का अस्तित्व तो प्रत्यक्ष भासित होता है, यदि उनका अभाव मानें तो अभाव का प्रतिपादन करनेवाले भी शब्दरूप पदार्थ हैं, अतः उनका भी अभाव ठहरेगा और प्रत्यक्ष को झूठा कहना उचित नहीं है इसलिए वस्तु सर्वथा अभावरूप नहीं है।

इसप्रकार सर्वथा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। वस्तु उस स्वरूप भी है और उस स्वरूप नहीं भी है। वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय पलटने की अपेक्षा क्षण-विनश्वर है। ज्ञान में भासित होने की अपेक्षा ज्ञानमात्र है, बाह्य सत्तारूप वस्तुओं की अपेक्षा ज्ञानमात्र नहीं है, बाह्य वस्तु भी है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तिरूप होने से अभावरूप है और स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तिरूप होने से अभावरूप नहीं है, सद्भावरूप है। - इसप्रकार अनादि-निधन अनेकान्तरूप वस्तु का स्वरूप है।

एक पदार्थ में उक्त अनेकान्तरूप घटित होता है। जैसे - एक जीव चेतनत्वादि भावों की अपेक्षा नित्य भी है और नर-नारकादि पर्यायों की अपेक्षा अनित्य भी है। ज्ञान में प्रतिभासित जीव के आकार की अपेक्षा ज्ञानमात्र भी है। जीव अपने अस्तित्व को लिए हुए स्वतन्त्र पदार्थ भी है। पुद्गल आदि के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में जीव का अभाव भी है और अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में जीव का सद्भाव भी है। इसप्रकार जैसे जीव अनेकान्त स्वरूप एक पदार्थ है, वैसे ही सभी पदार्थ अनादि निधन अनेक अपेक्षाओं से उसरूप भी है और उसरूप नहीं भी है। अत: जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा ही मानने पर सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए वैसा ही मानना चाहिए।

आत्मा का असाधारण स्वरूप

यदि अनेकान्त सभी पदार्थों का साधारण स्वरूप है तो आत्मा का असाधारण स्वरूप क्या है जिसे भाने से आत्मा मुक्ति की साधना करता है - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

ज्ञानस्वभाव: स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युति:।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ।।१७४।।

ज्ञान स्वभावी है आतम अरु कहा स्वभाव विनाश विहीन।
ज्ञान भावना भाओ यदि हो अभिलाषा शाश्वत पद की ।।१७४।।

अर्थ :- ज्ञान आत्मा का असाधारण स्वभाव है और स्वभाव की प्राप्ति विनाश रहित है; इसलिए अविनाशी अवस्था को चाहनेवाले विवेकियों को ज्ञान-भावना भाना चाहिए।

भावार्थ :- पूर्व सूत्रों में कहे गए नित्य-अनित्यादि धर्म सभी वस्तुओं में समान रूप से होते हैं, अर्थात् वे साधारण धर्म हैं, परन्तु ज्ञान अर्थात् जानना आत्मा में ही पाया जाता है, इसलिए यह आत्मा का असाधारण स्वभाव है। इसी लक्षण से परद्रव्यों से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का निर्णय होता है। यह नियम है कि वस्तु का अस्तित्व रहते हुये उसके स्वभाव का कभी अभाव नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होता, क्योंकि लक्षण का नाश होने पर लक्ष्य का अस्तित्व कैसे रहेगा ?

जिसप्रकार कोई व्यक्ति अपने ही धन का स्वामी होकर प्रवर्तेगा तो उसकी स्थिति एक-सी रहेगी और यदि वह दूसरों के धन का स्वामी होकर प्रवर्तेगा तो उसकी स्थिति एक-सी नहीं रहेगी; उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान समयसार है, इसलिए उसे अपने ज्ञान का ही स्वामी होकर प्रवर्तना चाहिए। 'ये पदार्थ जैसे परिणमते हैं वैसे परिणमें, मैं तो इन्हें जाननेवाला ही हूँ' - ऐसी भावना रखनेवाले की अवस्था अविनाशी (एकरूप) होती है, क्योंकि ज्ञान तो जीव का स्वभाव है, उसका कभी अभाव नहीं होता। तथा जीव, ज्ञान से भिन्न अन्य असारभूत भावों का स्वामी नहीं होता इसलिए उसकी अवस्था भी नहीं पलटती (एकरूप रहती है)।

जो जीव परद्रव्यों के स्वभाव का स्वामी होकर प्रवर्तता है, अपने स्वभावरूप परिणमनेवाले शरीर, स्त्री, पुत्र, धनादि को अपना जानता है; उसकी अविनाशी अवस्था नहीं रहती, क्योंकि शरीरादि की अवस्था ही एकरूप नहीं रहती, इसलिए यह उनकी अवस्था पलटने पर अपनी अवस्था पलटी - ऐसा मानता है, अत: अविनाशीपना नहीं रहता। इसलिए जो विवेकी अविनाशी अवस्था को चाहते हैं, उन्हें एक ज्ञान भावना ही भाना चाहिए।

ज्ञान का फल और मोह की महिमा

पृथक्त्व-वितर्क और एकत्व-वितर्क के भेदवाले शुक्लध्यान स्वरूप और भावनारूप श्रुतज्ञान को भाने का फल क्या होगा ? - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥१७५॥

ज्ञान-भावना का फल आदरणीय तथा अविनाशी ज्ञान ।
किन्तु अन्य फल की वाञ्छा को अहो मोह की महिमा जान ॥१७५॥

अर्थ :- निश्चय से ज्ञान का फल ज्ञान ही है, वह सर्वथा प्रशंसनीय और अविनाशी है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उससे लोग अन्य कुछ और फल चाहते हैं - इसे मोह की ही महिमा जानना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- श्रुतज्ञान द्वारा पदार्थों को यथार्थ जानने का तात्कालिक फल तो उन पदार्थों का जानपना ही है और परम्परा फल केवलज्ञान है, वहाँ सर्व पदार्थों का जानपना होता है। इसप्रकार ज्ञान का फल ज्ञान ही है, जो सर्व प्रकार से प्रशंसनीय है, क्योंकि यथार्थ ज्ञान होने पर पदार्थ जैसे हैं, वैसे भासित होने से निराकुलता होती है। निराकुलता सुख का लक्षण है और सभी जीव सुख चाहते हैं। इस सुख में पराधीनता आदि कोई दोष नहीं है। अन्य लोग उससे विषय-सामग्रीरूप फल को चाहते हैं - यह मोह की महिमा है। जिसप्रकार खाज रोग होने पर रोगी को खुजाने की सामग्री अच्छी लगती है, उसीप्रकार मोह के कारण आत्मा में काम-क्रोधादि भाव उत्पन्न होने पर इस जीव को स्त्री-पुत्रादि सामग्री अच्छी लगती है, यह उन्हें चाहता है। इस जीव को ज्ञान के सिवाय अन्य फल की चाह होती देखकर ज्ञानियों को बड़ा आश्चर्य होता है। जैसे भूत लगे हुए व्यक्ति की चेष्टा देखकर आश्चर्य होता है वैसे मोही जीव की चेष्टा देखकर ज्ञानी को आश्चर्य होता है।

भव्य और अभव्य में अंतर

श्रुतज्ञान की भावना में प्रवृत्त भव्यों और अभव्यों को क्या-क्या फल होता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली व भस्म वा भवेत्॥१७६॥

शास्त्र-अग्नि में भव्य विशुद्ध, मुक्त होता है मणी समान।
किन्तु दुष्ट हो दीप्त, मलिन, अरु भस्मरूप अंगार समान॥१७६॥

अर्थ :- भव्य जीव शास्त्ररूपी अग्नि में असली पुष्पराग रत्न के समान मल रहित होते हुए विशुद्ध निर्मलता से सुशोभित होते हैं और दुष्ट अभव्य जीव अंगार के समान प्रकाशित होते हुए मलयुक्त ही रहते हैं या भस्म हो जाते हैं।

भावार्थ :- जिसप्रकार पद्मरागमणि पर लगे हुए मल का अग्नि द्वारा नाश होने पर वह शुद्ध भावरूप प्रगट होता हुआ शोभित होता है लेकिन ईंधन का अंगारा अग्नि से प्रकाशित तो होता है, परन्तु बाद में या तो कोयलारूप मैला या काला हो जाता है अथवा भस्म होकर राख हो जाता है; उसीप्रकार धर्मात्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भव्य जीव शास्त्राभ्यास द्वारा अज्ञान और रागादि मल का नाश होने से सिद्ध-पद को पाकर शुद्ध स्वभावरूप होता हुआ प्रशंसनीय होता है और अधर्मी अभव्य जीव शास्त्राभ्यास द्वारा पदार्थों को जानता हुआ प्रसिद्ध तो हो जाता है, परन्तु रागादि दोषों से मैला ही रहता है।

ध्यान की प्रक्रिया

ध्यान की सामग्री का वर्णन आगामी छन्द में करते हैं :-

अनुष्टुप्

मुहुः प्रसार्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ।।१७७।।

वस्तु स्वरूप यथार्थ देखते, ज्ञानी ज्ञान-किरण विस्तार।
राग-द्वेष से रहित ध्यान करते आतम के जाननहार ।।१७७।।

अर्थ :- आत्मा के अधिकाररूप अध्यात्म भाव को जाननेवाले मुनि बार-बार सम्यग्ज्ञान को फैलाकर पदार्थों का यथार्थ अवलोकन करते हुए राग-द्वेष का अभाव करके ध्यान करते हैं।

भावार्थ :- आत्मज्ञानी जीव ध्यान करते हैं। वे पहले तो आगम-अनुमानादिरूप सम्यग्ज्ञान से जीवादि पदार्थों का निश्चय करते हैं और यथार्थ श्रद्धान करते हुए जिसप्रकार राग-द्वेष न हों उसप्रकार बाह्य साधन व अन्तरंग विचारों से राग-द्वेष का नाश करते हैं - इसप्रकार की सामग्री होने पर ध्यान की सिद्धि होती है, क्योंकि उपयोग की निश्चलता ही ध्यान है और राग-द्वेष होने पर परद्रव्यों में उपयोग भ्रमेगा तो ध्यान कैसे होगा तथा पदार्थों का निश्चय हुए बिना परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट भासित होंगे तो राग-द्वेष दूर कैसे होंगे ? और अपना ज्ञान पदार्थों को जानने में लगाए बिना पदार्थों का निश्चय कैसे होगा ? इसलिए ज्ञान का विस्तार करके (ज्ञान को पदार्थों में लगाकर), पदार्थों का यथार्थ निश्चय करके, राग-द्वेष को मिटाकर, किसी एक पदार्थ का यथार्थ ध्यान करते हुए अन्य सर्व चिन्तवन को रोककर यह जीव ध्यानावस्था को प्राप्त होता है। यह ध्यान साक्षात् मोक्षमार्ग है, उसके लिए भव्य जीवों को उक्त सामग्री मिलाना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अज्ञानी को कर्म-बन्ध पूर्वक होने वाली निर्जरा

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि राग-द्वेष का नाश करके ध्यान क्यों करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उन राग-द्वेष से संसार के कारणभूत कर्मों का बन्ध होता है इसलिए उन्हें नष्ट करके ध्यान करना चाहिए - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

वेष्टनोद्वेष्टने यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे ।
आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः ।।१७८।।

कर्म-बन्ध से युक्त निर्जरा जिसको वह भ्रमता संसार ।
खुलती और लिपटती रस्सी युक्त मथानी के अनुसार ।।१७८।।

अर्थ :- जब तक इस प्राणी का मथानी की रस्सी के समान बँधना और खुलना होता रहता है, तब तक यह संसार-समुद्र में गमन-आगमन करके भ्रमण करता रहता है।

भावार्थ :- जिसप्रकार मथानी में जब तक रस्सी का बँधना और खुलना पाया जाता है तब तक गमन-आगमन द्वारा उसका परिभ्रमण होता रहता है; उसीप्रकार जब तक इस संसारी जीव में नए कर्मों का बँधना और पूर्व कर्मों का निर्जरना (खिरना) पाया जाता है, तब तक यह नरकादि पर्यायों में गमनागमन द्वारा परिभ्रमण करता रहता है। पूर्व कर्म का उदय होने पर इसे रागादि होते हैं और रागादि भावों से पुनः नवीन कर्म बंधते हैं, इसलिए रागादि भाव संसार-भ्रमण के कारण हैं - ऐसा जानना चाहिए।

अविपाक निर्जरा की प्रेरणा

प्राणियों के लिए कर्मों की कोई निर्जरा तो भ्रमण और नवीन बन्ध का कारण है और कोई निर्जरा, बन्ध का कारण नहीं है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

मुच्यमानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत् ।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम् ।।१७९।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

खुलती रस्सी युक्त मथानी के समान भ्रमते बँधते ।
जीव ! उसे इस तरह खोलना पुनः न बन्ध भ्रमण होवे ॥१७९॥

अर्थ :- मथानी की रस्सी के समान इस जीव की फाँसी (कर्म की गाँठ) खुलने पर भी उसका भ्रमण और कर्म-बन्ध होता है, इसलिए यह फाँसी इसप्रकार खोलना चाहिए कि जिससे पुनः भ्रमण और कर्म-बन्ध न हो।

भावार्थ :- जिसप्रकार मथानी में लगी हुई रस्सी की गाँठ दो प्रकार से खुलती है। एक खुलना तो इसप्रकार है कि नया बन्ध भी होता जाता है और मथानी का भ्रमण भी होता रहता है (अर्थात् वह घूमती रहती है) और दूसरा खुलना इसप्रकार है कि जिससे नया बन्ध भी नहीं होता और भ्रमण भी नहीं होता, बन्धन से छूटना ही होता है। उसीप्रकार इस संसारी जीव की कर्मरूपी गाँठ (बन्ध) दो प्रकार से खुलती है अर्थात् उसकी निर्जरा दो प्रकार से होती है। एक निर्जरा तो ऐसी है, जिसके होने पर नवीन बन्ध और संसार-भ्रमण होता रहता है और एक निर्जरा ऐसी होती है जिसके होने पर नवीन बन्ध और संसार-भ्रमण नहीं होता, कर्म-पाश से मुक्ति हो जाती है।

यहाँ ऐसा जानना कि जब पूर्वबद्ध कर्म काल पाकर उदय में आने पर अपना रस देकर निर्जरित हो जाता है, तब सविपाक निर्जरा होती है, जो कि नवीन बन्ध और संसार भ्रमण का कारण है और जब पूर्वबद्ध कर्म धर्म-साधन में अनुराग होने के कारण अपना रस दिए बिना ही निर्जरित हो जाता है, तब अविपाक निर्जरा होती है, जो कि नवीन कर्म-बन्ध और संसार-भ्रमण का कारण नहीं है। इसलिए कर्मों की गाँठ की अविपाक निर्जरा करना चाहिए जिससे कर्म-बन्ध और संसार-भ्रमण न हो।

बन्ध और मुक्ति का कारण

कर्म-बन्ध कैसे होता है और कैसे नहीं होता - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

आर्या

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥१८०॥

राग-द्वेष भावों से युक्त प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति से ।
बन्धते और मुक्त होते हैं तत्त्वज्ञान सहित इनसे ॥१८०॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- राग-द्वेषादि भावों से की गई प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति से तो बन्ध होता है और तत्त्वज्ञान से की गई प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति से मोक्ष दिखाई देता है।

भावार्थ :- आत्मा जिस भावरूप होकर प्रवर्तता है, उसमें उसकी प्रवृत्ति जानना और जिस भावरूप होकर नहीं प्रवर्तता, उसमें उसकी अप्रवृत्ति जानना चाहिए। वहाँ मोह के उदय से उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष भावों से कदाचित् अशुभ कार्यों में प्रवृत्ति और शुभ कार्यों में अप्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति से आत्मा को बन्ध होता है तथा मोह का उदय क्षीण होने पर तत्त्वज्ञान होता है, जिससे ज्ञान मात्र शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति होती है और शुभाशुभ भावों में अप्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति से आत्मा को मोक्ष होता है, इसलिए ऐसा ही साधन करना चाहिए।

पाप, पुण्य और मुक्ति का कारण

पुण्य और पापरूप बन्ध किससे होता है और इन दोनों का अभाव किससे होता है ? - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

आर्या

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम् ॥१८१॥

गुण से द्वेष, दोष से हो अनुराग बुद्धि तो होता पाप।
हो इससे विपरीत, पुण्य हो, मुक्ति उभय बिन अपने आप ॥१८१॥

अर्थ :- गुणों में द्वेष और दोषों में अनुरागरूप बुद्धि निश्चय से पाप को उत्पन्न करती है और इससे विपरीत अर्थात् गुणों में अनुराग और दोषों में द्वेषरूप बुद्धि पुण्य को उत्पन्न करती है। इन दोनों से रहित बुद्धि पुण्य और पापरूप कर्मों से मुक्त करती है।

भावार्थ :- उपयोग को बुद्धि कहते हैं। वह उपयोग तीन प्रकार का होता है। अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। जिससे आत्मा का भला हो, उसे गुण कहते हैं और जिससे आत्मा का बुरा हो, उसे दोष कहते हैं। धर्मरूप भावों से आत्मा का भला होता है, इसलिए धर्म का पोषण करनेवाले भाव गुण हैं और अधर्मरूप भावों से आत्मा का बुरा होता है, इसलिए धर्म-विरोधी भाव दोष हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिस जीव को तीव्र मोह के उदय से गुणों में द्वेष हो और दोषों में अनुराग हो अथवा इसी अभिप्राय से जिसमें गुण हों या जो गुणों का कारण हो, उससे द्वेष हो और जिसमें दोष हों या जो दोषों का कारण हो, उससे अनुराग हो; उस जीव को अशुभोपयोग पाया जाता है, उससे पाप बन्ध होता है।

जिस जीव को मन्द मोह के उदय से गुणों में अनुराग हो और दोषों में द्वेष हो अथवा इसी अभिप्राय से जिसमें गुण हों अथवा जो गुणों का कारण हो, उससे अनुराग हो और जिसमें दोष हों या जो दोषों का कारण हो, उससे द्वेष हो; उस जीव को शुभोपयोग पाया जाता है, उससे पुण्य बन्ध होता है।

प्रश्न :- द्वेष-बुद्धि से पुण्य का बन्ध कैसे होगा ?

उत्तर :- अपनी कषाय के प्रयोजन से द्वेष करने पर पाप-बन्ध ही होता है, परन्तु जैसे कोई व्यक्ति मित्र के शत्रु से द्वेष करता है, वैसे ही जो व्यक्ति धर्म के विरोधियों से द्वेष करता है तो उसके अभिप्राय में धर्म का अनुराग ही है, इसलिए उसे पुण्य-बन्ध होता है।

इस सम्बन्ध में शास्त्रों में उदाहरण प्रसिद्ध है :- शूकर और सिंह दोनों लड़ रहे थे। शूकर का अभिप्राय मुनिरक्षा का था, इसलिए वह मरकर पाँचवें स्वर्ग में देव हुआ और सिंह का अभिप्राय मुनि को मारने का था, इसलिए वह मरकर पाँचवें नरक में गया।

शास्त्रों में भी पापों और पापियों की निन्दा की जाती है, इसलिए कथञ्चित् (किसी अपेक्षा से) द्वेष से भी पुण्य-बन्ध सम्भव है। इसप्रकार शुभ और अशुभ दोनों उपयोग राग-द्वेष सहित प्रवर्तते हैं, इसलिए इन्हें अशुद्धोपयोग कहते हैं तथा मोह के अभाव से जिस जीव को ये दोनों प्रकार के राग-द्वेष नहीं पाए जाते, उसे शुद्धोपयोग होता है; उससे पुण्य-कर्म और पाप-कर्म का नाश ही होता है, नवीन बन्ध नहीं होता, पूर्व बन्ध की निर्जरा होती है।

इसप्रकार तीन प्रकार का उपयोग ही पुण्य-पाप के बन्ध और उन दोनों के नाश का कारण जानना चाहिए।

राग-द्वेष का कारण

पूर्वोक्त बन्ध के कारणभूत राग-द्वेष कैसे उत्पन्न होते हैं ? - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुष्टुप्

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव ।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥१८२॥

यथा बीज से मूलाङ्कुर[1] हो तथा मोह से राग-द्वेष ।
ज्ञान अग्नि में मोह जला दो, दहना चाहो राग-द्वेष ॥१८२॥

अर्थ :- जैसे बीज से वृक्ष की जड़ और अंकुर होता है, वैसे मोहरूपी मूलकारण से आत्मा को राग-द्वेष होते हैं; इसलिए जो जीव राग-द्वेष का नाश करना चाहते हैं, उन्हें ज्ञानरूपी अग्नि से मोह दग्ध करना चाहिए।

भावार्थ :- अतत्त्व श्रद्धानरूप मिथ्यात्व भाव को मोह कहते हैं और पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर उनसे प्रीति-अप्रीति करना राग-द्वेष है । अतः अतत्त्व श्रद्धान से ही पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होते हैं, इसलिए जैसे वृक्ष की जड़ और अंकुर का मूल कारण बीज है, वैसे राग-द्वेष का मूल कारण मोह को जानना चाहिए।

जिसप्रकार जड़ और अंकुर को नष्ट करने की इच्छावाला जीव उसके बीज को नष्ट करता है, उसीप्रकार जो जीव राग-द्वेष का नाश करना चाहता है, उसे सर्वप्रथम मोह का नाश करना चाहिए। मोह का नाश होने पर उनका नाश सहज ही हो जाता है। मोह का नाश होने के बाद सम्यग्दृष्टि को कदाचित् राग-द्वेष रहते हैं तो जैसे उखाड़े हुए वृक्ष की जड़ और अंकुर कुछ काल तक हरे रहेंगे और फिर शीघ्र सूख जायेंगे, वैसे ही वे राग-द्वेष शीघ्र नष्ट हो जायेंगे। मोह का सद्भाव होने पर किसी मिथ्यादृष्टि के बाह्य में राग-द्वेष थोड़े भी दिखें; तो जिसप्रकार बीज होने पर जड़ और अंकुर बाह्य में थोड़े भी दिखें, परन्तु वे शीघ्र बढ़ेंगे; उसीप्रकार वे राग-द्वेष भी शीघ्र बढ़ेंगे। इसलिए मोह को राग-द्वेष का मूल कारण जानकर उसी का नाश करना चाहिए।

जैसे अग्नि बीज को जलाती है, वैसे ज्ञान मोह का नाश करता है। ज्ञान से जीवादि तत्त्वों का स्वरूप यथार्थ जानने पर अतत्त्व श्रद्धान का नाश हो जाता है, इसलिए तत्त्वज्ञान के अभ्यास में तत्पर रहना चाहिए, इतना करने से सर्व सिद्धि स्वयमेव हो जाती है।

---

१. मूल और अंकुर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोह का स्वरूप और उसके विनाश का उपाय

इन राग-द्वेष के बीजभूत मोह का क्या स्वरूप है और उसके नाश का क्या उपाय है ? - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक् ।
त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुद्ध्यति रोहति ॥१८३॥

ग्रह-दोषों से हुआ, पुरातन, गहरा अरु गति-पीड़ा युक्त ।
त्याग-ग्रहण से मोह घाव यह नष्ट तथा होता है मुक्त ॥१८३॥

अर्थ :- यह मोहरूपी गूमड़ा अर्थात् फोड़ा अत्यन्त पुराना ग्रह-दोष से उत्पन्न, गम्भीर, गति सहित, कष्टदायक, त्याग जाति आदि से शुद्ध होनेवाला और रोह[1] को प्राप्त होनेवाला है ।

यहाँ फोड़े के उदाहरण से मोह का स्वरूप समझाया गया है ।

जैसे फोड़ा बहुत समय से हुआ है, वैसे मोह अनादि काल से है । फोड़ा मंगल आदि खोटे ग्रहों के आने पर (पाप का उदय आने पर) उत्पन्न होता है, वैसे मोह परद्रव्य के ग्रहणरूप परिग्रह के दोष से उत्पन्न होता है । जैसे फोड़ा बहुत गहरा है, वैसे मोह अथाह अर्थात् अत्यन्त गहन है । जैसे फोड़े से पीप खून आदि का गमन होता रहता है (खून पीप आदि बहते रहते हैं), वैसे मोह से भी नरकादि गति की प्राप्ति होती रहती है । जैसे फोड़ा कष्ट उत्पन्न करता है, वैसे मोह आकुलता उत्पन्न करता है । जैसे फोड़ा खून आदि के त्याग और घी आदि लगाने से मिट जाता है तथा चमड़ीरूप स्वभाविक अवस्था को प्राप्त होता है, वैसे मोह परद्रव्यों के त्याग से और निजस्वरूप जाति के ग्रहण से शुद्ध होता है (अर्थात् मोह का नाश होता है) और सम्यक्त्वरूप स्वभाव की प्राप्ति होती है ।

भावार्थ :- जैसे फोड़ा अपने शरीर में उत्पन्न होने पर भी अपने को दुःखदायक है, वैसे मोह अपने ही अस्तित्व में प्रगट होने पर भी आकुलता उत्पन्न करता है, अतः प्रयत्न पूर्वक उपाय करके इसका नाश करना चाहिए ।

---

१. स्वभाव या स्वभाविक अवस्था

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मृत्यु के पश्चात् मित्र भी शत्रु हैं

जो जीव मोहरूपी फोड़े को शुद्ध (नष्ट) करना चाहते हैं, उन्हें मृत हुए कुटुम्बियों के प्रति भी शोक नहीं करना चाहिए - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

सुहृदः सुखयन्तः स्युर्दुःखयन्तो यदि द्विषः ।
सुहृदोऽपि कथं शोच्या द्विषो दुःखयितुं मृताः ॥१८४॥

मित्र सुखी करते हैं और दुःखी करने वाले शत्रु ।
मरकर दुःखी करें उन मित्रों का क्या शोक ! हुए शत्रु ॥१८४॥

अर्थ :- जो अपने को सुखी करे, वह मित्र होता है और जो दुःखी करे, वह शत्रु होता है; इसलिए जो मित्र होते हुए भी मरकर हमें दुःखी कर रहे हैं वे तो हमारे शत्रु हुए, अतः शोक करने योग्य कैसे हुए ? अर्थात् नहीं हुए ।

भावार्थ :- लोक में जो अपने को सुख उत्पन्न करे, उसे मित्र कहते हैं और जो दुःख उत्पन्न करे, उसे शत्रु कहते हैं । जो पहले मित्र था परन्तु बाद में दुःखदायक हो जाए तो उसे भी शत्रु ही कहा जाता है और जिसे शत्रु मानते हैं, उसका शोक नहीं करते । अतः यहाँ तू जिन स्त्री-पुत्रादि को मित्र मानता था, वे मरण होने पर तुझे दुःखदायक हो गए, इसलिए वे भी शत्रु हुए, अतः उनका शोक क्या करना ? यहाँ प्रत्यक्ष ही देखो ! जैसे शत्रु का स्मरण आदि दुःख उत्पन्न करता है, वैसे मरने के बाद स्त्री-पुत्रादि का स्मरण भी दुःख उत्पन्न करता है । इसलिए शास्त्र-न्याय के अनुसार वैसे भी स्त्री-पुत्रादि बहुत हितकारी नहीं हैं; परन्तु मरने के बाद भी उन्हें हितकारी मानकर शोक करना, यह बड़ा मोह है । जो मोह को दूर करना चाहते हैं उन्हें स्त्री-पुत्रादि का मरण होने पर भी शोक नहीं करना चाहिए ।

इष्ट-वियोग में शोक करनेवाले की स्थिति

यदि तू स्त्री-पुत्र-मित्रादि के मरण में दुःखी होगा तो तेरी क्या स्थिति होगी - इसका वर्णन आगामी छन्द में करते हैं :-

शिखरणी

अपरमरणे मत्वात्मीयानलङ्घ्यतमे रुदन्,
विलपति तरां स्वस्मिन् मृत्यौ तथास्य जडात्मनः ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विभयमरणे भूयः साध्यं यशः परजन्म वा,
कथमिति सुधीः शोकं कुर्यान्मृतेऽपि न केनचित् ॥१८५॥

रे अलंघ्य है मरण स्वजन का फिर भी रुदन करे क्यों मूढ़ ।
और स्वयं का मरण निकट लख अति विलाप जो करे विमूढ़ ॥
निर्भय मरण-साध्य अतिशय यश और प्राप्त हो उत्तम लोक ।
कैसे उसको मिले, सुधी ! मरने पर किञ्चित करो न शोक ॥१८५॥

अर्थ :- अपने से भिन्न स्त्री-पुत्रादि का अनिवार्य मरण होने पर भी जो उन्हें अपना जानकर रोता हुआ विलाप करता है, वह स्वयं का मरण निकट आने पर उससे भी अधिक अतिशय विलाप करता है - ऐसे मूर्ख आत्मा को भय रहित मरण से प्राप्त होनेवाला प्रचुर यश और उत्कृष्ट पर-लोक कैसे प्राप्त होगा ? अर्थात् नहीं होगा। इसलिए बुद्धिमान जीवों को किसी का मरण होने पर भी किसी प्रकार का शोक नहीं करना चाहिए।

भावार्थ :- स्त्री पुत्रादि का मरण होने पर उनका अपने से सम्बन्ध प्रत्यक्ष छूट जाता है, फिर भी जो जीव मोह से उन्हें अपना मानता हुआ रोता है, विलाप करता है; वह जीव स्वयं का मरण होते समय अत्यन्त शोक अवश्य करेगा ही करेगा, क्योंकि जब एक इष्ट का वियोग होने पर शोक होता है तो स्वयं का मरण होने पर तो सभी का वियोग हो जाता है। इसलिए जिसे पुत्रादिक का वियोग होने पर शोक होता है, उसे मरण-भय से रहित समाधि-मरण नहीं होता, अतः समाधि-मरण से इस लोक में प्राप्त होनेवाला यश और पर-लोक में प्राप्त होनेवाला उत्कृष्ट पद भी उसे कैसे प्राप्त होगा ? इसलिए जो ज्ञानी पहले से ही मोह को घटाते हैं और स्त्री-पुत्रादि को अपना मानकर किसी का मरण होने पर भी शोक नहीं करते; उन्हीं को समाधि-मरण की सिद्धि होती है, जिससे उन्हें यहाँ यश की और भविष्य में स्वर्ग-मोक्षादि की प्राप्ति होती है।

शोक का कारण और फल तथा उसके अभाव की प्रेरणा

यह शोक किससे होता है और इसके कारण क्या होता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम् ।
तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात् सर्वदा सुधीः ॥१८६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इष्ट-हानि से शोक-दुःख अरु इष्ट-लाभ से राग-सुखी[1] ।
अतः हानि में शोक रहित हो सुधी सर्वदा रहो सुखी ॥१८६॥

अर्थ :- इष्ट सामग्री की हानि से शोक होता है और उस शोक से दुःख होता है। इष्ट सामग्री की प्राप्ति से राग होता है और उस राग से सुख होता है; इसलिए बुद्धिमान लोग इष्ट की हानि होने पर भी शोक रहित होते हुए सदा सुखी रहते हैं।

भावार्थ :- सभी जीव सुख चाहते हैं। सुख का घातक दुःख है और दुःख शोक से होता है तथा शोक, इष्ट सामग्री का वियोग होने पर होता है। ज्ञानी विचार करते हैं कि "मैं मोह से पर-पदार्थों को इष्ट मानता हूँ, परन्तु ये इष्ट नहीं है और कभी मेरे नहीं होते; मेरे रखने से रहते नहीं हैं, इसलिए इन पर-वस्तुओं के वियोग में शोक क्या करना ?" - ऐसा विचार करके जो इष्ट सामग्री की हानि होने पर भी शोक नहीं करते, उन्हें दुःख कैसे हो सकता है और दुःख हुए बिना सुख का अभाव नहीं होता, इसलिए वे ज्ञानी सदाकाल सुखी ही रहते हैं। अतः जो सुखी रहना चाहते हैं, वे इष्ट की हानि होने पर शोक न करें। कोई इष्ट की हानि न होने का उपाय करके सुखी होना चाहता है, परन्तु संसार में किसी न किसी सामग्री की हानि होती ही होती है, इसलिए शोक नहीं करना ही सुखी होने का उपाय है।

पर-लोक में कौन सुखी और कौन दुःखी ?

जो यहाँ सुखी होते हैं, वे पर-लोक में कैसे होते हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते ।
सुखं सकलसन्यासी दुःखं तस्य विपर्ययः ॥१८७॥

जो यहाँ[2] सुखी वह वहाँ[3] सुखी जो यहाँ दुःखी वह वहाँ दुःखी ।
सकल-त्याग में ही सुख है, विपरीत-ग्रहण में महादुःखी ॥१८७॥

अर्थ :- जो इस लोक में सुखी हैं वे पर-लोक में भी सुख पाते हैं और जो इस लोक में दुःखी हैं वे पर-लोक में भी दुःख पाते हैं। वस्तु का सर्व प्रकार

---

१. राग और सुख २. इस लोक में ३. पर-लोक में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से त्याग सुख है और इसके विपरीत परवस्तु का ग्रहण दु:ख है।

भावार्थ :- कुछ लोगों को ऐसा भ्रम होता है कि वर्तमान सुखों को छोड़कर कष्ट सहने से पर-लोक में सुख होता है, लेकिन पर-लोक तो परोक्ष है, न जाने वहाँ क्या होगा ? इसलिए यहाँ के सुखों को छोड़कर दु:ख सहना उचित नहीं है। उन्हें समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि यहाँ दु:खी होने से पर-लोक में सुख मिलेगा - ऐसा भ्रम मत करो। जो यहाँ सुखी होता है, वही पर-लोक में सुखी होता है और जो यहाँ दु:खी होता है, वह पर-लोक में भी दु:खी होता है।

प्रश्न :- शास्त्रों में तो ऐसा कहा है कि विषय-सुख भोगनेवाला दु:ख प्राप्त करता है और तपश्चरणादि कष्ट सहनेवाला सुख प्राप्त करता है, फिर आप ऐसा कैसे कहते हो ?

उत्तर :- तुम बाह्य सामग्री से सुख-दु:ख होना मानते हो, परन्तु यह तुम्हारा भ्रम है। अपने परिणामों में आकुलता नहीं होना सुख है और आकुलता होना दु:ख है। आकुलता का कारण मोह से परद्रव्यों का ग्रहण करना है, क्योंकि यह जीव परद्रव्यों को ग्रहण करता है और वे अपने होते नहीं, अपने आधीन परिणमते नहीं, इसलिए आकुलता उत्पन्न होती है। इसलिए परद्रव्यों का त्याग करके निराकुल होना ही सुख है - ऐसी दशा होने पर जीव वर्तमान में सुखी होता है और इसके फल में भविष्य में परम सुखी होता है। परद्रव्य का ग्रहण करके आकुलता करना दु:ख है - ऐसी दशा होने पर जीव वर्तमान में दु:खी होता है और भविष्य में भी इसका फल दु:ख ही है।

शास्त्रों में भी विषय-सेवन का फल दु:ख ही कहा है, अतः तृष्णा से आकुलता करके विषय-सेवन करने का फल दु:ख ही होता है। भोगभूमि के जीवों तथा इन्द्रादिक को विषय-सुख तो बहुत है, परन्तु वहाँ तृष्णा थोड़ी है इसलिए वे कुगतियों में नहीं जाते हैं और रंक आदिक को विषय-सुख नहीं मिलता, परन्तु वे तृष्णा से आकुलित होकर नरकादि में जाते हैं।

जहाँ तपश्चरणादि कष्ट का फल सुख कहा है, वहाँ जो बाह्य में तपश्चरणादि करे, परन्तु उसे अन्तरंग में संक्लेशरूप दु:ख न हो तो उसके तपश्चणादि का फल सुख कहा है। यदि तप करता हुआ दु:खी हो तो आर्त्तध्यान होने से उसका फल दु:ख ही होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार जो जीव मोह घटने से वर्तमान में सुखी होते हैं, वे ही भविष्य में सुख पाते हैं और जो मोह बढ़ने से वर्तमान में दुःखी होते हैं, वे भविष्य में भी दुःख ही पाते हैं। शास्त्रों में भी दुःख-शोकादि से असाता का बन्ध होना कहा है और असाता का उदय आने पर दुःख ही होता है। इसलिए दुःख का फल सुख है - ऐसे भ्रम से पर-लोक में सुख के उपाय से परोन्मुख मत हो।

यहाँ जो विषय-सुख छोड़ा जाता है, वह तो जैसे मिश्री मिलने पर गुड़ का स्वाद बुरा लगता है, वैसे शान्त रस का अनुभव होने पर जीव को विषय-सुख नीरस भासित होते हैं, इसलिए वह विषय-सुख भोगता नहीं है; विषय सुख छोड़ने से उसे दुःख नहीं होता, अतः विषय-सुख छोड़ने का भय मत कर। सच्चे धर्म-साधन से वर्तमान में भी सुख होता है और भविष्य में भी सुख होता है इसलिये ऐसा ही कार्य करना चाहिए।

जन्म की मरण से समानता

यहाँ कोई पूछता है कि पुत्रादि के मरण से शोक और उनकी उत्पत्ति से हर्ष होता है। इस उत्पत्ति का क्या स्वरूप है ? - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

मृत्योर्मृत्वन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम् ।
तत्र प्रमुदितान्मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिनः ॥१८८॥

एक मरण से मरणान्तर की प्राप्ति यही है जन्म सुजान ।
अतः जन्म में हर्षित हैं जो मरण-स्नेही[1] उनको जान ॥१८८॥

अर्थ :- इस संसार में देहधारी प्राणियों को एक मरण से अन्य मरण की प्राप्ति होना ही उत्पत्ति है। इसलिए जो उत्पत्ति में हर्षित होते हैं, उन्हें मैं बाद में होनेवाले मरण का पक्षपाती मानता हूँ।

भावार्थ :- लोक में पुत्रादि का जन्म होने पर हर्ष मनाते हैं और उनका मरण होने पर शोक करते हैं, परन्तु जो जन्म है, वह नवीन मरण ही है, क्योंकि आयु का नाश होना मरण है और यहाँ भी आयु प्रति समय घटती है, इसलिए संसारी जीव का सदाकाल मरण होता रहता है। पूर्व पर्याय सम्बन्धी मरण होने

१. *मरण चाहनेवाला*

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर नवीन पर्याय सम्बन्धी मरण का प्रारम्भ होना ही जन्म है। जो ऐसे जन्म में हर्ष मानते हैं, वे नवीन मरण के पक्षपाती हैं, अनुरागी हैं (अर्थात् नया मरण चाहते हैं) और जो मरण के अनुरागी हैं, उन्हें परस्पर हित-सम्बन्धी कैसे माना जा सकता है ? इसप्रकार यहाँ युक्तिपूर्वक पुत्रादि के जन्म-मरण में हर्ष-विषाद करना छुड़ाया है।

लाभ और पूजादि की कामना का निषेध

सर्व संग के त्यागी, जन्म-मरण में समान बुद्धिवाले, सर्व शास्त्रों के ज्ञाता और दुर्द्धर तप करनेवाले मुनियों को आगामी दो छन्दों में शिक्षा देते हैं :-

पृथ्वी

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो,
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम्।
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः,
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम्॥१८९॥

यदि शास्त्रों का अध्ययन करता घोर तपस्या भी चिरकाल।
उनके फल में लाभ और पूजादिक की वाञ्छायें पाल[1]॥
तप-तरु के है फूल तोड़ता होकर अरे ! विवेक विहीन।
कैसे प्राप्त करेगा रसमय पके फलों को तू मतिहीन॥१८९॥

अर्थ :- सर्व शास्त्रों को पढ़कर और चिरकाल तक घोर तप की साधना करके यदि तू उनके फलस्वरूप इस लोक में ही यश, लाभ आदि फल चाहता है, तो तू विवेक रहित अभिप्रायवाला होता हुआ तपरूपी उत्तम वृक्ष के फूल को ही छेद रहा है, अतः तुझे इस तप के उत्तम रसवाले स्वर्ग-मोक्षादि उत्तम फल कैसे मिलेंगे ?

भावार्थ :- जिसप्रकार कोई व्यक्ति वृक्ष लगाता है तो उसमें पहले फूल होते हैं, बाद में फल लगते हैं; परन्तु जो फूल को ही तोड़कर ग्रहण करले उसे पके हुए मीठे फल नहीं मिलेंगे। उसीप्रकार कोई जीव बहुत शास्त्राभ्यास करे और उत्कृष्ट तपश्चरणादि करे तो उसे पहले लाभ-पूजादि प्राप्त होते हैं, अर्थात् भक्त लोग इच्छा पूरी कर देते हैं अथवा स्वयं ही ऋद्धियाँ और चमत्कारादि होते

१. इच्छायें करना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं - यह तो लाभ हुआ और विशेष महन्तता होती है - यह पूज्यपना हुआ। इसप्रकार लाभ-पूजादि की प्राप्ति होती है और बाद में स्वर्ग-मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है। परन्तु जो जीव, लाभ-पूजादि को स्वयं चाहकर अंगीकार करते हैं अर्थात् लोभी होकर भक्तों से कुछ लेना चाहते हैं या उनके द्वारा दिए गए धनादिक को अंगीकार करते हैं अथवा ऋद्धि-चमत्कारादि को चाहते हैं और उनके होने पर सन्तुष्ट होते हैं; तथा मानी होकर स्वयं महन्तपना, बड़प्पन चाहते हैं और अपनी महन्तता, बड़ाई होने पर मद करते हैं; अतः वे जीव परम सुखरूप रस सहित प्रगट होनेवाले स्वर्ग-मोक्षरूप फल को नहीं पाते। इसलिए यह शिक्षा देते हैं कि शास्त्राभ्यास या तपश्चरणादि साधनों से लाभ-पूजादि की कामना नहीं करना चाहिए।

तप और श्रुत का वास्तविक फल

पृथ्वी

तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह लोकपंक्तिं बिना,
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः।
कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्,
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपः शास्त्रयोः॥१९०॥

करो निरन्तर श्रुताभ्यास तुम लोक प्रतिष्ठा से निरपेक्ष।
करो देह का शोषण भी धारण करके तुम काय-क्लेश॥
क्योंकि महामुनि तप अरु श्रुत का फल कहते हैं उपशम भाव।
इससे जीत सको, दुर्जय शत्रु जो विषय-कषाय विभाव॥१९०॥

अर्थ :- हे भव्य ! तू लोक की पद्धति से अलग (लौकिक जीवों में शामिल हुए बिना) ऐसा शास्त्राभ्यास कर और विस्तृत काय-क्लेश के द्वारा शरीर को भी सुखा, जिससे तू दुर्जय विषय-कषायरूपी शत्रुओं को जीत सके, क्योंकि महामुनियों ने उपशमभाव को ही शास्त्राभ्यास और तप का फल कहा है।

भावार्थ :- मात्र शास्त्र पढ़ना और तप करना ही कार्यकारी नहीं है। कार्यकारी तो उपशम भाव है। जो जीव शास्त्र पढ़कर तत्त्वज्ञान से कषायों को घटाते हैं तथा तपश्चरण द्वारा इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलने पर भी राग-द्वेष न होने की साधना करके कषाय को घटाते हैं, उनका शास्त्र पढ़ना और तप करना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सफल है। लेकिन जो जीव शास्त्र पढ़कर और तपश्चरणादि करके विषय-कषाय के साधनों की पूर्ति करते हैं अर्थात् मन रमाने के लिए या मान बड़ाई के लिए या भोजन-धनादि के लिए शास्त्र पढ़ते हैं और तप करते हैं, वे जीव तो लोक की पंक्ति में बैठे हैं (लौकिक जनों की तरह हो गए हैं)। जैसे अन्य लोग विषय-कषायों के लिए व्यापार-नौकरी आदि कार्य करते हैं, वैसे इन्होंने यह उपाय किया है।

प्रश्नः- व्यापारादि में तो हिंसादि होती है और इस उपाय में हिंसादि नहीं होती, इसलिए व्यापारादि से यह उपाय तो अच्छा है ?

उत्तरः- व्यापारादि में बाह्य पाप विशेष दिखते हैं और इस उपाय में अन्तरंग पाप बहुत होता है।

विषयाभिलाषा से अनर्थ

यहाँ कोई पूछता है कि श्रृंगार सहित लोक को देखकर जीवों विषयाभिलाषा होती है, अतः विषय-कषायों को जीतने का उपाय क्या है ? - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

वसंततिलका

दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं,
स्वल्पोऽप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम् ।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य,
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ॥१९१॥

लौकिक विषयीजन को लख क्यों करता विषयों की वाञ्छा ।
महा अनर्थ करे, यदि अल्प होय तो भी यह विषयेच्छा ॥
होती रोगी को घृतमय स्निग्धादि वस्तुयें सदा असेव्य ।
जैसा दोष उसे उपजावें अन्यों को नहिं वैसा खेद ॥१९१॥

अर्थ :- हे भव्य ! तू लोगों को श्रृंगार सहित देखकर विषयाभिलाषा क्यों करता है ? यह अल्प विषयाभिलाषा भी तुझे महा अनर्थकारी है। जैसे रोगी को दूध-दही-घी आदि का किञ्चित् भी सेवन अयोग्य आचरण है और वह उसे जैसा दोष उत्पन्न करता है वैसा और लोगों को नहीं करता (निरोगी को दोष उत्पन्न नहीं करता)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- अज्ञानी जीव श्रृंगारादि सहित लोगों को देखकर विषयों की वाञ्छा करते हैं, परन्तु तू कदाचित् मत कर, क्योंकि यह जरा-सी अभिलाषा तुझे महादु:ख का कारण है। जिसप्रकार चिकनी वस्तुओं के सेवन से रोगी का रोग बहुत बढ़ जाता है; इसलिए उसे उनका सेवन नहीं करना चाहिए उसीप्रकार विवेकियों को भी विषयाभिलाषा करना उचित नहीं है।

विषयों का दोष जानकर भी उनके सेवन में आश्चर्य

प्रत्येक जीव को दु:खदायक वस्तुओं से अरुचि होती है, इसलिए भव-भव में दु:खदायी इन विषयों की अभिलाषा करना कैसे उचित है ? - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

हिरणी

अहितविहितप्रीतिः प्रीतं कलत्रमपि स्वयं,
सकृदपकृतं श्रुत्वा सद्यो जहाति जनोऽप्ययम्।
स्वहितनिरतः साक्षाद्दोषं समीक्ष्य भवे भवे,
विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते बुधः ॥१९२॥

अहित विषय में अनुरागी भी प्रिय नारी तजता तत्काल ।
एक बार भी सुन लेता है यदि वह उसकी खोटी चाल ॥
दोष देखता विषयों के भव-भव में निज-हित-रत साक्षात् ।
तो भी विषयरूप विष-मिश्रित भोजन का क्यों लेता स्वाद ॥१९२॥

अर्थ :- जिसप्रकार कोई पुरुष अपनी अत्यधिक प्रिय स्त्री का दुराचार सुनकर उसे तत्काल स्वयं छोड़ देता है, उसीप्रकार आत्म-कल्याण में सावधान विवेकी पुरुष विष मिश्रित भोजन के समान विषयों का भव-भव में दोष देखकर इनका सेवन कैसे करेंगे ? अर्थात् बिल्कुल नहीं करेंगे।

भावार्थ :- जिसप्रकार किसी को स्त्री से अत्यधिक प्रेम हो, परन्तु यदि वह उसके दुराचरण की बात सुनता है तो उसे तत्काल छोड़ देता है, उसीप्रकार पण्डित, विवेकी, आत्मार्थी जन भव-भव में विषयों का दोष देखकर विषयानुरागी कैसे होंगे ? सर्वथा नहीं होंगे। जैसे विष-मिश्रित भोजन मीठा तो लगता है, परन्तु प्राण हर लेता है; वैसे ये विषय रमणीय लगते हैं, परन्तु अनंत

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भवों में प्राण हर लेते हैं।

आत्म-हितकारी आचरण की प्रेरणा

यह जीव विषयों का अभ्यास करते समय कैसा होता है और इनका त्याग करते समय कैसा होता है - इसका वर्णन आगामी छन्द में करते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

आत्मन्यात्मविलोपनात्मचरितैरासीर्दुरात्मा चिरं,
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः,
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना॥१९३॥

आत्म-विनाशक आचरणों से हुआ दुरात्मन् तू चिरकाल।
निज हितकारी आचरणों से उत्तमात्मा हो तत्काल॥
स्वयं साध्य परमात्मरूप होकर पाएगा केवलज्ञान।
निज से ही उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख भोगेगा तू भगवान॥१९३॥

अर्थ :- हे आत्मन! तू आत्मज्ञान को नष्ट करनेवाले विषय-कषायादि की प्रवृत्ति करके चिरकाल से दुराचारी हुआ है। जब तू आत्मा का सम्पूर्ण कल्याण करनेवाले ज्ञान-वैराग्यादि निजभावों को अंगीकार करेगा, तभी श्रेष्ठ आत्मा होगा। जिसे आत्मा ही प्राप्त कर सकता है - ऐसी परमात्मदशा को प्राप्त करते हुए, केवलज्ञान स्वरूप होकर, अपने से उत्पन्न आत्मसुख से शोभायमान होकर, तू अपने शुद्धात्मभावों से अध्यात्म स्वरूप में विराजमान हो जाएगा।

भावार्थ :- जब तक तू बहिरात्मा है, तब तक विषय-कषायों के सेवन से दुराचारी है तथा जब सकल कल्याणरूप ज्ञान-वैराग्यादि का आचरण करेगा, तब अन्तरात्मा होकर परमात्मा पद प्राप्त करेगा और केवलज्ञानरूप होकर अनन्त सुख में निश्चल होकर बैठेगा।

बाह्य तप करने की प्रेरणा

इस जीव को सदा से दुःख का कारण शरीर है इसलिए उसका अभाव करने लिए शास्त्रोक्त विधि से प्रयत्न करना चाहिए - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं:-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पृथ्वी

अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवद्वाहित-
स्ततोऽनशनसाभिभक्तरसवर्जनादिक्रमैः।
क्रमेण विलयावधि स्थिरतपोविशेषैरिदं
कदर्थय शरीरकं रिपुमिवाद्य हस्तागतम्॥१९४॥

इस शरीर ने बहुत भ्रमाया दास समान तुझे चिरकाल।
अब तुम अनशन ऊनोदर रस-त्याग विधि धारो तत्काल॥
तप विशेष तुम करो निरन्तर आयु कर्म का हो अवसान।
करो देह को क्षीण आज तुम हुए हस्तगत शत्रु समान॥१९४॥

अर्थ :- हे जीव ! इस शरीर ने तुझे इस जगत में अनन्त काल दास के समान भ्रमण कराया है, इसलिए जैसे कोई हाथ में आए शत्रु को क्षीण करता है, वैसे तू अब उपवास, अल्प-आहार तथा रस-परित्यागादि विधिरूप अनेक प्रकार के तपों के द्वारा अनुक्रम से इसे निरन्तर मरण पर्यन्त क्षीण कर।

भावार्थ :- इस शरीर ने तुझे अनन्त काल तक गुलाम जैसा बनाकर भव-भव में भटकाया और तूने इसके सम्बन्ध से अनन्त दुःख पाए हैं। इसलिए जैसे कोई पकड़ में आए शत्रु को क्षीण करता है, वैसे तू अनेक प्रकार के तप करके इस शरीर को क्षीण कर।

शरीर ही अनर्थों की परम्परा का कारण है

इस संसार में जो कुछ भी अनर्थों की परम्परा है, उसका मूल कारण यह शरीर है; इसलिए शास्त्रोक्त विधि से तप करके इसे क्षीण कर ! - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

वसन्ततिलका

आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि,
काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मानं।
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्युः,
मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥१९५॥

प्रथम देह का जन्म, देह-थित दुष्ट इन्द्रियाँ चाहें अर्थ[१]।
उनसे भय अपमान कुगति, यह तन परम्परा मूल अनर्थ॥१९५॥

---

१ इन्द्रियों के विषय भूत पदार्थ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- सर्व प्रथम जैसे ही इस शरीर की उत्पत्ति होती है तो उसके साथ उत्पन्न ये दुष्ट इन्द्रियाँ विषयों को चाहती हैं। वे विषय मान-प्रतिष्ठा की हानि करते हैं और महाक्लेश के कारण बनते हैं तथा भय और पाप को उत्पन्न करनेवाले हैं, नरक-निगोदादि कुगतियों में ले जाते हैं; इसलिए यह शरीर ही अनर्थ-परम्परा का मूल कारण है।

भावार्थ :- संसार दशा में यह जीव पूर्व शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करता है। इस शरीर में (शरीर के ही अंगरूप) ये दुष्ट इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को चाहती हैं। ये विषय अपमान के कारण हैं; कष्टदायक हैं, भयोत्पादक हैं, पाप उत्पन्न करते हैं और कुगतियों में ले जाते हैं। इसलिए इस शरीर को अनर्थ-परम्परा का मूल कारण जानना चाहिए।

अज्ञानियों द्वारा शरीर-पोषण का प्रयोजन

अज्ञानी जीव इस शरीर का पोषण करके क्या करते हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि ।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितुम् ॥१९६॥

तन को पुष्ट करें अज्ञानी विषयों का सेवन करते ।
कुछ भी दुष्कर इन्हें नहीं विष से जीवन आशा रखते ॥१९६॥

अर्थ :- अहो ! मूर्ख जीव क्या-क्या नहीं करता ? शरीर का पोषण करता है और विषयों का सेवन करता है। मूर्खों को कुछ विवेक नहीं है, वे विष से जीना चाहते हैं। अविवेकियों को पाप का भय नहीं है और विचार नहीं है, वे बिना विचारे न करने योग्य कार्य करते हैं।

भावार्थ :- जो पण्डित अर्थात् विवेकी हैं, वे शरीर से अधिक प्रेम नहीं करते, अनेक प्रकार की सामग्री से इसका पोषण नहीं करते। विषयों का सेवन नहीं करते और अकार्य से डरते हैं। मूढ़ लोग शरीर का अधिक पोषण करते हैं, विषयों का सेवन करते हैं और अयोग्य कार्य करने में शंका नहीं करते। जो विषयों का सेवन करते हैं, वे विष खाकर जीना चाहते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कलि-काल में तपस्वियों की कष्टकारक वृत्ति

शरीर को तप आदि से कष्ट पहुँचाते हुए भी मुनि कलि-काल के दोष से पर्वत की गुफा आदि काय-क्लेश के स्थानों छोड़कर गाँव के समीप आकर बसते हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः ।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥१९७॥

वन में इधर-उधर भ्रम कर फिर निकट ग्राम के बसें अहो !
रात्रि काल में मृग समान, तपसी कलि में हा कष्ट अहो ॥१९७॥

अर्थ :- जैसे मृग दिन के समय वन में भ्रमण करके रात्रि के समय सिंहादिक के भय से वन छोड़कर, गाँव के समीप आकर रहते हैं; वैसे कलि-काल में मुनि भी दिन के समय वन में निवास कर रात्रि के समय गाँव के समीप आ जाते हैं । सो हाय ! हाय !! यह बड़ा कष्ट है । मुनि तो महानिर्भय होते हैं, वे मृगों के समान गाँव के समीप आकर कैसे बसते हैं ?

भावार्थ :- मृगों का स्वभाव है कि वे दिन के समय वन में विचरण करते हैं और रात्रि के समय गाँव के निकट आकर बसते हैं । इसीप्रकार इस दुःखम पञ्चम काल में मुनि भी रात्रि के समय गाँव के समीप निवास करते हैं - यह बड़ा दोष है । मुनियों को गिरि-शिखर, गुफा, विषम वन, नदी-तट इत्यादि निर्जन स्थानों में ही रहना योग्य है ।

..... इससे तो गृहस्थ अवस्था ही श्रेष्ठ है

तप करके भी जो इन्द्रियों के वशीभूत हो रहे हैं, उनसे तो गृहस्थ अवस्था ही श्रेष्ठ है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः ।
श्वः स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसंपदः ॥१९८॥

आज किया तप कल लुट जाए, नारी नेत्र-कटाक्षों से ।
हो विलुप्त वैराग्य, श्रेष्ठ गृह, जन्म विवर्धक[1] इस तप से ॥१९८॥

---

१. जन्म को बढ़ानेवाला

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- इस जगत में स्त्रियों के कटाक्षरूप लुटेरों से अपनी वैराग्य-सम्पदा लुटाकर दीन होनेवाले और संसार के कारणभूत - ऐसे तप से गृहस्थपना ही श्रेष्ठ है।

भावार्थ :- गृहस्थ अवस्था में स्व-स्त्री का सेवन तो होता ही है, परन्तु जिनकी तपरूपी सम्पदा नगर की स्त्रियों के कटाक्षरूपी लुटेरों ने लूट ली है - ऐसे तपस्वियों के तप से गृहस्थ अवस्था को ही श्रेष्ठ जानना चाहिए, क्योंकि ऐसा तप संसार का ही कारण है।

शरीर और स्त्री से राग छोड़ने की प्रेरणा

इस शरीर के कारण तू स्त्री का अनुरागी होकर दुःखी होता है, परन्तु यह शरीर तेरे साथ एक कदम भी नहीं जाता इसलिए तू शरीरादि से स्नेह छोड़ - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

मंदाक्रांता

स्वार्थभ्रंशं त्वमविगणयंस्त्यक्तलज्जाभिमानः,
संप्राप्तोऽस्मिन् परिभवशतैर्दुःखमेतत् कलत्रम्।
नान्वेति त्वां पदमपि पदाद्विप्रलब्धोऽसि भूयः,
सख्यं साधौ यदि हि मतिमान् मा ग्रहीर्विग्रहेण ॥१९९॥

आत्म-प्रयोजन से वञ्चित हो त्यागी लज्जा अरु अभिमान।
भव-भव में दुःख पाये हैं नारी के कारण तूने जान ॥
यह तन अरु नारी जायें नहिं एक कदम भी तेरे साथ।
बुद्धिमान ! मत करो मित्रता इस तन अरु नारी के साथ ॥१९९॥

अर्थ :- हे भव्य जीव ! तू इस शरीर के होते हुए अपना प्रयोजन अर्थात् शुद्धोपयोगरूप आत्मकल्याण अथवा पञ्च महाव्रतरूप मुनिधर्म और अणुव्रतरूप श्रावक धर्म के नाश की चिन्ता न करते हुए अनेक अपमानों को सहन करके स्त्री के संयोग को प्राप्त हुआ। इस स्त्री का सम्बन्ध ही तुझे महादुःख का कारण है। अरे ! तूने लज्जा और अभिमान को छोड़ दिया है। यहाँ अभिमान का अर्थ गर्व नहीं है, बल्कि याचना वृत्ति का त्याग है, अर्थात् तू स्त्री के संग से निर्लज्ज और याचक हो गया है, इसके समान दीनता अन्य नहीं है।

हे जीव ! तूने तो शरीर के लिए अपना अर्थ (प्रयोजन) खोया और यह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तेरे साथ एक कदम भी नहीं जाता, अतः तू इससे बारम्बार प्रीति करके क्यों ठगा रहा है ? इसलिए अब हम तुझसे कहते हैं कि यदि तू बुद्धिमान है तो शरीर से प्रीति मत कर।

भावार्थ :- तू तो अनेक प्रकार से शरीर का पोषण करता है और इसके संग से स्त्री का अनुरागी होकर निर्लज्ज और दीन हो रहा है, लेकिन यह शरीर तेरे साथ एक कदम भी नहीं जाता। इसलिए हे भव्य ! तू इस देह से स्नेह छोड़ और देह के निमित्त से होनेवाले सम्बन्धी स्त्री-पुत्रादि से प्रीति छोड़ !!

दो द्रव्यों में एकत्व होना असम्भव

परस्पर मिलाप होने पर भी मूर्तिक पदार्थों की भिन्नता नहीं मिटती, क्योंकि किसी का लक्षण किसी से नहीं मिलता, तो फिर मूर्तिक और अमूर्तिक एक कैसे होंगे ? तुझे इसकी प्रतीति नहीं होती - यह बड़ी भूल है। - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शिखरणी

न कोऽप्यन्योऽन्येन व्रजति समवायं गुणवता,
गुणी केनापि त्वं समुपगतवान् रूपिभिरमा।
न ते रूपं ते यानुपव्रजसि तेषां गतमतिः,
ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि बहुदुःखे भववने ॥२००॥

कोई द्रव्य भी अन्य द्रव्य से प्राप्त नहीं करता एकत्व।
किसी कर्म-वश देहादिक रूपी से तू कर रहा ममत्व ॥
यह तन तेरा रूप नहीं है तू इसमें आसक्तमति।
अतः हुआ तू भव-वन में छेदन-भेदन से बहुत दुःखी ॥२००॥

अर्थ :- यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कोई गुणी अर्थात् द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं होता, फिर भी तू कर्मोदय के योगवश रूपी पदार्थों में ममत्व करता है। तू जिन शरीरादि पदार्थों में आसक्त होकर उनमें एकत्वबुद्धि कर रहा है, वे पुद्गल हैं; वे तुझरूप नहीं होते और तू निर्बुद्धि होता हुआ व्यर्थ ही एकत्व मानता है। इस अभेद बुद्धि से उनमें आसक्त होकर तू भव-वन में बहुत दुःखी होगा, छेदा जाएगा, भेदा जाएगा, भव-भव में दुःख भोगेगा; इसलिए देहादिक से स्नेह छोड़ !

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- रूपी पदार्थ के सब परमाणु भी भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि वे मिल कर बन्ध रूप हो जाते हैं, तथापि न्यारे-न्यारे रहते हैं, परन्तु तू तो अमूर्तिक पदार्थ है, ये तुझसे कैसे मिलेंगे ? इसलिए इनसे राग छोड़ !

शरीर से ममत्व और सुख की आशा रखना आश्चर्यजनक है

जब शरीर का स्वरूप पहले कहे अनुसार है तो उसमें ममत्व बुद्धि करके आशा क्यों करना - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ।
प्रान्ते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके ॥२०१॥

उत्पत्ति है माता, मरण पिता, हैं भाई आधि-व्याधि ।
अन्त काल में जरा मित्र है तो भी आशा इस तन की ॥२०१॥

अर्थ :- इस शरीर की उत्पत्ति तो इसकी माता है और मरण इसका पिता है, आधि अर्थात् मन की चिन्तायें और व्याधि अर्थात् वायु-पित्त-कफ आदि रोग ही इसके भाई हैं और अन्त में बुढ़ापा इसका मित्र है। शरीर का ऐसा स्वरूप होने पर भी तू इससे आशा करता है - यह बड़े आश्चर्य की बात है।

भावार्थ :- शरीर तो जन्म-मरण, आधि-व्याधि और जरा स्वरूप है, तथा तू अजर-अमर, अनादि-निधन, अखण्ड, अव्याबाध स्वरूप है। अतः तेरा और इसका क्या सम्बन्ध है ? (इसलिए इस शरीर से राग छोड़ना चाहिए)।

शरीर को धिक्कार है

तू शुद्ध-बुद्ध स्वरूप है, फिर भी शरीर के कारण अशुद्ध हो रहा है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

वसन्ततिलका

शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमोऽप्यमूर्तोऽ,
प्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोऽसि।
मूर्तं सदाऽशुचि विचेतनमन्यदत्र,
किं वा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥२०२॥

शुद्ध अमूर्तिक स्व-पर प्रकाशक, अशुचि किया जड़ ने चेतन ।
किसको मलिन करें नहि मूर्तिक अशुचि अचेतन धिक् धिक् तन ॥२०२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- हे चिदानन्द ! तू तो शुद्ध अर्थात् निर्मल है। समस्त निज-पर का ज्ञाता है और अमूर्तिक है, तो भी इस जड़ (शरीर) ने तुझे अपवित्र कर दिया है। यह शरीर मूर्तिक है, अचेतन है, सदा अशुचि है तथा संसार की केशर-कपूर आदि सुगन्धित वस्तुओं को भी दुर्गन्धित करनेवाला है, इसलिए इस शरीर को धिक्कार है, धिक्कार है।

भावार्थ :- केशर-कपूर आदि सुगन्धित पदार्थ भी इस शरीर के सम्बन्ध से दुर्गन्धित हो जाते हैं। इसके सम्बन्ध से तू भी महादु:खी हुआ और तूने चारों गतियों के दु:ख भोगे। तथा इस अशुचि अपवित्र देह को धारण करके तू भी अशुचि कहलाया, इसलिए इससे प्रेम छोड़। अरे ! इस शरीर को धिक्कार है, जिसके प्रसंग से तू संसार-वन में भ्रमण कर रहा है।

सच्चे ज्ञान और सच्चे साहस का स्वरूप

हे जीव ! तू इस शरीर के साथ अनुराग बुद्धि से नष्ट हो रहा है और उसके कारण तू निन्द्य शरीर को अनिन्द्य जानता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

हा हतोऽसि तरां जन्तो येनास्मिंस्तव सांप्रतम्।
ज्ञानं कायाशुचिज्ञानं तत्त्यागः किल साहसम् ॥२०३॥

हाय ! हाय !! तू नष्ट हुआ इस तन से करके अतिशय राग।
ज्ञान यही - 'तन अशुचि जानना' साहस है - 'इस तन का त्याग'॥२०३॥

अर्थ :- हाय ! हाय !! हे प्राणी ! तू अत्यन्त ठगाया, नष्ट हुआ, शरीर के ममत्व से अति दु:खी हुआ। अरे ! काया को अशुचि जानना ही ज्ञान है और इसे पवित्र जानना ही अज्ञान है। शरीर का ममत्व छोड़ना, निरादर करके उसका त्याग करना - यही बड़े साहस की बात है।

भावार्थ :- हे जीव ! तूने अनादि काल से अपने स्वरूप को नहीं जाना। पर को अपना मान कर नष्ट हुआ। यह शरीर अशुचि है और तू महा पवित्र है। तेरा और इसका क्या सम्बन्ध है ? इसलिए देह से स्नेह छोड़कर निर्मम हो जा, जिससे पुन: शरीर धारण न करना पड़े।

रोग होने पर ज्ञानियों की परिणति

यद्यपि साधु को शरीर से ममत्व नहीं होता, तथापि प्रबल रोग आने पर उनके चित्त में व्याकुलता होती होगी - इसका समाधान आगामी दो छन्दों में करते हैं :-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुष्टुप्

अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न मुनिः खेदमृच्छति ।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः प्रवृद्धेऽपि नदीजले ॥२०४॥

वसंततिलका

जातामयः प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा,
नो चेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात् ।
लग्नाग्निमावसति वह्निमपोह्य गेहं,
निर्याय वा व्रजति तत्र सुधीः किमास्ते ॥२०५॥

रोगादिक बढ़ने पर भी यति किञ्चित् खेद नहीं करते ।
बढ़े नदी में नीर नॉव में बैठे नर न क्षुभित होते ॥२०४॥

रोगोत्पत्ति हो तो उसका कर प्रतिकार बसो तन में ।
यदि असाध्य हो तो द्वितीय गति[1] तन का त्याग करो मन में[2] ॥
घर जलता तो आग बुझाकर प्राणी उसमें रहते हैं ।
किन्तु बुझाना हो अशक्य तो बुधजन घर को तजते हैं ॥२०५॥

अर्थ :- रोगादि की वृद्धि होने पर भी मुनि खेद नहीं करते । जैसे नदी का जल बढ़ने पर भी मजबूत नाव में बैठे हुए व्यक्ति को क्या चिन्ता है ? वैसे ज्ञानी मुनि को भी रोगादि की वृद्धि होने पर भी क्या विकल्प करना ?

इसीप्रकार अणुव्रती श्रावक को यदि कोई रोग उत्पन्न हो तो वे निर्दोष औषधि लेकर उसे शान्त करके शरीर में रहते हैं और यदि प्रबल रोग शान्त होता न जानें तो अनशन वृत्ति धारण करके शरीर को छोड़ देते हैं - ये दो ही विकल्प हैं । जिसप्रकार घर में आग लगने पर बुद्धिमान व्यक्ति उसे बुझाकर घर में रहते हैं, परन्तु यदि आग बुझती न जानें तो वे घर छोड़कर दूर हो जाते हैं; उसीप्रकार ज्ञानी शरीर की स्थिति रहने की सम्भावना जानें तो योग्य औषधि आदि से रोग की निवृत्ति करते हैं, परन्तु यदि शरीर की स्थिति नहीं रहेगी - ऐसा जानें तो उससे निर्मम होकर उसका त्याग कर देते हैं ।

भावार्थ :- श्रावकों के सामने दो रास्ते हैं । वे पवित्र औषधि आदि का सेवन करते भी हैं और नहीं भी करते; लेकिन साधु इच्छा पूर्वक तो औषधि का

१. दूसरा उपाय २. शरीर के प्रति राग छोड़ो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सेवन नहीं करते, परन्तु यदि श्रावक निर्दोष औषधि-आहारादि दें तो निस्पृह भाव से लेते हैं, राग भाव नहीं करते।

रोग मिटने से सुख मानना अज्ञान है

यदि औषधि आदि से रोग न मिटे तो ज्ञानियों को शरीर नष्ट होने का भय नहीं करना चाहिए, क्योंकि मरण भय अज्ञानियों को होता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

शिरःस्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ॥२०६॥

जैसे शिर का भार रखें कन्धे पर यत्न सहित प्राणी ।
किन्तु भार तो रहा देह पर, सुखी मानते अज्ञानी ॥२०६॥

अर्थ :- जैसे कोई सिर का बोझ उतारकर कन्धे पर रखने में सुख मानता है, वैसे जगत के जीव रोग का भार उतारकर शरीर के भार में सुख मानते हैं।

भावार्थ :- जगत के जीव रोग नष्ट होने पर शरीर के रहने में सुख मानते हैं, परन्तु ज्ञानी जीव शरीर के सम्बन्ध को ही रोग मानते हैं; इसलिए उन्हें शरीर जाने का दुःख नहीं होता। जैसे सिर का भार है, वैसे ही कन्धे का भार है; इसीप्रकार जैसे रोग का दुःख है, वैसे ही शरीर धारण करने का दुःख है।

असाध्य रोग होने पर शरीर से उदास होने की प्रेरणा

उपरोक्त अर्थ को पुनः आगामी छन्द में दृढ़ करते हैं :-

अनुष्टुप्

यावदस्ति प्रतीकारस्तावत् कुर्यात्प्रतिक्रियाम्।
तथाप्यनुपशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया ॥२०७॥

रोग शान्त हो सकता हो तो करना तुम उसका प्रतिकार ।
यदि न मिटे तो रहो निराकुल - यह उसका सच्चा प्रतिकार ॥२०७॥

अर्थ :- जब तक रोग शान्त होने की सम्भावना हो तब तक योग्य औषधि आदि का ग्रहण करो तो करो, परन्तु यदि रोग न मिटे तो विकल्प (खेद) नहीं करना चाहिए। शरीर से उदास रहकर निर्विकल्प रहने में ही बड़ा पुरुषार्थ है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- जब तक शरीर की स्थिति है, तब तक वह अवश्य रहता ही है और स्थिति पूरी होने पर वह कदापि नहीं रहता; इसलिए हर्ष-शोक करना उचित नहीं है।

शरीर का ग्रहण जन्म का और त्याग मुक्ति का कारण है

यहाँ शिष्य पूछता है कि शरीर से उदासीनता कैसे करें ? - इस प्रश्न का उत्तर आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

यदादाय भवेज्जन्मी त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति।
शरीरमेव तत्त्याज्यं किं शेषैः क्षुद्रकल्पनैः ॥२०८॥

जिसका ग्रहण जन्म का कारण, त्याग मुक्ति कारण जिसका।
वह शरीर ही त्याज्य कहा है, क्षुद्र विचारों से फिर क्या ? ॥२०८॥

अर्थ :- यह संसारी जीव तैजस और कार्माण - इन दो मूल शरीरों के योग से नए-नए शरीर धारण करता हुआ भ्रमण करता है। मनुष्य और तिर्यञ्च होने पर औदारिक शरीर धारण करता है तथा देव और नारकी होने पर वैक्रियिक शरीर धारण करता है। जब तैजस और कार्माण शरीर का अभाव करके औदारिकादि शरीर धारण नहीं करता, तभी मुक्ति होती है; क्योंकि शरीर धारण करना ही संसार है, इसलिए शरीर का सम्बन्ध त्याज्य ही है। अन्य क्षुद्र विकल्पों से क्या प्रयोजन ?

भावार्थ :- शरीर के धारक संसारी हैं और अशरीरी सिद्ध हैं; इसलिए शरीर से ममत्व छोड़ना चाहिए।

शरीर के कारण जीव भी अस्पृश्य

यह जीव तो शरीर का उपकार करता है, परन्तु शरीर इससे प्रतिकूल है; इसलिए शरीर का ममत्व छोड़ना चाहिए- यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

नयेत्सर्वाशुचिप्रायः शरीरमपि पूज्यताम् ।
सोऽप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत् ॥२०९॥

महामलिन तन फिर भी चेतन इसे दिलाता है पद पूज्य।
धिक् है दुष्चरित्र इस तन का चेतन को करता अस्पृश्य ॥२०९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- यह आत्मा समस्त अशुचिता के मूल - इस शरीर को पूज्य पद प्राप्त कराता है, और शरीर आत्मा को चाण्डालादि में जन्म करा कर आत्मा को अस्पृश्य बनाता है, इसलिए इस शरीर के दुराचार को धिक्कार है। आत्मा तो इस मलिन शरीर का उपकार करता है। मुनिपद धारण कर इसे देवों और मनुष्यों में पूज्य बनाता है और शरीर पाप उत्पन्न करके जीव को कुयोनि में डालकर ऐसा बना देता है कि उसे कोई छूता भी नहीं है, इसलिए इस शरीर को धिक्कार है।

भावार्थ :- आत्मा तो शरीर को संयमादि द्वारा पूज्य करता है और शरीर अज्ञान दशा में जीव को नरक, निगोद, तिर्यञ्च तथा कुमनुष्य आदि में जन्म कराके अस्पृश्य कराता है, परन्तु इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि जो भला होता है, वह भला ही करता है और जो बुरा होता है, वह बुरा ही करता है।

शरीर के तीन प्रकार

संसारी जीव शरीर आदि तीन प्रकार के भागों को धारण करता है - यह बात आगामी दो छन्दों में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

रसादिराद्यो भागः स्याज्ज्ञानावृत्यादिरन्वतः ।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु संसार्येवं त्रयात्मकः ॥२१०॥

भागत्रयमयं नित्यमात्मानं बन्धवर्तिनम् ।
भागद्वयात् पृथक् कर्तुं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥२११॥

प्रथम भाग रस आदि रूप तन दूजा ज्ञानावरणादिक भाग ।
ज्ञानादिक गुण भाग तीसरा, संसारी के तीन प्रभाग ॥२१०॥

भाग-त्रयमय कर्म-बन्धमय नित्य त्रिकाली आतम को ।
वही तत्त्वज्ञानी है द्वय भागों[१] से भिन्न जानता जो ॥२११॥

अर्थ :- सर्वप्रथम भाग सप्त धातुमय शरीर है, उसके बाद दूसरा भाग ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म और तीसरा भाग ज्ञानादि निजभाव - इसप्रकार संसारी जीव तीन प्रकार के भागों को धारण करते हैं। अर्थात् संसारी जीव तीन भाग

१. *प्रथम भाग शरीर और द्वितीय भाग ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सहित हैं। जो इनमें दो भागरूप शरीर और कर्मों से जीव को भिन्न करने की विधि जानते हैं, वे ही तत्त्वज्ञानी हैं।

भावार्थ :- जो शरीर और उसके मूल कारण कर्मों से जीव को भिन्न जानकर अपने ज्ञानादि भावों में रमते हैं वे ही तत्त्वज्ञानी हैं तथा जो परपदार्थों में रमण करते हैं, वे अज्ञानी हैं।

कषाय-शत्रु को जीतना आसान

तपश्चरण से ही शरीर और कर्मों से आत्मा को भिन्न किया जा सकता है, परन्तु तप करना तो बहुत कठिन है - इस शंका का समाधान आगामी छन्द में करते हैं :-

अनुष्टुप्

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान् ।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता ॥२१२॥

घोर तपस्या नहीं करे यदि कष्ट सहन असमर्थ सुजान ।
चित्त-साध्य[१] इन रिपु-कषाय को, नहीं जीतता तो अज्ञान ॥२१२॥

अर्थ :- यदि तू काय-क्लेश सहन करने में असमर्थ होने से चिरकाल तक घोर तप नहीं कर सकता तो जो मन के द्वारा ही जीते जाते हैं - ऐसे क्रोध-मान-माया-लोभ आदि शत्रुओं को तो जीत ! यदि इन्हें भी नहीं जीतता तो यह बड़ी अज्ञानता है, क्योंकि कषाय जीतने में तो कोई काय-क्लेश नहीं है, इसमें तो मन ही सुलटना है।

भावार्थ :- तू शरीर के क्लेश के कारण तप को कठिन जानता है, अतः यदि घोर तप न कर सके तो मन को वश में करके कषायों को ही क्षीण कर। कषाय जीतने में काय-क्लेश नहीं है, मन ही कारण है (अर्थात् मन को ही जीतना है)। ये कषाय जीव के शत्रु हैं।

कषायों के रहते हुए गुणों की प्राप्ति होना दुर्लभ

जब तक कषायों को नहीं जीतते तब तक मुक्ति के कारणभूत उत्तम क्षमादि गुणों की प्राप्ति अति दुर्लभ है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

---

१. *मन द्वारा जीतने योग्य*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

मालिनी

हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे,
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात् ।
श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं,
सयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ॥२१३॥

जब तक शुद्ध अगाध हृदय-सर में कषाय जलचर का वास ।
तब तक गुण न प्रवेश करें शम-दम से जय का करो प्रयास ॥२१३॥

अर्थ :- जब तक तेरे निर्मल हृदयरूपी अगाध सरोवर में निश्चय से कषायरूपी जलचरों के समूह का निवास है, तब तक उसमें गुणों का समूह निःशंक होकर प्रवेश नहीं कर सकता; इसीलिए शम-दम-यम के भेदों से कषायों को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। शम अर्थात् रागादि के त्यागरूप समता भाव, दम अर्थात् मन और इन्द्रियों का निरोध तथा यम अर्थात् जीव-हिंसा आदि का त्याग।

भावार्थ :- जब तक तेरे हृदय में कषायें विद्यमान हैं तब तक तू शम-दम आदि गुणों को लेशमात्र भी अंगीकार नहीं कर सकता, इसलिए अपना कल्याण करने के लिए कषायों को छोड़।

कषायों के आधीन होनेवालों का उपहास

कषायों का जीतना ही मोक्ष का कारण है - ऐसा निरूपित करते हुए भी जो कषायों के आधीन हो रहे हैं - आगामी छन्द में उनके प्रति हास्य करते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

हित्वा हेतुफले किलात्र सुधियस्तां सिद्धिमामुत्रिकीं,
वाञ्छन्तः स्वयमेव साधनतया शंसन्ति शान्तं मनः।
तेषामाखुबिडालिकेति तदिदं धिग्धिक् कलेः प्राभवं,
येनैतेऽपि फलद्वयप्रलयनाद् दूरं विपर्यासिताः ॥२१४॥

हेतु[1] और फल[2] को विघात, पर-लोक-सिद्धि चाहें विद्वान ।
करें प्रशंसा, साधनरूप स्वयं मन को कहते यह शान्त ॥
धिक् धिक् उनका कार्य, विरोधी बिल्ली अरु चूहे जैसा ।
कलि प्रभाव से गए ठगाए नष्ट हुआ फल द्वय[3] उनका ॥२१४॥

---

१. परिग्रह त्याग २. मन की शान्ति ३. इस लोक और पर-लोक में प्राप्त होनेवाला फल

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- कुछ तथाकथित (कहने मात्र के) बुद्धिमान लोग अपरिग्रहत्वादि कारणों को और मन की शान्तिरूप फल को छोड़कर पर-लोक की सिद्धि चाहते हैं और स्वयं ही अपने मन से अपनी प्रशंसा करते हैं और कषायों के वश में होते हुए अपने को शान्त-चित्त मानते हैं; परन्तु इसमें बड़ा विरोध है। क्रोधादि कषायों और उपशान्तादि गुणों में बिल्ली और चूहे के समान अनादि का परस्पर बैर है। इस कलि-काल के प्रभाव को बारम्बार धिक्कार है, जिसके प्रभाव से बुद्धिमान लोग भी इस लोक और पर-लोक के फल को नष्ट करके ठगाए जाते हैं।

भावार्थ :- जो कषाय छोड़े बिना अपने को शान्त-चित्त कहलाते हैं, वे व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा करते हैं। कषाय और शान्ति में परस्पर विरोध है। जो बुद्धिमान कहलाते हुए भी आत्म-कल्याण नहीं करते, वे अपने दोनों जन्म बिगाड़ते हैं; वे अत्यन्त ठगाए हुऐ हैं।

साधर्मियों के प्रति ईर्ष्या के त्याग की प्रेरणा

यदि तू महान तप और ज्ञान सहित है और कषायों को जीतनेवाला है तो लेशमात्र भी अहंकार मत कर, अहंकार को मूल से ही उखाड़ दे - ऐसी शिक्षा श्री गुरु शिष्य को आगामी छन्द में देते हैं :-

स्रग्धरा

उद्युक्तस्त्वं तपस्यस्यधिकमभिभवं त्वामगच्छन् कषायाः,
प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किं तु दुर्लक्ष्यमन्यैः।
निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग् निम्नदेशेष्ववश्यं,
मात्सर्यं ते स्वतुल्ये भवति परवशाद् दुर्जयं तज्जहीहि ॥२१५॥

तप करने को हुआ उद्यमी किया कषायों का अपमान।
हुआ विशाल ज्ञान जलनिधि सम अल्प दोष से रहा अजान॥
यदि प्रवाह जल सूखे तो भी रहे अल्प जल गूढ़ अहो!
कर्मवशात् स्वतुल्य जनों में दुर्जन यह मात्सर्य तजो ॥२१५॥

अर्थ :- तू तप का उद्यम कर रहा है, कषायें तेरे द्वारा अति अपमानित हुई हैं (अर्थात् तूने कषायों को जीत लिया है) और तुझमें समुद्र में भरे हुए अगाध जल के समान अगाध ज्ञान भरा है; फिर भी हम तुझे शिक्षा देते हैं। इस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बात को अन्य लोग नहीं जानते। इस दोष को बहुत कम लोग छोड़ पाते हैं। जिसप्रकार जल के प्रवाह में थोड़ा जल निश्चितरूप से भूमि के अन्दर छिपा रहता है, इसलिए लोगों को नहीं दिखता; उसीप्रकार कर्मोदय वशात् अपने से बराबरीवालों के प्रति अदेखसका अर्थात् दूसरे को नहीं देख सकता - ऐसा ईष्या भाव होता है, जिसे शास्त्र में मात्सर्य कहते हैं। इसे जीतना अत्यन्त कठिन है, इसलिए तू इसे छोड़।

भावार्थ :- यदि तू तपस्वी है, मंदकषायी है, गंभीर चित्त है तो मत्सर अर्थात् अदेखसका भाव छोड़। अपने बराबरीवालों से और अपने से अधिक लोगों से ईर्ष्या मत कर। यह बहुत बड़ा दोष है, इसे तू सर्वथा छोड़।

प्रश्न :- इन कषायों से जीव को क्या नुकसान है ?

उत्तर :- काम क्रोधादि का उदय होना ही जीव की हानि है।

क्रोध से होनेवाली हानि

आगामी छन्द में इस बात को दृढ़ करते हुए क्रोध के उदय से होनेवाली हानि बताते हैं :-

वसंततिलका

चित्तस्थमप्यनवबुद्धय हरेण जाड्यात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुध्या।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ॥२१६॥

मन में बैठा कामदेव, हर[1] ने नहिं जाना हो क्रोधान्ध।
बाह्य वस्तु को जला दिया है भ्रम से उसे समझकर काम ॥
उसी कामकृत घोर दुरावस्था को फिर वह प्राप्त हुआ।
क्रोधोदय से जग में किसके नहीं कार्य का ह्रास हुआ ॥२१६॥

अर्थ :- देखो ! काम तो मन में उत्पन्न होता है, बाहर नहीं; परन्तु कोई किसी बाह्य वस्तु को काम समझकर उसे क्रोध से भस्म कर दे तो काम तो नहीं मरा और वह स्वयं काम के योग से सरागी हुआ और काम की घोर वेदना सही। अतः क्रोध के उदय से किसका काम नहीं बिगड़ता ?

---

१. शंकर (यहाँ अन्य मत में प्रसिद्ध, महादेव द्वारा काम को भस्म किये जाने की घटना के माध्यम से क्रोध की निरर्थकता बताई है)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- क्रोध के उदय से सभी कार्य बिगड़ जाते हैं। किसी ने किसी अन्य बाह्य पदार्थ को काम समझकर भस्म कर दिया, परन्तु काम तो नहीं मरा और वह क्रोधी काम से ही पीड़ित होता रहा।

मान से होने वाली हानि

अब मान से होनेवाली हानि का वर्णन आगामी छन्द में करते हैं :-

वसंततिलका

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत् प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुञ्चेत् ।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति ।।२१७।।

दक्षिण भुज[1] थित चक्र छोड़कर, तप के द्वारा मुक्त हुए ।
अल्प मान करता महती क्षति बाहुबली चिर क्लिष्ट हुए ।।२१७।।

अर्थ :- देखो ! बाहुबली ने अपने दाहिने हाथ में आए हुए चक्र को छोड़कर जिन-दीक्षा धारण की और तप करके संसार अवस्था से मुक्ति प्राप्त की, परन्तु कुछ संज्वलन मान का उदय शेष रहा जिससे उन्हें एक वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ। उन्होंने महा काय-क्लेश किया तो भी मान नष्ट हुए बिना मुक्त नहीं हुए। यह तुच्छ मात्र मान भी बहुत बड़ी हानि करता है, इसलिए मान त्यागने योग्य है। यह जीव तन, धन, रूप, यौवन, राजलक्ष्मी आदि का गर्व करता है, परन्तु ये सब क्षणभंगुर हैं। आत्मा तो निश्चय से सिद्ध समान है, तीन लोक का आभूषण है, अत: उक्त पदार्थों का क्या मान करना ?

भावार्थ :-मान ही मोक्ष की प्राप्ति में विघ्न करनेवाला है। बाहुबली जैसे तपस्वी, बलवान और विवेकी भी सूक्ष्म संज्वलन मान के उदय से एक वर्ष तक केवलज्ञान नहीं पा सके। मान की कणिका नष्ट होने पर ही उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

मान के त्याग की प्रेरणा

जो विवेकी पुरुष गुणों का महत्व जानते हैं,उन्हें जरा भी मान नहीं करना चाहिए - यह बात आगामी दो छन्दों में कहते हैं :-

---

१. दाहिना हाथ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शार्दूलविक्रीडित

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे,
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गो गतिर्निर्वृते ।
येषां प्रागजनीह तेऽपि निरहङ्काराः श्रुतेर्गोचराः,
चित्रं संप्रति लेशितोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः ।।२१८।।

सत्य वचन में, मति में आगम, हृदय दया, भुज में विक्रम[१] ।
याचकगण को दान तथा निवृत्ति मार्ग में करें गमन ।।
श्रुत-गोचर[२] जन ऐसे गुणयुत होकर भी थे निरहंकार ।
किन्तु आज गुण लेशमात्र नहिं, फिर भी है अभिमान अपार ।।२१८।।

अर्थ :- इस लोक में पहले अनेक महापुरुष हुए हैं, वे वचनों में सत्य, शास्त्रों में बुद्धि, हृदय में दया, भुजाओं में शौर्य युक्त पराक्रम, लक्ष्मी के याचकों को पूर्ण दान और निवृत्ति मार्ग में गमन आदि अनेक गुण युक्त होने पर भी अहंकार रहित थे - ऐसा शास्त्रों में कहा है । लेकिन इस कलि-काल में लेशमात्र गुण नहीं होने पर भी लोग अत्यन्त उद्धत होकर महागर्व में चूर हो रहे हैं - यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

भावार्थ :- पहले चतुर्थकाल में बड़े सत्यवादी, शूरवीर दयावान, दातार, और महाविरक्त पुरुष हुए, परन्तु उन्हें लेशमात्र भी गर्व न हुआ और अभी इस काल में रंचमात्र भी गुण नहीं होने पर भी उद्धत हैं, गर्व युक्त हैं - यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

सब पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर हैं, अतः गर्व करना व्यर्थ है

मालिनी

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यैः
उदरमुपनिविष्टा सा च ते वा परस्य ।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु ।।२१९।।

सब पदार्थ पृथ्वी पर रहते, उसे अन्य[३] धारण करते ।
वे पदार्थ भी अन्य द्रव्य[४] के उदर मध्य निश्चल बैठे ।।

---

१. पराक्रम २. आगम द्वारा ज्ञात ३. तीन वातवलय ४. आकाश

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भगवन्तों के ज्ञान-कोण[1] में वह भी निज को लीन करे ।
अतः अन्य को अधिक जानकर, कौन विवेकी गर्व करे ॥२१९॥

अर्थ :- गर्व करना झूठा है, क्योंकि गर्व करना तो तब उचित है, जब कोई अपने से अधिक न हो, परन्तु सब एक से बढ़ कर एक हैं (फिर क्या गर्व करना?) प्रत्यक्ष में देखो ! सब पदार्थ पृथ्वी पर रहते हैं, इसलिए सबका आधार पृथ्वी है। लेकिन यह त्रैलोक्य की भूमि घनोदधि, घनवात और तनुवात - इन तीन वातवलयों के आधार से है। यह पृथ्वी और ये वातवलय आकाश के उदर में हैं। तथा अनन्त आकाश केवली के ज्ञान के अंश में लीन है। सब एक से बढ़ कर एक हैं, इसलिए अपने से बहुतों को अधिक जान कर कौन गर्व करेगा ? विवेकी तो कदापि गर्व नहीं करेंगे।

भावार्थ :- सभी पदार्थ एक से बढ़ कर एक हैं। सब पृथ्वी के आधार से हैं, पृथ्वी वातवलयरूप पवन के आधार है, वातवलय आकाश के आधार से हैं और आकाश सम्पूर्ण ज्ञान में समा रहा है। संसारी जीवों में भी बाह्य विभूति के द्वारा सभी जीव एक से बढ़ कर एक हैं, लेकिन जीवत्व की अपेक्षा सब समान हैं।

माया से होनेवाली हानि

मायाचार से होनेवाली हानियों का वर्णन आगामी तीन छन्दों में करते हैं :-

शिखरणी

यशो मारीचीयं कनकमृगयामलिनितं
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः।
सकृष्णः कृष्णोऽभूत् कपटबटुवेषेण नितरा-
मपि छद्माल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः ॥२२०॥

अनुष्टुप्

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात् ।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥२२१॥

स्वर्णिम मृग के कपट भाव से, यश मरीचि का हुआ मलीन ।
'अश्वत्थामा हतो' कहा, स्वजनो में हुए युधिष्ठिर हीन ॥

---

१. ज्ञान के कोने में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कपटपूर्ण वटु वेश धारने से ही कृष्ण हुए हैं श्याम ।
अतः कपट का अल्प भाव भी, दुग्ध राशि में जहर समान ॥२२०॥

महागर्त यह मायाचरण सघन मिथ्यातम से है व्याप्त ।
जिसमें छिपे हुए क्रोधादिक विषधर रहते सदा अलक्ष्य[१] ॥२२१॥

अर्थ :- जैसे अत्यधिक दूध को विष का कण भी दूषित कर देता है, वैसे थोड़ा भी कपट महान गुणों को नष्ट कर देता है । देखो ! रावण के मन्त्री मारीचि का यश कपट द्वारा स्वर्ण-मृग का रूप धरने से मलिन हुआ । राजा युधिष्ठिर का अति-निर्मल यश उनके मुख से निकले हुए 'अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा न जानामि'(अर्थात् अश्वात्थामा मारा गया, नर या पशु, नहीं मालूम)- इस मायाचाररूप वचन से मलिन हुआ, उन्हें अपने मित्रों में नीचा देखना पड़ा; इसलिए थोड़ा भी मायाचार बहुत गुणों का घात करता है ।[२]

भावार्थ :- यह मायाचार महादुराचार है । इससे मारीचि मन्त्री लघुता को प्राप्त हुआ और राजा युधिष्ठिर भी अश्वात्थामा मारा गया - ऐसा कहने से लज्जित हुए । इसलिए हे भव्य जीव ! इस माया रूपी गहरे गड्ढे से डरो । इस गड्ढे में मिथ्यात्वरूपी महान अंधकार है । जिसप्रकार गहरे और अंधेरे गड्ढे में सर्प छिपे रहते हैं; उसीप्रकार मायारूपी गड्ढे में क्रोधादिरूप महादुष्ट सर्प छिपे रहते हैं ।

वसन्ततिलका

प्रच्छन्नकर्म मम कोऽपि न वेत्ति धीमान्,
ध्वंसं गुणस्य महतोऽपि हि मेति मंस्थाः ।
कामं गिलन् धवलदीधितिधौतदाहं,
गूढोऽप्यबोधि न विधुं स विधुन्तुदः कैः ॥२२२॥

मेरे किए गुप्त पापों का अथवा हुई गुणों की हानि ।
नहीं किसी को ज्ञात हुई - ऐसा मत समझ अरे धीमान् ॥
धवल रश्मि से दाह जगत को धोता है यह चन्द्र सुजान ।
हुआ राहु से ग्रस्त, गुप्त होकर भी किसे न होता ज्ञान ॥२२२॥

---

१. दिखाई नहीं देते २. कृष्ण भी कपटपूर्ण वटु-वेश धारण करने के कारण श्याम वर्ण के हुये - यह उल्लेख इस छन्द के अर्थ में नहीं हो पाया है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- हे जीव ! तू ऐसा भ्रम मत कर, कि मेरा गुप्त पाप कोई नहीं जानेगा। बुद्धिमान भी नहीं जान सकते, तो अन्य लोग कैसे जानेंगे। यह पाप मेरे महान गुणों को कैसे ढकेगा ? तू ऐसा बिलकुल मत मान। प्रत्यक्ष देख ! अपनी उज्जवल किरणों से जगत के आताप को दूर करनेवाले चन्द्रमा को भी गुप्तरूप से राहु ग्रस लेता है,लेकिन इस बात को कौन नहीं जानता ? अर्थात् सभी जानते हैं।

लोभ से होनेवाली हानि

जीव को लोभ से होनेवाली हानि का वर्णन आगामी छन्द में करते हैं :-

हिरणी

वनचरभयाद् धावन् दैवाल्लताकुलबालधिः,
किल जडतया लोलो बालव्रजेऽविचलं स्थितः।
वत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः,
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः ॥२२३॥

वनचर-भय से दौड़ रही पर उलझी पूँछ लताओं में ।
दैवयोग से, चमर-गाय हो मुग्ध पूँछ के बालों में ॥
वहीं खड़ी रहती, वनचर से उसके प्राण हरे जाते ।
तृष्णातुर प्राणी विपत्ति में प्रायः ही मारे जाते ॥२२३॥

अर्थ :- देखो ! लोक में प्रसिद्ध है कि वन में घूमने वाले शिकारी भील अथवा व्याघ्र के भय से भागती हुई चमर या सुरई गाय[१] की पूँछ झाड़ियों में उलझ जाने पर वह मूढ़ता से पूँछ के बालों के लोभ में खड़ी रहती है, और शिकारी के द्वारा मारी जाती है। इसलिए जानना चाहिए कि तृष्णा करनेवालों पर अधिकतया ऐसी अनेक विपत्तियाँ आती हैं।

निकट भव्य जीवों को होनेवाले भाव

आत्मा का अहित करनेवाली कषायों को जीतनेवाले अल्प संसारी जीवों को ऐसी सामग्री प्राप्त होती है - यह बात आगामी दो छन्दों में कहते हैं :-

हिरणी

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः,
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।

---

१. चमर गाय की पूँछ में बहुत घने और सुन्दर बाल होते हैं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता,
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ।।२२४।।

विषय-विरक्ति परिग्रह त्यागो, करो कषायों का निग्रह ।
शम दम यम अभ्यास तत्त्व का तपश्चरण का हो उद्यम ।।
मनोवृत्ति को नियमित करना जिन-भक्ति अरु करुणाभाव ।
जब समीप तट भव-समुद्र का भव्यों के हों ऐसे भाव ।।२२४।।

अर्थ :- विवेकी जीवों को संसार- समुद्र का किनारा निकट आने पर विषयों से विरक्तता, परिग्रह का त्याग, कषायों का निग्रह, शम (शान्ति अर्थात् रागादि का त्याग) दम (मन और इन्द्रियों का निरोध) और यम (जीवन पर्यन्त हिंसादि पापों का त्याग) - इनका धारण, तत्त्व का अभ्यास, तपश्चरण का उद्यम, मन की वृत्तियों का निरोध, जिनेन्द्र भक्ति और जीवों की दया इत्यादि सामग्री प्राप्त होती है।

मालिनी

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा,
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी ।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ।।२२५।।

नियम और यम में तत्पर जो देहादिक से चित्त निवृत्त ।
सब जीवों में करुण भाव युत और समाधिदशा को प्राप्त ।।
आगमोक्त आहार अल्प है निद्रा को है किया निरस्त ।
पाया है अध्यात्म सार दहते क्लेशों का जाल समस्त ।।२२५।।

अर्थ :- यम और नियम योग के मूल हैं, यम अर्थात् अयोग्य क्रियाओं का आजीवन त्याग और नियम अर्थात् घड़ी, पल, प्रहर, पक्ष, मास, चातुर्मास आदि की मर्यादा में संवर या त्याग। इनके पालन में साधु सदैव तत्पर रहते हैं। वे महा शान्त-चित्तवाले होते हैं। उनके भावों में देहादि बाह्य पदार्थों से निर्वृत्ति हो जाती है। समाधि अर्थात् निर्विकल्प दशा रूप परिणमित होते हैं। सभी जीवों के प्रति दया भाव रखते हैं। विहित अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से योग्य अल्प

आहार लेते हैं। निद्राजयी होते हैं। अध्यात्म के सारभूत आत्म स्वभाव का निश्चय करनेवाले होते हैं। निरंतर आत्मानुभव में मग्न होते हैं।

गुणों से मण्डित मुनिराज ही मुक्ति के पात्र

उपरोक्त गुणों से युक्त मुनिराज ही निश्चय से मुक्ति के पात्र हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

मालिनी

समाधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः,
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः,
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥२२६॥

हेय ग्राह्य अर्थों को जानें हिंसादिक पापों से दूर।
निज-हित निहित चित्त[1] है जिनका इन्द्रिय शान्त हुई सम्पूर्ण ॥
निज-पर हितकारी वाणी है हुए सर्व संकल्प विमुक्त।
सर्व प्रपञ्च विहीन मुनीश्वर क्यों न पात्र बन होंगे मुक्त ॥२२६॥

अर्थ :- जो समस्त त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य वस्तुओं का स्वरूप भलीभाँति जानते हैं, हिंसादि सभी पापों से दूर हैं, जिनका चित्त आत्म-कल्याण के कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है, सर्व इन्द्रियों के विषयों से निर्वृत्त हो गए हैं, जिनके वचन स्व और पर का कल्याण करनेवाले हैं और जो समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित हैं - वे महापुरुष सर्व प्रपञ्चों से रहित होते हुए मुक्ति के भाजन (पात्र) क्यों न होंगे ? अर्थात् वे निःसंदेह शिव-सुख के पात्र होंगे।

भावार्थ :- जो सर्व प्रपञ्चों से रहित होता है, वही मुक्त होता है; क्योंकि मुक्ति का मूल निःप्रपञ्चपना ही है। जो हेयोपादेय को जानकर हेय पदार्थों का त्याग करते हैं और आत्म कल्याण के कारणभूत रत्नत्रय को ग्रहण करके विषयों से विरक्त होते हैं, वे भवसागर से पार होते हैं।

रत्नत्रय की रक्षा करने की प्रेरणा

हे मुनि ! तुम मुक्त होना चाहते हो और तुमने मुक्ति की कामना से रत्नत्रय धारण किया है, अतः तुम रत्नत्रय का भंग होने से डरना और जगत को

---

१. आत्मकल्याण में लगा मन

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विषयासक्त देखकर स्वयं विषयासक्त मत होना - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

दासत्वं विषयप्रभोर्गतवतामात्मापि येषां परः,
तेषां भो गुणदोषशून्यमनसां किं तत्पुनर्नश्यति ।
भेतव्यं भवतैव यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रयं,
भ्राम्यन्तीन्द्रियतस्कराश्च परितस्त्वां तन्मुहुर्जागृहि ।।२२७।।

विषय-नृपति के दास हुए जो निज को पर के करें अधीन ।
गुण अरु दोष विवेक शून्य जो, उनका क्या हो सकता क्षीण ।।
तीन भुवन उद्योतित जिससे वह रत्नत्रय तेरे पास ।
भ्रमते इन्द्रिय चोर सर्वतः अतः निरन्तर भय से जाग ।।२२७।।

अर्थ :- जो अविवेकी विषयरूपी राजा के दास हुए हैं, जिनका चित्त गुण-दोषों के विचार से शून्य हुआ है और जिनका आत्मा पराधीन है; उनकी दशा देखकर, हे विवेकी तू भटकना मत ! वे तो सम्यग्ज्ञानरूपी धन से रहित दरिद्री हैं, तो इनका क्या जाएगा ? परन्तु तेरे पास तो तीन लोक को प्रकाशित करनेवाला रत्नत्रय धन है इसलिए तुझे डर कर (संभलकर) रहना चाहिए। तेरे आसपास चारों तरफ इन्द्रिय रूपी चोर घूम रहे हैं। वे तेरे ज्ञान वैभव को चुरा न लें - ऐसा प्रयत्न कर, अर्थात् सदा जाग्रत रह।

भावार्थ :- जैसे संसार में निर्धन व्यक्ति जागृत रहे या सोता रहे, उसे चोरों का कोई डर नहीं है, चोर उसका क्या बिगाड़ लेंगे ? परन्तु हीरा, माणिक, मोती - ऐसे रत्नत्रय आदि धन से युक्त पुरुषों को चोरों से सदा सावधान रहना चाहिए। यदि सावधान न रहेंगे तो वे चोरों द्वारा लूटे जायेंगे। उसीप्रकार अविवेकी जीव तो रत्नत्रय धर्म से रहित हैं, उन्हें इन्द्रियरूपी चोरों का डर नहीं है, इसलिए प्रमादी होकर विषयों का सेवन करते हैं, परन्तु तू रत्नत्रयरूपी धन का धारी है, इसलिए इन्द्रियरूपी चोरों से सावधान रहना चाहिए। यदि तू प्रमादी रहेगा तो अपना धन लुटाएगा।

संयम के उपकरणों से भी अनुराग करने का निषेध

तुझे विषयों से अनुराग तो है नहीं, अतः तू पीछी-कमंडलु आदि संयम के उपकरणों में भी अनुराग मत कर - यह शिक्षा आगामी छन्द में देते हैं :-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वसन्ततिलका

रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो,
मुह्येद्वृथा किमिति संयमसाधनेषु ।
धीमान् किमामयभयात् परिहृत्य भुक्तिं,
पीत्वौषधिं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम् ॥२२८॥

रम्य वस्तुओं में निर्मोही, क्यों संयम-साधन[1] में लीन ।
रोगाशंका[2] से भोजन तज, अति औषधि से क्यों न अजीर्ण ॥२२८॥

अर्थ :- हे बुद्धिमान ! मनोग्य स्त्री आदि वस्तुओं से तो तेरा मोह चला गया है, अब तू पीछी आदि संयम के साधनों से भी व्यर्थ ही मोह क्यों करता है ? क्या कोई रोग के भय से भोजन को छोड़कर आवश्यकता से अधिक औषधि लेकर अजीर्ण करता है ? अर्थात् कभी नहीं करता ।

भावार्थ :- जैसे कोई बुद्धिमान व्यक्ति अजीर्ण होने के भय से भोजन को छोड़कर पाचक औषधि भी अधिक मात्रा में नहीं लेता, वैसे ज्ञानी कनक-कामिनी आदि परिग्रह को छोड़कर पीछी-कमंडलु आदि संयम के साधनों में ममत्व नहीं करते, क्योंकि ममत्व बन्ध का कारण है । यदि कोई कदाचित् ममत्व करता है, तो वह सरागी होकर महाव्रत को भंग करता है, वीतराग भाव को प्राप्त नहीं करता ।

तप और श्रुतरूपी निधि की रक्षा करने की प्रेरणा

अब सर्व पदार्थों के प्रति निर्मोही मुनि अपने को कृतार्थ मानते हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

पृथ्वी

तपः श्रुतमिति द्वयं बहिरुदीर्य रूढं यदा,
कृषीफलमिवालये समुपलीयते स्वात्मनि ।
कृषीबल इवोज्झितः करणचौरबाधादिभिः,
तदा हि मनुते यतिः स्वकृतकृत्यतां धीरधीः ॥२२९॥

जैसे कृषक चोर आदि की बाधाओं को करके पार ।
घर में रखकर अन्न सुरक्षित, होता है निश्चिन्त अपार ॥

१. *पीछी और कमंडल* २. *रोग की आशंका*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसी तरह तप-श्रुत निधि निज में स्थापित करके धीमान् ।
करण-चोर[1] से रक्षा कर अनुभव करता कृतकृत्य सुजान ॥२२९॥

अर्थ :- जैसे खेत में बीज बोकर अन्न उपजानेवाला किसान चोर आदि की बाधाओं से रहित होकर अपने घर में अन्न लाकर रखने पर ही अपने को कृतार्थ मानता है। वैसे ही साधु तप और श्रुत की वृद्धि करके इन्द्रियादिक चोरों की बाधाओं से रहित होता हुआ अपने आत्म-स्वरूप में लीन होकर ही अपने को कृतार्थ मानते हैं।

जैसे वह किसान भी अपने कर्तव्य का कृतार्थपना (पूर्ति होना) तभी मानता है, जब बिना किसी बाधा के अनाज घर में आ जाता है। वैसे ही धीर बुद्धिवाले साधु भी अपने संयम का कृतार्थपना तभी मानते हैं, जब इन्द्रिय आदि चोरों की बाधा से रहित तप-श्रुतरूपी बीज का ज्ञानरूपी फल अपने में धारण कर लेते हैं, अर्थात् आत्मस्वरूप में लीन हो जाते हैं।

भावार्थ :- इन्द्रियादि चोरों द्वारा तप और श्रुत के फलरूप आत्मज्ञान हरण न किया जाए और अपने स्वरूप में लीन हों तभी यति अपने को कृतार्थ मानते हैं। जैसे किसान अनेक परिश्रम से खेती करके निर्विघ्नरूप से अपने घर में अनाज लाकर ही अपने को कृतार्थ मानता है।

आशारूपी शत्रु से सावधान रहने की शिक्षा

मुझे श्रुतज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञान है, इसलिए आशारूपी शत्रु मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते - ऐसा विचार करके आशारूपी शत्रु से निर्भय होना उचित नहीं है - यही शिक्षा श्री गुरु शिष्य को आगामी छन्द में देते हैं :-

शार्दूल विक्रीडित

दृष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति ज्ञानावलेपादमुं,
नोपेक्षस्व जगत्त्रयैकडमरं निःशेषयाऽऽशाद्विषम् ।
पश्याम्भोनिधिमप्यगाधसलिलं बाबाध्यते वाडवः,
क्रोडीभूतविपक्षकस्य जगति प्रायेण शान्तिः कुतः ॥२३०॥

"मैं ज्ञानी हूं, मुझे नहीं कुछ हानि" ज्ञान का गर्व न कर ।
तीन भुवन को क्षुब्ध करे, आशा-रिपु की न उपेक्षा कर ॥

---

१. इन्द्रियरूपी चोर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देखो जलनिधि में अगाध जल, पर बाधित बड़वानल से ।
शत्रु गोद में जिसकी बैठा, कैसे शान्ति मिले उसे ॥२३०॥

अर्थ :- यह आशारूपी शत्रु मुझ जैसे ज्ञानवन्त का कुछ नहीं बिगाड़ सकता - इसप्रकार ज्ञान के गर्व से आशारूपी शत्रु को कमजोर नहीं समझना चाहिए। यह तीनों लोकों का महाभयंकर अद्वितीय बैरी है, इसे सर्वथा दूर ही करना चाहिए - यह बात दृष्टांत द्वारा समझाते हैं। देखो ! अगाध जलवाले समुद्र को भी बड़वानल सोख लेता है। अतः जिसे शत्रु दबाए रहते हैं, उसे शान्ति कैसे हो सकती है ? जिनके रंचमात्र भी शत्रु नहीं हैं, वे ही निश्चिंत रह सकते हैं। यह आशा तो प्रबल शत्रु है, इसके होते हुए शान्ति कैसे हो सकती है ?

भावार्थ :- जैसे समुद्र में जल अगाध है और बड़वानल की अग्नि थोड़ी है, तो भी वह उसके जल को सोख लेती है, अतः जब थोड़े-से भी शत्रु (कमजोर शत्रु) के सदभाव में भी निराबाधता (निर्विघ्नता) नहीं होती तो आशा के अभाव बिना निराकुलता कैसे हो सकती है ? यदि कदाचित् तू समझेगा कि मेरे तो संयमादि गुण प्रबल हैं, आशा मेरा क्या बिगाड़ लेगी ? परन्तु ऐसा नहीं विचारना चाहिए। समुद्र अति गंभीर था तो भी उसे जरा-सी बड़वानल ने सोख लिया; अतः आशारूपी तीव्र अग्नि संयमरूपी समुद्र को अवश्य ही सोखेगी, इसलिए आशा का सर्वथा नाश करने का प्रयत्न करना चाहिए।

मोह का सर्वथा नाश करने की प्रेरणा

यदि तू आशारूपी शत्रु को निर्मूल करना चाहता है तो मोह का सर्वथा त्याग कर - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

आर्या

स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचारित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्यः।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥२३१॥

ज्ञान और चारित्रवान रागी हो तो न प्रशंसा युक्त ।
मलिन कार्य उत्पन्न करे दीपक वत् काजल तैल संयुक्त ॥२३१॥

अर्थ :- मोह से युक्त हृदयवाले पुरुष यदि शास्त्रज्ञान और शुभाचरण से शोभित हैं, तो भी प्रशंसा योग्य नहीं हैं। जैसे - तेल युक्त होने से दीपक काजल उत्पन्न करता है वैसे राग युक्त जीव पाप अर्थात् अशुभ कर्म रूप मलिनता को उत्पन्न करता है - ऐसा जानकर जगत से स्नेह (राग) छोड़ना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- जैसे तेल युक्त दीपक प्रकाश तो करता है, परन्तु काजलरूपी कलंक को भी उत्पन्न करता है; वैसे तेरा शुभाचरणरूप दीपक रागभावरूपी तेल से युक्त होकर पापरूप कलंक को उत्पन्न करता है, इसलिए देहादिक से राग छोड़। जैसे तेल रहित अग्नि सदा प्रकाशित रहती है और काजल उत्पन्न नहीं करती वैसे तू वीतराग भावरूप रह, जिससे कर्म कलंक उत्पन्न नहीं होगा।

वीतरागता के अभाव में दुःख

जगत के स्नेह से बंधा हुआ तेरा चित्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष करके क्लेश भोगता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

रतेररतिमायातः पुना रतिमुपागतः ।
तृतीयं पदमप्राप्य बालिशो वत सीदसि ॥२३२॥

राग करे फिर द्वेष करे फिर पुनः राग अरु द्वेष करे ।
राग-द्वेष से रहित तीसरे पद[१] विहीन दुःख क्यों न सहे ॥२३२॥

अर्थ :- रे अज्ञानी ! तू विषयों की रुचि से अरुचि में आता है और फिर इन्हीं में रुचि करता है, इसलिए तू जगत से उदासीनता रूप वैराग्य प्राप्त न करके दुःखी है। अतः ऐसा जानकर यदि तू कल्याण करना चाहता है तो तू राग-द्वेष को छोड़कर वैराग्य का सेवन कर।

भावार्थ :- इस संसार में लोग स्त्री आदि विषयों को पहले तो रुचि से भोगते हैं, फिर तत्काल ही उनसे अरुचि हो जाती है, लेकिन फिर उन्हीं से रुचि करते हैं। ऐसा करते हुए वे वाञ्छा रूपी व्याधि से सदा व्याकुल रहते हैं। वे रुचि-अरुचि से रहित वीतराग भाव को प्राप्त न करते हुए खेद-खिन्न होते रहते हैं। इसलिए राग-द्वेष को तजकर समताभाव को भजकर सुखी होना चाहिए।

इन्द्रिय-सुख से दुःखों की शान्ति असम्भव

तू अनेक दुःखों से तप्त है और मोक्ष सुख के अभाव में लेशमात्र विषय सुख से अपने को सुखी मानता है जो कि व्यर्थ है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

तावद् दुःखाग्नितप्तात्माऽयःपिण्डः सुखसीकरैः।
निर्वासि निर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि ॥२३३॥

---

१. *वीतरागता*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तू दुःखाग्नि से तप्त लोहवत् इन्द्रिय-सुख कण से नहिं शान्त ।
मोक्षरूप सुख के समुद्र में जब तक मग्न न हो निर्भ्रान्त ॥२३३॥

अर्थ :- तू लोह-पिण्ड के समान दुःखरूपी अग्नि से तप्त है, अतः जब तक मोक्ष सुखरूपी समुद्र में मग्न नहीं होता, तब तक इन्द्रियों से उत्पन्न लेशमात्र विषय-सुख से अपने को सुखी मानना व्यर्थ है ।

भावार्थ :- जैसे गर्म लोहे के गोले को जल में पूरा डुबोने पर ही वह ठन्डा होता है, लेशमात्र जल के छींटों से उसकी गर्मी शान्त नहीं होती; यदि जल की कुछ बूँदे ही सींची जायें तो वह जल ही भस्म हो जाता है (अर्थात् भाप बनकर उड़ जाता है) । वैसे ही दुःखरूपी अग्नि से तप्त जीवरूपी गोला जब तक मोक्ष-सुखरूपी समुद्र में मग्न नहीं होता, तब तक दुःखरूपी आताप नहीं मिटता । तू देवपद, राज्यपद आदि के अल्प सुख से सुखी होना मानता है, परन्तु यह व्यर्थ है । इन विषय-सुखों से कभी-भी दुःखरूपी आताप कदापि नहीं मिटता । ये लेशमात्र सुख क्षण भर में विलीन हो जाते हैं ।

ज्ञान-चारित्ररूपी मूल्य चुकाकर मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा

निवृत्तिरूपी सागर (मोक्ष सुख) में मग्नता ज्ञान द्वारा ही सम्भव है, इसलिए ज्ञानादि उपायों से उसे अंगीकार कर - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्प्

मंक्षु मोक्षं सुसम्यक्त्वसत्यंकारस्वसात्कृतम् ।
ज्ञानचारित्रसाकल्यमूल्येन स्वकरे कुरु ॥२३४॥

सम्यग्दर्शन का अग्रिम[1] दे, किया मोक्ष को आरक्षित ।
ज्ञान चरित सम्पूर्ण मूल्य दे, उसे हस्तगत करले शीघ्र ॥२३४॥

अर्थ :- सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की पूर्णतारूपी धन से तू शीघ्र ही निर्वाण की प्राप्ति कर ले । जब तू सत्यरूपी मुक्ति को अपने वश में करेगा, तब कृतार्थ होगा ।

भावार्थ :- जैसे कोई व्यक्ति धनादि देकर अपनी इष्ट वस्तु को आपने हाथ में कर लेता है अर्थात् प्राप्त कर लेता है, वैसे ही तू जब रत्नत्रयरूपी धन से मोक्ष पदार्थ को अपने हाथ में कर लेगा, तभी सुखी होगा ।

---

१. पहले दी जानेवाली राशि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भोग्य और अभोग्य के विकल्पों से पार

जिसमें सराग भाव की उत्कृष्टता (अधिकता) है ऐसी प्रवृत्ति और जिसमें वीतराग भाव की उत्कृष्टता है ऐसी निवृत्ति - इन दोनों की अपेक्षा इस जगत का क्या स्वरूप है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

उपेन्द्रवज्रा

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं ,
निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्याम् ।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या,
निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकांक्षी ।।२३५।।

प्रवृत्ति और निवृत्ति अपेक्षा भोग्याभोग्य जगत् अद्वैत ।
हे मुमुक्षु ! अभ्यास करो, अरु तजो अभोग्य-भोग्य का द्वैत ।।२३५।।

अर्थ :- यह सम्पूर्ण जगत अद्वैत अर्थात एकरूप है । विषय-कषायों से निवृत्ति की अपेक्षा भोगने योग्य नहीं है, त्यागने योग्य है और विषय-कषाय की प्रवृत्ति की अपेक्षा भोगने योग्य है । इसप्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति की अपेक्षा इस जगत को भोग्य और अभोग्य जानकर मोक्षाभिलाषियों को निवृत्ति का अभ्यास करना चाहिए। प्रवृत्ति का फल संसार और निवृत्ति का फल निर्वाण है ।

भावार्थ :- यह जगत अविवेकियों को राग के वशीभूत होकर भोग्यरूप भासित होता है और विवेकियों को ज्ञान के कारण त्यागने योग्य भासित होता है । अतः यदि तू मोक्षाभिलाषी है तो इसे त्यागने का अभ्यास कर, इसी से तुझे मुक्ति की प्राप्ति होगी ।

प्रवृत्ति और निवृत्ति से पार अवस्था प्राप्त करने की प्रेरणा

निवृत्ति का अभ्यास कब तक करना ? - इस प्रश्न का समाधान आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवृत्त्यं तदभावतः ।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ।।२३६।।

हो निवृत्ति भावना तभी तक जब तक त्याज्य-वस्तु[१] सम्बन्ध ।
उनका हो अभाव, तब ध्रुव पद, वृत्ति-निवृत्ति विहीन अबन्ध ।।२३६।।

---

१. देहादिक पर-पदार्थ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- जब तक त्यागने योग्य मन-वचन-काय का सम्बन्ध न छूटे तब तक निवृत्ति का ही अभ्यास करना चाहिए तथा पर-वस्तुओं का अभाव होने पर न प्रवृत्ति होती है और न निवृत्ति रहती है, केवल शुद्ध स्वरूप ही रहता है, क्योंकि पर-पदार्थों से सर्वथा रहित होना ही अविनाशी पद (मोक्ष) है।

भावार्थ :- जब तक इस जीव की रागादि परभावों में प्रवृत्ति है, तब तक इसे निवृत्ति का ही अभ्यास करना चाहिए तथा जब यह पर-वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित होने पर मुक्त होता है, तब प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का ही प्रयोजन नहीं रहता। जैसे - जब तक रोग है, तभी तक औषधि का सेवन करना चाहिए, तथा रोग का अभाव होने पर औषधि का प्रयोजन नहीं रहता। उसीप्रकार जब तक प्रवृत्ति है, तभी तक उसके निवारण के लिए निवृत्ति का अभ्यास करना चाहिए, तथा प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव होने पर निवृत्ति से भी कुछ प्रयोजन नहीं रहता।

प्रवृत्ति, निवृत्ति और उनके कारण

प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्वरूप और उसका मूल कारण क्या है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् ।
तौ च बाह्यार्थसंबद्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत् ।।२३७।।

राग-द्वेष ही है प्रवृत्ति अरु है निवृत्ति ही उनका त्याग ।
इनका है सम्बन्ध बाह्य-द्रव्यों से इन्हें करो परित्याग ।।२३७।।

अर्थ :- राग-द्वेष होना ही प्रवृत्ति है और इनका निषेध ही निवृत्ति है। ये दोनों बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से हैं, इसलिए धन-धान्यादि बाह्य पदार्थों का त्याग करना चाहिए।

भावार्थ :- रागादि की प्रवृत्ति का मूल कारण पर-वस्तुओं का सम्बन्ध है, इसलिए निवृत्ति के लिए देहादि परद्रव्यों से ममत्व छोड़ना चाहिए; क्योंकि इस जीव ने अनादि से पर-वस्तुओं को अपना माना, परन्तु वे इसकी नहीं हुईं, इसलिए यह व्यर्थ ही खेद-खिन्न होता है। अत: निज-स्वरूप को जानकर पर-द्रव्यों से प्रीति छोड़ देना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अपूर्व-अपूर्व भाव करने की प्रेरणा

परिग्रह का त्याग करता हुआ में किस प्रकार भावना भाता हूँ - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः ।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः ॥२३८॥

भाता हूँ अब भवावर्त [1] में, पूर्व नहीं भाए जो भाव ।
भाये जो अब उन्हें ना भाऊँ, चाहूँ भव का शीघ्र अभाव ॥२३८॥

अर्थ :- मैं इस संसार में भ्रमण करते हुए, अब भ्रमण का नाश करने के लिए पूर्व में कभी नहीं भायीं - ऐसी सम्यग्दर्शनादि भावनाओं को भाता हूँ। पूर्व में अनादि काल से भायी हुई मिथ्यादर्शनादि भावनाओं को नहीं भाता।

भावार्थ :- भव-भ्रमण की कारणरूप मिथ्यादर्शनादि भावनाऐं मैंने पूर्व में सदा काल भायीं, परन्तु अब मैं इन्हें नहीं भाता हूँ तथा पूर्व में कभी नहीं भायीं - ऐसी मोक्ष की कारणरूप सम्यग्दर्शनादि भावनाओं को भाता हूँ।

हेय-उपादेय का स्वरूप

हितकारी और अहितकारी वस्तुओं का स्वरूप क्या है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट् त्रयम् ।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम् ॥२३९॥

शुभ अरु अशुभ पुण्य-पाप अरु सुख-दुःख ये छह कहे सुजान ।
उपादेय हितकर आदि-त्रय हेय अन्तत्रय अहित बखान ॥२३९॥

अर्थ :- शुभ अर्थात् उत्तम वचन, करुणारूप मन और संयमरूप काया - ये प्रंशसा योग्य हैं और अशुभ अर्थात् खोटे वचन, निर्दयीचित्त और अव्रतरूप काया - ये निन्दा योग्य हैं। इन दोनों से पुण्य और पाप होते हैं। शुभ से पुण्य और अशुभ से पाप होता है। पुण्य से सुख और पाप से दुःख होता है। इसप्रकार शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप और सुख-दुःख - इन छह में से आदि के

---

१. भव-समुद्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तीन शुभ, पुण्य और सुख हितकारी हैं इसलिए आदरणीय या ग्रहण करने योग्य हैं और अंत के तीन अशुभ, पाप और दुःख अहितकारी हैं, इसलिए त्यागने योग्य हैं।

भावार्थ :- यद्यपि निश्चयनय से विचार किया जाए तो इस जीव को एक शुद्धोपयोग ही उपादेय है और शुभ-अशुभ दोनों ही हेय हैं; तथापि व्यवहारनय से विचार किया जाये तो मोक्षमार्ग का सर्वथा घातक होने से अशुभ तो सर्वथा त्याज्य है और शुभोपयोग यद्यपि मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है, तथापि परम्परा मोक्ष का कारण होने से प्रथम अवस्था में कथञ्चित् उपादेय है। शुभ परिणामों से पुण्य-बन्ध होता है और पुण्य से स्वर्गादि का सुख होता है। अशुभ परिणामों से पाप-बन्ध होता है और पाप से नरक निगोदादि का दुःख होता है; इसलिए अशुभोपयोग किसी प्रकार से भी उपादेय नहीं है।

अशुभादि के त्याग का क्रम

अशुभ, पाप और दुःख के त्याग का अनुक्रम आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम्।।२४०।।

उनमें भी हो प्रथम[1] त्याज्य, तो शेष-द्वय[2] का स्वतः अभाव।
प्राप्त परमपद शुद्ध भाव से होता शुभ का तभी अभाव ।।२४०।।

अर्थ :- पहले तो अहित रुप अशुभ छूटता है, उसके अभाव से पाप और दुःख भी छूट जाते हैं। फिर शुद्धोपयोग के प्रभाव से शुभ भी छूट जाता है, जिससे पुण्य और स्वर्गादि सुख भी नहीं होते। कारण के अभाव से कार्य का अभाव भी हो जाता है। यह जीव शुभ छूटने पर परम वीतराग भावरूप शुद्धोपयोग में स्थित होकर परमपद प्राप्त करता है। वह परम पद शुभ और अशुभ दोनों से रहित है और दोनों का अन्त होने पर होता है।

भावार्थ :- आत्मा का उपयोग शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है। अशुद्ध के भी अशुभ और शुभ दो भेद हैं। अशुभ से पाप और पाप से नरकादि दुःख होते हैं, इसलिए अशुभ तो सर्वथा त्याज्य ही है; तथा शुभ से पुण्य और पुण्य से स्वर्गादि सुख होते हैं। वहाँ अशुभ का निवारण करने के लिए

१. अशुभ २. पाप और दुःख

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

शुभ का ग्रहण होता है। फिर शुद्धोपयोग होने पर शुभ भी छूट जाता है और शुद्धोपयोग के प्रसाद से यह जीव मुक्त हो जाता है।

आत्मा और बन्ध की सिद्धि पूर्वक मोक्ष की सिद्धि

यहाँ चार्वाक मतवाले पूछते हैं कि आत्मा हो तो परमपद की प्राप्ति हो। आत्मा ही नहीं है तो परमपद कैसे प्राप्त होगा ? अरे ! आत्मा को गर्भ से लेकर मरण तक किसी ने नहीं देखा। वस्तु हो, तो उस पर दृष्टि जाएगी न ? ये तर्क चार्वाक ने रखे।

सॉख्यमती कहते हैं कि आत्मा तो सदा मुक्त ही है; अतः यह जीव पहले अशुभ को छोड़ता, फिर शुभ को छोड़कर परमपद प्राप्त करता है - ऐसा कहना ठीक नहीं है - इन दोनों का समाधान श्रीगुरु आगामी छन्द में करते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

अस्त्यात्माऽस्तमितादिबन्धनगतस्तद्बन्धनान्यास्रवैः
ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।
मिथ्यात्वोपचितात् सएवसमलः कालादिलब्धौ क्वचित्
सम्यक्त्वव्रतदक्षताऽकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते ॥२४१॥

है अनादि से बँधा आत्मा, बन्धन होता आस्रव से।
वह[1] क्रोधादि जनित अरु क्रोध प्रमादज, जो[2] हो अविरति से ॥
मिथ्यात्व पुष्ट करता अविरति को, काललब्धि की हो जब प्राप्ति।
समकित व्रत विवेक[3] निर्मलता और योग के क्रम से मुक्ति ॥२४१॥

अर्थ :- आत्मा जातिस्मरण से अपने पूर्वभवों को जानता है, भूत आदि भी अपना पूर्व भव बताते हैं तो जीवों को पूर्वभव की प्रतीति होती है - इससे आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है। वह आत्मा अनादि काल से कर्मों से बँधा है, कर्म-बन्ध आस्रवों से होता है और आस्रव क्रोधादि से होते हैं, क्रोधादि प्रमाद से होते हैं, प्रमाद हिंसादि अव्रतों से होता है और अव्रत मिथ्यात्व से पुष्ट होता है। इसप्रकार आत्मा मिथ्यादर्शनादि से मलिन है और काललब्धि पाकर किसी एक मनुष्य भव में सम्यक्त्व, व्रत, विवेक (अप्रमाद), निःकषायता के साथ योग से क्रमानुसार मुक्त होता है।

---

१. आस्रव २. प्रमाद ३. अप्रमाद

भावार्थ :- चार्वाक कहते हैं कि 'आत्मा है ही नहीं', परन्तु यदि आत्मा की सत्ता नहीं है तो 'आत्मा नहीं है' - ऐसा सन्देह किसको होता है ? यदि आत्मा न हो तो व्यन्तरादि ऐसा क्यों कहते हैं कि मैं पहले अमुक था ? तथा अगले भव की और इस भव की पिछली बातें किसको याद आती हैं ? यदि आत्मा ही न हो तो पुण्य-पाप का फल कौन भोगेगा ? अहंकार ममकार किसे होंगे ? इसलिए यह बात निःसंदेह सिद्ध होती है कि आत्मा की सत्ता हैं।

साँख्यमती आत्मा को सर्वथा शुद्ध कहते हैं, परन्तु यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध हो तो संसार-भ्रमण कैसे होगा ? कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई नीच, कोई उच्च - ऐसा भेद क्यों होता है ? यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध हो तो शुद्ध होने के लिए तपश्चरणादि साधन क्यों कहे ? अतः निश्चित होता है कि संसार अवस्था में तो आत्मा अशुद्धता से युक्त है और सम्यग्दर्शनादि उपायों से अशुद्धता का नाश करने पर शुद्ध होता है।

शरीरादि से प्रीति ही आपत्ति

जो पुरुष शरीरादि में निस्पृह हैं वे ही निस्पृह कहे जा सकते हैं, और नहीं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता ।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत् काशा तपःफले ॥२४२॥

"यह मेरा मैं इसका" - ऐसी प्रीति वही आपत्ति समान ।
जब तक है स्वामित्व देह में तप-फल की क्या आशा जान? ॥२४२॥

अर्थ :- "यह शरीर मेरा है और मैं इसका हूँ"- ऐसी प्रीतिरूप ईति (आपत्ति) अनादि से चली आ रही है जो अनेक उपद्रवों को करनेवाली है। जब तक यह जीव शरीररूपी क्षेत्र का क्षेत्री अर्थात् स्वामी हो रहा है तब तक तप के फलरूप मोक्ष की क्या आशा करना ? अर्थात् तब तक मोक्ष नहीं होगा।

भावार्थ :- "यह तन मेरा क्षेत्र है और मैं इसका क्षेत्री अर्थात् स्वामी हूँ। यह मेरा है और मैं इसका हूँ" - इसप्रकार जब तक उपद्रव करनेवाली प्रीतिरूपी आपत्ति रहती है, तब तक मोक्ष की क्या आशा कर सकते हैं ? जैसे - अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहे, टिड्डी, तोते, अपनी सेना और पर की सेना - जब

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तक ये सातों आपत्ति हैं, तब तक किसान को अन्न की क्या आशा हो सकती है ? इसीप्रकार जीव को जब तक शरीर से स्नेह (प्रीति) है, तब तक मुक्ति की क्या आशा हो सकती है ?

देह के प्रति एकत्व बुद्धि के त्याग की प्रेरणा

प्रीति के योग से (मोह के उदय से) जीव को जड़ शरीर से एकत्व बुद्धि होती है, जो संसार का कारण है और इस प्रीति के अभाव से मुक्ति है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽहमऽस्मि न ॥२४३॥

निज को तनमय, तन को निजमय, भ्रम से मान भवार्णव[1] में।
मैं हूँ मैं, पर है पर, मुझमें पर नहिं, मैं न रहूँ पर में ॥२४३॥

अर्थ :- इस जीव ने भ्रान्ति के कारण अपने को अन्यरूप अर्थात् शरीर को अपनेरूप जाना है और इसी मिथ्याज्ञान से यह भव-समुद्र में भ्रमण कर रहा है। अतः अब तू ऐसा जान कि मैं पर-पदार्थरूप नहीं हूँ, मैं जो हूँ सो मैं ही हूँ और पर-पदार्थ पर ही हैं; उनमें मैं नहीं और मुझमें वे नहीं।

भावार्थ :- इस जगत में सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव को ही धारण करते हैं। किसी द्रव्य का अन्य द्रव्य से सम्बन्ध नहीं है। सब भिन्न-भिन्न हैं। मैं अनादि काल से मिथ्यात्व और रागादि के कारण देहादि पर-पदार्थों को अपना जानता रहा, परन्तु वे मेरे तीन काल में भी नहीं हुये, मैंने उन्हें व्यर्थ ही अपना जाना, इसी कारण संसार में भ्रमण करता रहा। अब सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से मैंने यह जाना है कि ये अन्य पदार्थ मैं नहीं हूँ। ये जड़ हैं, मैं चेतन हूँ। मेरा और इनका क्या सम्बन्ध ? यही ज्ञान, मेरे कल्याण का कारण है।

विद्वानों का अपूर्व कौशल

भ्रान्ति दूर होने पर यह निश्चय होता है कि काया आदि को अनुराग बुद्धि से देखना कर्म-बन्ध का कारण है और वैराग्य बुद्धि से देखना कर्मों के नाश का कारण है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

---

१. *संसाररूपी समुद्र*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शार्दूलविक्रीडित

बन्धो जन्मनि येन येन निबिडं निष्पादितो वस्तुना,
बाह्यार्थैकरतेः पुरा परिणतप्रज्ञात्मनः साम्प्रतम् ।
तत्तत् तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो,
दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम् ॥२४४॥

पूर्व जन्म में जो जो वस्तु हुई बन्ध के कारणरूप ।
पर के प्रति अनुराग बुद्धि से किन्तु लखा जब वस्तु-स्वरूप ॥
हुआ चरम वैराग्य, वही वस्तुयें हुई मुक्ति साधन ।
अहो ! अलौकिक, कष्ट-गम्य[१] है विद्वानों का यह कौशल ॥२४४॥

अर्थ :- इस संसार में जिसे बाह्य-पदार्थों में अद्वितीय प्रीति है, उसे जिन-जिन मन-वचन-काय आदि वस्तुओं के द्वारा कर्म-बन्ध हुआ; लेकिन अब उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त होने पर तथा पदार्थों का यथावत् ज्ञान होने पर वे ही वस्तुयें बन्ध का नाश करने के लिए कारणरूप हुईं। इसलिए जिस अज्ञान के कारण मैं रागादिरूप परिणमता हूँ वह अज्ञान जुदा ही है और जो विवेकियों की अपूर्व प्रवीणता है, वह जुदी ही है।

भावार्थ :- पूर्व में देहादि पर-वस्तुओं को राग-बुद्धि से देखनेवाले रागी को वे वस्तुयें बन्ध का कारण होती थीं। लेकिन जब वह उन्हें वैराग्य-बुद्धि से देखने लगा, तब वे ही वस्तुयें मुक्ति का कारण हो गईं। इसलिए राग भाव छोड़कर वीतराग भाव का प्रयत्न करना चाहिए।

बन्ध और निर्जरा की परिपाटी

बन्ध और बन्ध का नाश किस प्रकार होता है - उसका अनुक्रम आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

अधिकः क्वचिदाश्लेषः क्वचिद्धीनः क्वचित्समः ।
क्वचिद्विश्लेष एवायं बन्धमोक्षक्रमो मतः ॥२४५॥

कर्मबन्ध है कहीं अधिक[१] अरु हीन कहीं[२] हैं कहीं समान[३] ।
कहीं मात्र निर्जरा कहीं है[४] बन्ध मोक्ष का यह क्रम जान ॥२४५॥

---

१. मिथ्यात्व दशा में २. व्रती आदि को ३. अविरत सम्यग्दृष्टि के ४. वीतराग दशा में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- किसी जीव में कर्म का बन्धन अधिक है और निर्जरा अल्प है, किसी जीव में कर्म का बन्ध अल्प है और निर्जरा अधिक है, किसी जीव में बन्ध और निर्जरा समान हैं और किसी जीव में केवल कर्म की निर्जरा ही है। - इसप्रकार कर्म से बँधने और छूटने का अनुक्रम है।

भावार्थ :- इस जीव को पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में तो कर्मों का बन्ध बहुत है और निर्जरा अल्प है। पाँचवें और उससे आगे के गुणस्थानों में बन्ध अल्प है और निर्जरा बहुत है। चौथे गुणस्थान में बन्ध और निर्जरा दोनों समान हैं। अकषायी जीवों को (बारहवें गुणस्थान में) केवल निर्जरा ही है, बन्ध नहीं। - यह बन्ध और निर्जरा की परिपाटी कही है।

योगी कौन ?

जिसके कर्म अपना कार्य न कर सकें अर्थात् नया शरीर उत्पन्न न कर सकें, जिसकी ऐसी दशा हुई; वही योगी है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः ॥२४६॥

जिस योगी के पुण्य-पाप, फल दिए बिना खिर जाते हैं।
वह योगी निर्वाण प्राप्त करता न कर्म फिर आते हैं ॥२४६॥

अर्थ :- जिस विरक्त जीव के पुण्य और पाप, फल दिये बिना ही खिर जायें अर्थात् पुण्य का फल स्वर्ग और पाप का फल नरक न दे सकें - वही योगी है; उसे निर्वाण ही होता है, पुनः आस्रव नहीं होता।

भावार्थ :- पुण्य-पाप ही संसार-भ्रमण के मूल कारण हैं। जैसे फल का मूल पुष्प है यदि पुष्प ही खिर जाए तो फल कहाँ से होगा ? वैसे जीवों को चतुर्गति भ्रमण रूप फल का कारण शुभाशुभ कर्मों का उदय है। लेकिन महामुनियों के शुभाशुभ कर्म ही खिर गए तो नया शरीर कैसे होगा ? इसलिए उन्हें तो निर्वाण ही होता है।

प्रतिज्ञाओं के बाँध से तपरूपी सरोवर की सुरक्षा

आस्रव के निरोधरूप संवर है, और वह प्रतिज्ञा पालने से होता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुष्टुप्

महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा ।
मर्यादापालिबन्धेऽल्पामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम् ।।२४७।।

गुणरूपी जल से भरपूर महातपरूप सरोवर जान ।
किञ्चित् क्षति की कर न उपेक्षा मर्यादा का सुदृढ़ बाँध ।।२४७।।

अर्थ :- सम्यग्दर्शनादि गुणरूपी जल से भरा हुआ महा-तपरूपी तालाब प्रतिज्ञारूपी किनारों के बाँध में रंचमात्र भी क्षति सहन नहीं कर सकता ।

भावार्थ :- जैसे जब तक बाँध मजबूत रहता है, तब तक तालाब में जल रहता है । यदि बाँध में थोड़ा-सा भी छेद हो जाए तो वह फूट जाएगा और तालाब में जल नहीं रहेगा । वैसे गुणरूपी जल से भरा हुआ तपरूपी तालाब का प्रतिज्ञारूपी बाँध फूट जाए अर्थात् प्रतिज्ञा से विचलित हो जाये, तो उसमें गुणरूपी जल नहीं रहता ।

अल्प दोष भी बहुत हानिकारक है

संयमरूपी घर की हानि के कारणों का वर्णन आगामी छन्द में करते हैं :-

आर्या

दृढगुप्तिकपाटसंवृत्तिर्धृतिभित्तिर्मतिपादसंभृतिः ।
यतिरल्पमपि प्रपद्य रन्ध्रं कुटिलैर्विक्रियते गृहाकृतिः ।।२४८।।

गुप्ति कपाट[1] धैर्य है भित्ति[2] बुद्धिरूप दृढ़ नींव सुजान ।
अल्प छिद्रयुत मुनिगृह, राग कुटिल सर्पों से विकृत मान ।।२४८।।

अर्थ :- इस मुनिपदरूप घर में महादृढ़ मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्तिरूप दरवाजे हैं, उत्तम धैर्यरूप दीवारें हैं, और बुद्धिरूपी गहरी नींव है । लेकिन किञ्चित भी व्रत-भंगरूपी छिद्र होने पर महाकुटिल रागादि सर्प इस घर को दूषित कर देते हैं ।

भावार्थ :- जिसप्रकार घर में दरवाजे, दीवारें और नींव आदि सब मजबूत हों, परन्तु यदि रंचमात्र भी छिद्र हो तो सर्प आदि दुष्ट जीव घर के अन्दर आ जाते हैं; तब उसमें निर्विघ्न रूप से नहीं रह सकते, कभी-कभी तो

---

१. दरवाजा २. दीवार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्राण भी चले जाते हैं। उसीप्रकार यति पदरूपी घर में गुप्तिरूपी दरवाजे, धैर्यरूपी दीवारें और बुद्धिरूपी नींव होने पर भी रञ्चमात्र व्रत-भंग रूप छिद्र हो तो उसमें रागादि कुटिल सर्प आत्मा में आ जाते हैं जिससे अनेक पर्यायों में अनेक बार मरण करना पड़ता है।

पर-निन्दा के त्याग की प्रेरणा

रागादि दोषों को जीतने में उद्यमशील मुनि यदि कदाचित् दूसरों के दोषों का कथन करे तो रागादि को ही पुष्ट करता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्तपोभिरतिदुर्धरैः ।
तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः ॥२४९॥

अति दुर्धर तप द्वारा अपने दोष-हरण में उद्यमवान ।
पर-निन्दा भोजन से उन दोषों को पुष्ट करे अज्ञान ॥२४९॥

अर्थ :- यदि कोई अत्यन्त दुद्धर तप करके अपने दोषों को दूर करने में उद्यमी होता है; फिर भी यदि कदाचित् वह ईर्ष्या के कारण दूसरों की निन्दा करता है तो अज्ञानी पर-दोष कथारूपी भोजन से अपने रागादि दोषों को ही पुष्ट करता है।

भावार्थ :- विवेकियों को पर-निन्दा नहीं करना चाहिए। यदि कदाचित् वे पर-निन्दा करते हैं तो जैसे रसयुक्त भोजन से देह पुष्ट होती है, वैसे पर-दोष कथन से राग-द्वेषादि दोष पुष्ट होते हैं, जिससे मुनिपद भंग हो जाता है।

गुणवानों के अल्प दोष भी प्रसिद्ध

दोषों को जीतकर व्रताचरण करनेवाले मुनि को कर्मोदयवश से कदाचित् चारित्रादि में कोई दोष उत्पन्न हो जाए और उनके गुण प्रगट किये जायें तो भी उनकी प्रसिद्धि नहीं होती (दोष ही प्रसिद्ध होते हैं) - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

दोषः सर्वगुणाकरस्य महतो दैवानुरोधात् क्वचि-
ज्जातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमस्तं द्रष्टुमन्धोऽप्यलम्।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्रष्टाप्नोति न तावतास्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं जगद्,
विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किं कोऽप्यगात्तत्पदम्।।२५०।।

सर्वगुणाकर[1] महापुरुष में अल्प दोष भी कर्म-वशात् ।
चन्द्र-कलंक समान अन्ध भी उसे देखने हेतु समर्थ ।।
विश्व देखता दोष, किन्तु नहिं जाता महापुरुष स्थान ।
चन्द्र-प्रभा ही दोष दिखाती कोई न जाता चन्द्र स्थान ।।२५०।।

अर्थ :- समस्त गुणों की खान महापुरुष में पूर्व कर्म के उदय से किसी मूलगुण आदि में चन्द्रमा के लांछन समान अल्प दोष भी उत्पन्न हो जाए तो उसे देखने में अन्ध अर्थात् मूढ़ दृष्टिवाले अविवेकी लोग भी समर्थ हो जाते हैं। जगत की दृष्टि में वह दोष ही दिखता है, क्योंकि गुणवान का पद अल्प दोष से भी कलंकित हो जाता है। जैसे चन्द्रमा का कलंक उसकी प्रभा ही प्रगट करती है तभी उसे सारा जगत देखता है, कोई चन्द्रमा में जाकर तो नहीं देखता। वैसे ही महापुरुषों के अवगुण को उनके गुण ही प्रगट करते हैं। कोई उनके घर जाकर तो नहीं देखता।

भावार्थ :- जहाँ अनेक गुण होते हैं, वहाँ दोष छिपना संभव नहीं है। जैसे चन्द्रमा की प्रभा में कलंक शोभित नहीं होता इसलिए वह प्रत्यक्ष भासित होता है। उसीप्रकार मुनिपद में अवगुण शोभित नहीं होते इसलिए वे प्रत्यक्ष भासित होते हैं। लोग कहते हैं कि देखो ! इतने गुणवान होने पर भी इनमें यह दोष कैसे हो गया ?

प्रश्न :- जहाँ अनेक गुण होते हैं, वहाँ अल्प दोष की क्या बात करना ? अपने को तो दूसरों के गुण ही ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर :- उच्चपद में नीची क्रिया शोभा नहीं देती। जैसे उपवास करनेवाला एक कण का भी भक्षण करे तो लोग उसे भ्रष्ट कहते हैं और अव्रती निरन्तर भोजन करे तो भी कोई उसकी निन्दा नहीं करता। वैसे अव्रती में अनेक दोष होते हैं, तो भी कोई उनकी बात नहीं करता और संयमी में रञ्चमात्र भी दोष हो तो उसकी निन्दा होती है कि इसने ऐसी पदवी में ऐसा नीच कार्य किया। इसलिए पदवी के अनुसार ही क्रिया करना चाहिए।

१. *जिसमें समस्त गुण रहते हैं*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञानियों की वैचारिक दशा

ईर्ष्या के कारण अज्ञानी दूसरों के गुणों के प्रति द्वेष करके उनके अविद्यमान दोषों को प्रगट करता है और अपने अविद्यमान गुणों को प्रगट करता है। कोई अपनी महिमा बढ़ाने के लिए बेला-तेला आदि अनेक उपवास करता है, परन्तु अधिक विवेक दशा होने पर यह वृत्ति अच्छी नहीं लगती, अविवेकियों को अच्छी लगती है। - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम् ।
उत्तरोत्तरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते ॥२५१॥

पूर्व काल में किया आचरण था अज्ञान चेष्टा से ।
उत्तर-उत्तर ज्ञान-वृद्धि से[1] योगीजन को प्रतिभासे ॥२५१॥

अर्थ :- पूर्व में जो-जो आचरण किया अर्थात् दूसरों के दोष कहे और अपने गुण प्रगट किये; वह सब उत्तरोत्तर उत्कृष्टदशा होने पर योगीश्वरों को अज्ञान चेष्टा भासित होती है।

भावार्थ :- दूसरों के दोष कहना और अपने गुण प्रगट करना - अज्ञानियों को बुरा नहीं लगता परन्तु ज्ञानी-योगियों को बुरा लगता है।

विवेकियों का आचरण

जो उत्तम ज्ञान-परिणति से रहित हैं, परन्तु उत्कृष्ट तप करते हैं, फिर भी उनकी शरीरादि में ममत्वबुद्धि होती है, लेकिन उससे क्या होता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

हरिणी

अपि सुतपसामाशावल्लीशिखा तरुणायते
भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता।
इति कृतधियः कृच्छ्रारम्भैश्चरन्ति निरन्तरं
चिरपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहाः ॥२५२॥

महा-तपस्वी की भी आशा-बेलि सदा है तरुणाती[2] ।
मनोमूल[3] से ममता-जल पाकर रहती है हरी-भरी ॥

---

१. बाद में जैसे-जैसे ज्ञान-वृद्धि होती है २. युवा अर्थात् हरी भरी रहती है ३. मनरूपी जड़

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अत: विवेकी कष्ट-साध्य आचरण निरन्तर करते हैं ।
चिर-परिचित इस तन से भी वे निष्पृह होकर रहते हैं ॥२५२॥

अर्थ :- वास्तव में महा-तपस्वियों की भी आशारूपी बेल की शिखा तरुण रहती है, क्योंकि जब तक मनरूपी जड़ के माध्यम से ममतारूपी जल आ रहा है, तब तक वह आशारूपी बेल कैसे सूखेगी ? - ऐसा जानकर विवेकी पुरुष अपनी इस देह के प्रति भी अत्यन्त उदास रहते हैं, जीवन-मरण की अभिलाषा नहीं करते । यद्यपि इस जीव का शरीर के साथ चिरकाल से परिचय है तथापि मुनि को शरीर के प्रति ममता नहीं होती है, निस्पृह भाव रहता है । वे कष्ट-साध्य त्रिकाल योगादि से निरंतर शरीर का दमन करते हैं । शीतकाल में जलाशय के किनारे, ग्रीष्मकाल में पर्वत के शिखर पर और वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे निवास करना त्रिकाल योग कहलाता है ।

भावार्थ :- जिसप्रकार बेल की जड़ को जल से सींचने पर उसकी शिखा हरी-भरी ही रहती है, उसीप्रकार ममतारूपी जल से अशुद्ध भावरूपी जड़ को सींचने पर आशारूपी बेल की शिखा सदा तरुण (हरी-भरी) रहती है ।

तन और चेतन की भिन्नता

उपर्युक्त आशय को उदाहरण द्वारा आगामी छन्द में दृढ़ करते हैं :-

रथोद्धता

क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनो: ।
भेद एव यदि भेदवत्स्वलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा ।।२५३।।

क्षीर-नीर वत् हैं अभेद तन-चेतन फिर भी भिन्न रहें ।
बाह्य वस्तु प्रत्यक्ष भिन्न हैं फिर उनकी क्या बात कहें ? ॥२५३॥[1]

अर्थ :- निश्चय से जीव और शरीर ही भिन्न-भिन्न हैं तो अत्यन्त भिन्न स्त्री, पुत्रादि अथवा शिष्यादि बाह्य वस्तुओं की क्या कथा (बात) ? वे तो प्रत्यक्ष ही भिन्न हैं । यद्यपि जीव और देह दूध-पानी के समान अभेदरूप हैं, तथापि वे निश्चय से भिन्न ही हैं ।

---

१. *जल-पैय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।*
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत-रामा ।। **छहढाला : पाँचवीं ढाल, छन्द ७**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :- सभी संसारी जीवों को तैजस और कार्माण शरीर तो सदा लगे ही रहते हैं, वे कभी अलग नहीं होते; जब जीव मुक्त होता है, तब ही छूटते हैं। आहारक शरीर कभी किसी मुनि को होता है। मनुष्य और तिर्यञ्चों को औदारिक तथा देवों और नारकियों को वैक्रियिक शरीर का सम्बन्ध होता है, छूटता है। इसप्रकार अनादिकाल से जीव के साथ शरीर का सम्बन्ध है। जीव और शरीर दूध-पानी की तरह मिल रहे हैं; जब वे ही भिन्न हैं तो स्त्री, पुत्र और शिष्यादि की क्या बात ? वे तो प्रत्यक्ष ही भिन्न हैं - ऐसा जानकर सबसे राग छोड़ो !

शरीर से राग छोड़ने की प्रेरणा

शरीर के संयोग से आत्मा की क्या दशा होती है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वाऽनलसंगमात् ।
इति देह परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ।।२५४।।

देह संग से तप्त हुआ हूँ अग्नि संग से नीर समान ।
अतः देह परित्याग मुमुक्ष सुख अनुभवते निज को जान ।।२५४।।

अर्थ :- कल्याण के इच्छुक महामुनि देह से राग छोड़कर आनन्दरूप किस प्रकार होते हैं ? इसका समाधान करते हैं :- जैसे अग्नि के संयोग से जल तप्त हो जाता है वैसे मैं देह के संयोग से तप्त हो रहा हूँ - ऐसा जानकर अपने कल्याण के इच्छुक महामुनि देह से ममत्व तजकर आनन्दरूप होते हैं।

भावार्थ :- इस जगत में यह जीव जितने भी दुःख, क्लेश आदि भोगता है, वे सब शरीर के सम्बन्ध से ही भोगता है, इसलिए मोक्षाभिलाषी जीवों को शरीर से अनुराग छोड़कर वीतराग भावरूप आचरण करना चाहिए, जिससे पुनः शरीर का सम्बन्ध न हो।

मोह-त्याग की प्रेरणा

शरीरादि के प्रति ममत्व भाव के कारणभूत महा-मोह के त्याग का उपाय आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

अनादिचयसंवृद्धो महामोहो हृदि स्थितः ।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्ध्वं विशुद्धयति ।।२५५।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उर में स्थित महा-मोह, जो है अनादि से पुष्ट हुआ ।
जिनने वमन किया सुयोग[१] से उनका ऊर्ध्व[२] विशुद्ध हुआ ॥२५५॥

अर्थ :- जिन महापुरुषों ने सम्यक् योग से अर्थात् स्वरूप में चित्त के निरोधरूप औषधि से अनादि कालीन कर्मों के संचय से हृदय में स्थित महा-मोह का वमन कर दिया है, उन्हीं का पर-लोक शुद्ध होता है।

भावार्थ :- जिसप्रकार औषधि के योग से पेट में स्थित अजीर्ण का वमन करनेवालों के रोग की निवृत्ति हो जाती है। बहुत पुराने अजीर्ण के संचय से ही रोग बढ़ता है और वह औषधि के योग से ही दूर होता है। उसीप्रकार विभावों से बढ़ा हुआ कर्म-विकार भी सम्यग्ज्ञान से ही नष्ट होता है।

साधुओं को सभी पदार्थ सुख के निमित्त

महा-मोह का अभाव होने से मुनिराज जगत की वस्तुओं को ऐसी दृष्टि से देखते हैं कि ऐसा कौन है जो उनके लिए सुख का निमित्त न होगा ? अर्थात् उनके लिए सभी पदार्थ सुख के निमित्त होंगे - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

एकैश्वर्यमिहैकतामभिमतावाप्तिं शरीरच्च्युतिं,
दुःखं दुष्कृतिनिष्कृतिं सुखमलं संसारसौख्योज्झनम्।
सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राणव्ययं पश्यतां,
किं तद्यन्न सुखाय तेन सुखिनः सत्यं सदा साधवः ॥२५६॥

है एकत्व जिन्हें चक्रीसम[३] वाञ्छित अर्थ शरीर-विनाश ।
अशुभ-निर्जरा दुखमय है सुखमय संसार-सौख्य का नाश ॥
सर्वत्याग है महा-महोत्सव संग्रह प्राण-त्याग सम जान ।
कौन उन्हें नहिं सुख निमित्त है, साधु सुखी यह सत्य सुजान ॥२५६॥

अर्थ :- जो एकाकीपन को ही एक अद्वितीय चक्रवर्तीपना मानते हैं, शरीर के विनाश को मनोवाञ्छित पदार्थों की प्राप्ति मानते हैं, अशुभ कर्म की निर्जरा और शुभ कर्म के उदय को दुःख मानते हैं, संसार सुखों के सर्वथा परिहार को सुख मानते हैं, सर्वत्याग को महोत्सव मानते हैं और संग्रह को प्राण-

---

१. सम्यक् योग २. पर-लोक ३. चक्रवर्ती की सम्पदा के समान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

त्याग मानते हैं – ऐसी जिनकी दृष्टि है उन्हें ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जो सुख का निमित्त नहीं होगा ? अर्थात् सभी सुख के कारण होंगे। इसलिए यह बात सत्य है कि साधु सदा सुखी ही हैं।

भावार्थ :– इस जगत में जो परिग्रह आदि दु:खदायक सामग्री को ही सुख का कारण मानकर अंगीकार करते हैं, उन्हें अन्य दु:ख का कारण और क्या हो सकता है ? इसलिए जो समस्त प्रपंचों से छूट गए हैं, वे ही सदा सुखी हैं।

कर्मोदय होने पर मुनिराज को खेद नहीं होता

कर्म के उदय से उत्पन्न दु:ख भोगने से चित्त में खेद की उत्पत्ति होती है, इसलिए सुख कैसे हो सकता है ? – इस प्रश्न का समाधान आगामी छन्द में करते हैं :–

शार्दूलविक्रीडित

आकृष्योग्रतपोबलैरुदयगोपुच्छं यदानीयते,
तत्कर्म स्वयमागतं यदि विद: को नाम खेदस्तत:।
यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोऽरि: स्वयं,
वृद्धि: प्रत्युत नेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे क: क्षय: ।।२५७।।

उग्र तपोबल से उदयावलि में लायें गोपुच्छ[1] समान।
उदयागत हों स्वयं कर्म तो खेद करें क्यों मुनि विद्वान।।
जिसे जीतने की इच्छा से करें युद्ध के लिए गमन।
शत्रु स्वयं आ करे युद्ध तो क्या हानि ? हो उसका अन्त।।२५७।।

अर्थ :– जो उदय में नहीं आए हुए कर्म को उग्र तप के बल से उदय में लाकर क्षय करते हैं तो स्वयमेव कर्म उदय में आने पर खेद क्यों करेंगे ? मुनि को खेद का नामोनिशान भी नहीं होता। (किञ्चित भी खेद नहीं होता)। जैसे – जिसे शत्रु को जीतने की इच्छा है, वह उसके पास जाकर उसे जीतता है; परन्तु यदि शत्रु स्वयं ही युद्ध की घोषणा करके युद्ध करने के लिए पास आ जाए तो इसमें क्या हानि है? यह तो अधिक प्रसन्नता की बात है।

भावार्थ :– जो योद्धा स्वयं शत्रु के पास जाकर उसे जीतता है, पर यदि वह शत्रु खुद ही अपने पास चला आए तो उस योद्धा की क्या हानि है ?

---

१. गाय की पूँछ के समान हीनता को प्राप्त हुआ कर्म

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसीप्रकार महामुनि तप के बल से कर्मों को उदय में लाकर खिरा देते हैं,यदि उनके कर्म स्वयमेव उदय में आ जायें तो उसमें उन्हें खेद क्यों होगा ?

मुनिराज की ध्यानस्थ अवस्था

मुनिराज कर्म के उदय में खेद नहीं मानते हैं, वे मुनि कर्मों की निर्जरा करते हुए शरीर से भिन्न होने का यत्न करते हैं - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

स्रग्धरा

एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वंसहत्वाद्,
भ्रान्त्याऽचिन्त्याः सहायं तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जाः।
सज्जीभूताः स्वकार्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धाः,
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहाः ॥२५८॥

एकाकित्व प्रतिज्ञायुत परिषह सामर्थ्य सकल परित्याग ।
हैं अचिन्त्य, यदि देह सहायक जानें, होते लज्जावान ॥
साध्य-सिद्धि में तत्पर नरसिंह, तन-वियोग का करें विचार ।
ध्यान धरें पल्यंकासन गिरि-गहन गुफा में मोह निवार ॥२५८॥

अर्थ :- पुरुषों में प्रधान जो नरसिंह पर्वतों की गुफा, गहन वन और एकान्त स्थान में बैठकर आत्म स्वरूप को ध्याते हैं, जिन्होंने मोह का नाश किया है, एकाकी रहने की प्रतिज्ञा की है और जो समस्त संग को छोड़कर परीषहों को सहते हैं; उनकी महिमा अचिन्त्य है । शरीर को अपना सहायक मानने में उन्हें किञ्चित् लज्जा आती है, क्योंकि यह जड़ शरीर हमारी क्या सहायता करेगा, हमने भ्रम से इसे अपना सहायक माना है, परन्तु यह सहायक नहीं है । वे अपना कार्य करने में स्वयं उद्यमी होते हुए पल्यंकासन में बैठकर निज स्वरूप का ध्यान करते हैं और शरीर रहित होने की विधि विचारते हैं कि अब हमें इस शरीर का संयोग न हो । वे शरीर का निरादर करके उसे त्यागने का उद्यम करते हैं ।

भावार्थ :- सभी संसारी जीवों को शरीर से ममत्व है, इसलिए वे बार-बार शरीर धारण करते हैं । जो शरीर का निरादर करके उसका त्याग करते हैं, उन्हें पुनः शरीर धारण नहीं करना पड़ता, वे परमपद प्राप्त करते हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निस्पृह मुनिराज से प्रार्थना

जो कर्म-बन्ध की और शरीर धारण करने की विधि (कारण) दूर होने का चिन्तन करते हैं और परम उत्तम गुणों से मंडित हैं वे मुनिराज हमें भी पवित्र करें - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

येषां भूषणमङ्गसङ्गतरजः स्थानं शिलायास्तलं,
शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनाम् ।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थयः,
ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निस्पृहाः ।।२५९।।

तन में लगी धूल है भूषण और शिलातल है स्थान ।
कंकरीली भू शैय्या, सिंह-गुफा प्राकृतिक वास सुजान ।।
यह मैं, मैं इनका - यह बुद्धि नष्ट हुई, विनशा अज्ञान ।
मन को करें पवित्र हमारे, मुक्ति-पात्र निस्पृह धन-ज्ञान[१] ।।२५९।।

अर्थ :- जिनके लिए शरीर में लगी हुई धूल ही आभूषण है, पत्थर की शिला ही आवास है, कंकरीली पृथ्वी ही शैय्या है, जिनमें सिंहादिक रहते हैं - ऐसी गुफायें ही घर है, ''देह मेरी है और मैं इसका हूँ''- ऐसे विकल्प रहित जिनकी बुद्धि है और जिनकी अज्ञानरूप ग्रन्थि टूट गई है; वे ज्ञान-धन, मुक्ति के पात्र, परम निस्पृह (मुनिराज) हमारे मन को पवित्र करें ।

भावार्थ :- जो विषयाभिलाषी और शरीर के अनुरागी हैं; वे स्वयं ही डूब रहे हैं, दूसरों को कैसे तारेंगे ? अतः जो विरक्त हैं, रागादि रहित हैं, स्वयं तरने में और दूसरों को तारने में समर्थ है; वे हमारे रागादि मल को दूर करके हमारा मन पवित्र करें !

चारित्रवन्त साधु धन्य हैं !

उक्त साधुओं की और भी विशेषतायें आगामी छन्द में बताते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

दूरारूढतपोऽनुभावजनितज्योतिः समुत्सर्पणैः,
अन्तस्तत्त्वमदः कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गताः ।

१. ज्ञानरूपी धन वाले

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विश्रब्धं हरिणीविलोलनयनैरापीयमाना वने,
धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरितैर्धीराश्चिरं वासरान्॥२६०॥

अतिशय तप-प्रभाव के द्वारा ज्ञान-ज्योति का हुआ प्रसार ।
प्राप्त किया है कैसे भी निज आत्म-जन्य आनन्द अपार ॥
वन्य जीव[1] विश्रान्त हुए हिरणी के नेत्र करें विश्वास ।
धन्य धन्य हैं धीर अचिन्त्य चारित्रवन्त वन में चिर-वास ॥२६०॥

अर्थ :- जिन्हें अतिशय तप के प्रभाव से उत्पन्न ज्ञान-ज्योति के प्रकाश से निजात्म तत्त्व की प्राप्ति होने से अतिशय आनन्द उत्पन्न हुआ है, जिनसे वन के प्राणियों को विश्रान्ति मिलती है, जिन्हें हिरणी के चञ्चल नेत्र भी जिन्हें विश्वास से देखते हैं तथा जो अचिन्त्य चारित्र सहित वन में बहुत दिन व्यतीत करते हैं - ऐसे वे धीर धन्य हैं।

भावार्थ :- जो निज स्वरूप में मग्न होकर परम शान्त दशा को प्राप्त हुए हैं, वे धन्य हैं। वन के जीव भी उनसे भयभीत नहीं होते तथा वे सबको प्रिय होते हैं।

भेद-विज्ञान की महिमा

उक्त साधुओं की बुद्धि क्या करती है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तरं,
गत्वोच्चैरविधाय भेदमनयोराराान्न विश्राम्यति ।
यैरन्तर्विनिवेशिताः शमधनैर्बाढं बहिर्व्याप्तयः,
तेषां नोऽत्र पवित्रयन्तु परमाः पादोस्थिताः पांसवः॥२६१॥

ज्ञान-राग का भेद अगोचर उसमें थिर जिनका मतिज्ञान ।
भेदज्ञान के बिना न जिसको मिलता कभी नहीं विश्राम ॥
बाह्य वस्तु से वृत्ति हटाकर अन्तस् में स्थित शम-धन[1] ।
किसे पवित्र करे नहिं उनके चरण-कमल स्थित रज-धन[2] ॥२६१॥

अर्थ :- जिनमें भिन्नता भासित नहीं होती - ऐसी जगत की आशा और आत्मा के मध्य जिनकी बुद्धि स्थित हुई है, अर्थात् जो इन दोनों में अच्छी तरह

१. शान्त भावरूपी धनवाले २. चरण-कमलों की धूलरूपी धन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भिन्नता जाने बिना विश्राम नहीं लेते - ऐसे महामुनि शान्त भावरूप धन के धनी हैं, क्योंकि इन्होंने बाह्य पदार्थों में जानेवाली चित्तवृत्ति को अन्तरंग में स्थापित किया है - ऐसे महा-मुनियों के चरण-कमलों की श्रेष्ठ धूल जगत में किसे पवित्र नहीं करती ? अर्थात् सभी को पवित्र करती है और हमें भी पवित्र करे !

भावार्थ :- जड़ और चेतन का सम्बन्ध अनादि से है, वे एक जैसे हो रहे हैं, तथा सबको एक जैसे भासित होते हैं। जो महापुरुष भेद-विज्ञान से दोनों को भिन्न जानकर जड़ से निर्मम होकर जगत की आशा छोड़ते हैं, उनके चरण-कमलों की धूल जीवों को पवित्र करती है।

सज्जनों द्वारा परिग्रह-त्यागी वन्दनीय

जो बाह्य वृत्ति का निरोध करके कर्मफल को भोगते हैं, उनके परिणामों की विशेषता की प्रशंसा आगामी छन्द में करते हैं :-

शार्दूलविक्रीडित

यत् प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं,
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम् ।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये,
सर्वारम्भपरिग्रहगृहपरित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥२६२॥

जीवों के जो पूर्व जन्म में संचित कर्म अशुभ या शुभ ।
उन्ही दैव की हो उदीरणा अनुभव करते दुःख या सुख ॥
श्लाघनीय[1] शुभ करने वाला पर जो चाहे द्वय[2] विनशें ।
सर्वारम्भ-परिग्रह गृह-परित्यागी पूज्य सज्जनों से ॥२६२॥

अर्थ :- इस जीव के द्वारा पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों को दैव कहते हैं। उनकी प्रेरणा से यह जीव सुख-दुःख भोगता है। जो अशुभ को छोड़कर शुभ को ग्रहण करता है, वह भी भला कहलाता है; परन्तु जो शुभाशुभ दोनों का नाश करने के लिए सर्व आरम्भ-परिग्रहरूप क्रूर ग्रह का त्याग करते हैं, वे योगीश्वर वन्दनीय हैं।

भावार्थ :- जगत के अधिकांश जीव पाप में प्रवीण हैं। कोई-कोई जीव शुभ परिणामी दिखते हैं उन्हें भला कहा जाता है। जो शुभ और अशुभ दोनों को

---

१. प्रशंसनीय २. शुभ और अशुभ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

छोड़कर मात्र शुद्धोपयोगरूप आत्मस्वरूप में तल्लीन हैं, उनकी महिमा कौन कह सकता है ? वे सत्पुरुषों द्वारा वन्दनीय हैं।

कर्मोदय में उदासीन जीव को नवीन कर्म-बन्ध नहीं

जो कर्म के फलरूप सुख-दुःख को भोगते हैं, उनके नए पुण्य-पाप बँधते रहेंगे तो दोनों का नाश कैसे होगा ? - इस प्रश्न का समाधान आगामी छन्द में करते हैं :-

शिखरणी

सुखं दुःखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्,
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत्।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं,
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव ।।२६३।।

पूर्वोपार्जित कर्मोदय से सुख-दुःख दोनों होते हैं ।
क्यों प्रीति ? क्यों खेद ? सत्पुरुष यह विचार ही करते हैं ।।
उदासीन उन सत्पुरुषों के पूर्व-कर्म खिर जाते हैं ।
नए नहीं बँधते, मणि-सम वे सदा प्रकाशित होते हैं ।।२६३।।

अर्थ :- सुख या दुःख पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से होते हैं। अतः यदि कदाचित् सुख में प्रीति और दुःख में आताप मानें तो नए कर्म अवश्य बँधेंगे; परन्तु जो महापुरुष हर्ष-विषाद नहीं करते अर्थात् "किससे प्रीति करें और किससे आताप मानें"- ऐसा विचार कर अत्यन्त उदासीन रहते हैं, उनके पुराने कर्म खिर जाते हैं और नए कर्म नहीं बँधते। वे विवेकी महामणि के समान सदैव प्रकाशरूप ही रहते हैं।

भावार्थ :- कर्म के उदय में हर्ष-विषाद करने पर नए कर्म बँधते हैं। जो हर्ष-विवाद नहीं करते उन्हें नए कर्म नहीं बाँधते और पूर्व कर्म फल देकर खिर जाते हैं - यह निश्चय है।

यतियों की वृत्ति आश्चर्य की भूमि

पुराने कर्मों की निर्जरा में और नए कर्मों के संवर होने पर क्या होता है - यह बात आगामी छन्द में कहते हैं :-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मालिनी

सकलविमलबोधो देहगेहे विनिर्यन्,
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा ।
पुनरपि तदभावे प्रज्वलत्युज्ज्वलः सन्,
भवति हि यतिवृत्तं सर्वथाश्चर्यभूमिः ।।२६४।।

सकल काष्ठ को निष्ठुरता से भस्म करे जो अग्नि समान ।
देह गेह से भिन्न प्रकाशित सकल विमल जो केवलज्ञान ।।
ईंधन के अभाव में भी ज्यों दहन प्रज्ज्वलित होता है ।
अति आश्चर्य अदेही का भी, ज्ञान प्रज्ज्वलित रहता है ।।२६४।।

अर्थ :- जिसप्रकार अग्नि काष्ठ को पूरी तरह भस्म करके उसके अभाव में अति निर्मलरूप से प्रज्जवलित होती है, उसीप्रकार निर्मल ज्ञान देह-गृहादि का अभाव करके निर्मल प्रकाश करता है। अहो! यति का आचरण सर्वथा आश्चर्य का स्थान है।

भावार्थ :- ज्ञान प्रगट होने पर गृहादि को छोड़कर, देह का राग छोड़कर सकल परिग्रह का त्याग करके ज्ञान ही निर्मल प्रकाश करता है। मुनियों की वृत्ति अलौकिक होती है। मुनि को ही पूर्ण ज्ञान होता है, गृहस्थ को अल्प होता है।

मुक्ति में ज्ञानादि गुणों का नाश मानना मिथ्या

संसार और मुक्त अवस्था जीव की ही हैं। जो ज्ञानादि गुणों का नाश करके मुक्ति मानते हैं उनकी मान्यता का निराकरण आगामी छन्द में करते हैं :-

अनुष्टुप्

गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते ।
अत एव हि निर्वाणं शून्यमन्यैर्विकल्पितम् ।।२६५।।

गुणमय होता गुणी, अतः गुण के विनाश से गुणी विनाश ।
अतः अन्यमत द्वारा कल्पित, शून्य अवस्था में निर्वाण ।।२६५।।[1]

अर्थ :- गुणी अर्थात् आत्मा ज्ञानादि गुणमय है, अतः ज्ञानादि का नाश होने पर आत्मा का नाश हो जाता है। जैसे - उष्णता के अभाव में अग्नि का भी अभाव है।

१. *बौद्ध मतानुयायी निर्वाण को शून्य अवस्थारूप मानते हैं; परन्तु यह कल्पना ही है*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कुछ लोग दीपक के बुझने के समान ज्ञान का अन्त होने पर निर्वाण मानते हैं, परन्तु निर्वाण का ऐसा स्वरूप नहीं है। ज्ञान की पूर्णता ही मुक्ति है। द्रव्य गुणमय होता है, इसलिए गुण का नाश होने पर द्रव्य का भी नाश हो जाएगा।

आत्मा का स्वरूप

आगामी छन्द में आत्मा स्वरूप बताते हैं :-

अनुष्टुप्

अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः ॥२६६॥

सुखी अजन्मा अविनाशी कर्त्ता-भोक्ता अरु मूर्ति-रहित ।
देह मात्र मल रहित प्रभू ! हो ऊर्ध्व-गमन कर अचल-स्थित ॥२६६॥

अर्थ :- आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता और कभी नष्ट नहीं होता। उसकी कोई मूर्ति नहीं है, अतः वह अमूर्तिक है। व्यवहारनय से कर्मों का कर्त्ता है और निश्चयनय से अपने स्वभाव का कर्त्ता है। व्यवहारनय से सुख-दुःख का भोक्ता है और निश्चयनय से अपने स्वभाव का भोक्ता है। वह अज्ञान से इन्द्रियजन्य सुख को सुख मानता है और निश्चयनय से परमानन्दमय और ज्ञानस्वरूपी है। व्यवहारनय से देह मात्र है। निश्चयनय से चेतना मात्र है तथा कर्ममल से रहित होकर वह लोक के शिखर पर जाकर प्रभु होकर अचलरूप से स्थित हो जाता है।

भावार्थ :- आत्मा समस्त उपाधियों से रहित केवल ज्ञानानन्दमय है, परन्तु पर को अपना मानकर भ्रान्ति से संसार में भ्रमण करता है। जब यह अपने ज्ञान स्वरूप को जानता है, तब निरुपाधि ज्ञानरूप होकर अविनाशी हो जाता है।

अनन्त सुखमय हैं सिद्ध भगवान

इन्द्रियजन्य सुख के अभाव में सिद्ध भगवान सुखी कैसे होंगे ? - इस शंका का समाधान आगामी छन्द में करते हैं :-

अनुष्टुप्

स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत् सुखं यदि तपस्विनाम्।
स्वाधीनसुखसंपन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् ॥२६७॥

निजाधीन होने से दुःख भी तपोधनों को सुखमय है ।
निजाधीन सुखयुक्त सिद्ध को कैसे सुखमय नहीं कहें ॥२६७॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :- जब मुनियों के स्वाधीन काय-क्लेशरूप दुःख को भी सुख कहा है तो सिद्धों को सुखी क्यों न कहें ? वे तो सदा स्वाधीन सुखमय ही हैं।

भावार्थ :- तत्त्वदृष्टि की अपेक्षा जगत के जीव दुःखी हैं, उनमें सम्यग्दृष्टि मुनि ही सुखी कहे गये हैं, तो सिद्ध तो केवल आनन्दरूप ही हैं।

ग्रन्थ के अभ्यास का फल

ग्रन्थ को पूर्ण करते हुए ग्रन्थ की आज्ञानुसार प्रवर्तन करने का फल आगामी छन्द में बताते हैं :-

मालिनी

इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्यं,
रचितमुचितमुच्चैश्चेतसां चित्तरम्यम् ।
इदमविकलमन्तः संततं चिन्तयतः,
सपदि विपदपेतामाश्रयन्ते श्रियं ते ॥२६८॥

कतिपय वचन-गम्य रचना से होता जिनका चित्त उदार ।
उनका चित्त रमाने वाला ग्रन्थ रचा है भली प्रकार ॥
जो अपने अन्तस में इसका अविकल[1] चिन्तन करते हैं ।
सब विपत्ति से रहित, मोक्ष लक्ष्मी का आश्रय करते हैं ॥२६८॥

अर्थ :- कतिपय वचन-रचना से उदार चित्तवाले महामुनियों को रमणीक यह निर्दोष आत्मानुशासन ग्रन्थ भले प्रकार रचा गया है। जो अन्तःकरण में निरन्तर महापुरुषों के गुणों का चिन्तवन करता है वह शीघ्र ही आपदा रहित अविनाशी लक्ष्मी प्राप्त करता है।

भावार्थ :- जो जैसा चिन्त्वन करता है, वैसा फल प्राप्त करता है। जैसे सुगन्धित पुष्प के योग से तिल भी सुगन्धित हो जाता है, वैसे महापुरुषों के गुणों का चिन्त्वन करनेवाला स्वयं भी शुद्ध हो जाता हैं।

गुरुवर जिनसेनाचार्य का स्मरण

ग्रन्थ का समापन करते हुए ग्रन्थ-कर्त्ता अपने गुरु के नाम का उल्लेख करके अपना नाम आगामी छन्द में प्रकट करते हैं :-

---

१. पूर्ण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुष्टुप्

जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम् ।
गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥२६९॥

श्री जिनसेनाचार्य-चरण-चिन्तन में रत है जिनका चित ।
उन है भदन्त गुणभद्र रचित कृति आत्माऽनुशासन वर्णित ॥२६९॥

अर्थ :- जिन-सेना अर्थात् मुनि-मंडली के आचार्य अर्थात् गणधरदेव के चरण-कमलों के स्मरण के आधीन जिनका चित्त है - ऐसे गुणों से भद्र अर्थात् कल्याणरूप और भदन्त अर्थात् पूज्य पुरुष जैनाचार्य की यह आत्मानुशासन कृति है।

द्वितीय अर्थ :- जिनसेनाचार्य के चरण-कमलों के स्मरण में आधीन चित्तवाले पूज्य गुणभद्र आचार्य ने इस आत्मानुशासन का वर्णन किया है।

भावार्थ :- जिनवर की सेना के आचार्यों में सबसे मुख्य गणधरदेव हैं। उनकी भक्ति में जिनका चित्त आरूढ़ है - ऐसे गुणों से भद्र अर्थात् कल्याणरूप मुनिराज तथा जैन के आचार्य द्वारा यह ग्रन्थ कहा गया है। अथवा, यह ग्रन्थ जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्र द्वारा कहा गया है - इसप्रकार दोनों अर्थ प्रमाण हैं।

अन्तिम मङ्गलाचरण

श्री ऋषभदेव भगवान तुम्हारे कल्याण के कर्ता हों - ऐसा आगामी छन्द में कहते हैं :-

अनुष्टुप्

ऋषभो नाभिसूनूर्यो भूयात्स भविकाय वः ।
यज्ज्ञानसरसि विश्वं सरोजमिव भासते ॥२७०॥[1]

जिनके ज्ञानरूप सरवर में कमल तुल्य जग है भासित ।
ऋषभ, नाभिनन्दन भविजन के हैं महान कल्याण निमित्त ॥२७०॥

अर्थ :- जिनके ज्ञानरूपी सरोवर में समस्त जगत कमल के समान भासित होता है, वे नाभि राजा के पुत्र ऋषभदेव तुम्हारे महा-कल्याण के निमित्त हों।

॥ इति आत्मानुशासन शास्त्र सम्पूर्ण ॥

---

१. *जीवराज ग्रन्थमाला सोलापूर द्वारा प्रकाशित प्रति में यह छन्द नहीं है*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकांश	श्लोक संख्या
अ	
अकिंचनोऽहमित्यास्स्व	११०
अजाकृपाणीयमनुष्ठितं	१००
अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः	२६६
अतिपरिचितेष्ववज्ञा	९२
अधिकः क्वचिदाश्लेषः	२४५
अधीत्य सकलं श्रुतं	१८९
अधो जिघृक्षवो यान्ति	१५४
अध्यास्यापि तपोवनं	१३४
अनादिचयसंवृद्धो	२५५
अनिवृत्तेर्जगत्सर्वं	३९
अनेकान्तात्मार्थ	१७०
अनेन सुचिरं पुरा	१९४
अन्तर्वान्तं वदनविवरे	९९
अन्धादयं महानन्धो	३५
अपत्रप तपोऽग्निना	१३१
अपरमरणे मत्वात्मीया	१८५
अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न	२०४
अपि सुतपसामाशा	२५२
अपिहितमहाघोरद्वारं	८०
अप्येतन्मृगयादिकं	२८
अभुक्त्वापि परित्यागात्	१०९
अमी प्ररूढवैराग्याः	११६
अर्थिनो धनमप्राप्य	६५
अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य	१०२
अवश्यं नश्वरैरेभिरायुः-	७०
अविज्ञातस्थानो	७६
अव्युच्छिन्नैः सुख-	८८
अशुभाच्छुभमायातः	१२२
अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं	२३५
अश्रोत्रीव तिरस्कृता-	९१
असामवायिकं	७९
अस्त्यात्माऽस्तमितादि	२४१
अस्थिस्थूलतुला	५९
अहितविहितप्रीतिः	१९२
आ	
आकर्ण्याचारसूत्रं	१३
आकृष्योग्रतपोबलैरुदय	२५७
आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्	११
आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं	१२
आत्मन्यात्मविलोपनात्म	१९३
आदावेव महाबलैरविचल	६२
आदौ तनोर्जननमत्र	१९५
आमृष्टं सहजं तव	१६०
आयातोऽस्यतिदूरमङ्ग	४९
आयुः श्रीवपुरादिकं	३७
आराध्यो भगवान्	११२
आशाखनिरगाधेयमधः	१५७
आशाखनिरतीवाभूदगाधा	१५६
आशागर्तः प्रतिप्राणि	३६
आशाहुताशनग्रस्त-	४३
आस्वाद्याद्य यदुज्झितं	५०
इ	
इतस्ततश्च त्रस्यन्तो	१९७
इति कतिपयवाचां	२६८
इत्थं तथेति बहुना	९८
इमे दोषास्तेषां प्रभवन	१४७
इष्टार्थोद्यदनाशितं	८७

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्लोकांश	श्लोक संख्या
इह विनिहतबह्वारम्भ	१६९
इहैव सहजान् रिपून्	११४
उ	
उग्रग्रीष्मकठोर-	५५
उच्छ्वासः खेदजन्यत्वाद्	७३
उत्तुङ्ग सङ्गत कुचाचल	१३२
उत्पन्नोऽस्यसिदोष-	५४
उत्पाद्य मोहमदविह्वलमेव	७७
उद्युक्तस्त्वं तपस्यस्य	२१५
उपायकोटिदूरक्षे	६९
ए	
एकमेकक्षणे सिद्धं	१७२
एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि	२५८
एकैश्वर्यमिहैकतामभि	२५६
एतामुत्तमनायिकामभिजना-	१२८
एते ते मुनिमानिनः	१५०
ऋ	
ऋषभो नाभिसूनूर्यो	२७०
क	
कण्ठस्थः कालकूटोऽपि	१३५
कदा कथं कुतः	७८
करोतु न चिरं घोरं	२१२
कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतैः	२५
कलौ दण्डो नीतिः स	१४९
कः स्वादो विषयेष्वसौ	३८
किं मर्माण्यभिनन्न	५७
कुबोधरागादिविचेष्टितैः	१०६
कृत्वा धर्मविघातं	२४
कृष्ट्वोप्त्वा नृपतीन्निषेव्य	४२
क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति	१२७

श्लोकांश	श्लोक संख्या
ख	
खातेऽभ्यासजलाशया	४४
ग	
गन्तुमुच्छ्वासनिःश्वा	७१
गलत्यायुः प्रायः	७२
गुणागुणविवेकिभिः-	१४४
गुणी गुणमयस्तस्य	२६५
गेहं गुहाः परिदधासि	१५१
च	
चक्रं विहाय निज	२१७
चित्तस्थमप्यनवबुद्धच	२१६
ज	
जना घनाश्च वाचालाः	४
जन्मतालद्रुमाज्जन्तु	७४
जन्मसन्तानसंपादि-	८४
जातामयः प्रतिविधाय	२०५
जिनसेनाचार्यपाद-	२६९
जीविताशा धनाशा च	१६३
त	
तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव	६१
तत्राप्याद्यं परित्याज्यं	२४०
तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह	१९०
तदेव तदतद्रूपं प्राप्नुवन्न	१७१
तपः श्रुतमिति द्वयं	२२९
तपोवल्ल्यां देहः	११५
तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं	२५४
तव युवतिशरीरे	१३६
तादात्म्यं तनुभिः	५८
तावद् दुःखाग्नितप्तात्मा	२३३
तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो	१६१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्लोकांश	श्लोक संख्या
त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ	१४५
त्यजतु तपसे चक्रं	१६५
द	
दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः	१०७
दातारो गृहचारिणः किल	१५९
दासत्वं विषयप्रभो	२२७
दीप्तो भयाग्रवातारि-	६३
दुर्लभमशुद्धमपसुखम	१११
दुःखाद्बिभेषि	२
दृष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति	२३०
दृढ़गुप्तिकपाटसंवृत्ति-	२४८
दृष्ट्वा जनं व्रजसि	१९१
दोषः सर्वगुणाकरस्य	२५०
दोषान् कांश्चन तान्प्रवर्तकतया	१४१
द्रविणपवनप्राध्मातानां	११३
दूरारूढतपोऽनुभावजनित	२६०
द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता	१८१
ध	
धनरन्धनसंभारं	८५
धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न	२०
धर्मादवाप्तविभवो धर्मं	२१
धर्मारामतरूणां	१९
धर्मो वसेन्मनसि	२६
न	
न कोऽप्यन्योऽन्येन व्रजति	२००
नयेत्सर्वाशुचिप्रायः	२०९
न सुखानुभवात्	२७
न स्थास्नु न क्षणविनाशि	१७३
निर्धनत्वं धनं येषां	१६२
निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवृत्यं	२३६
नेता यत्र वृहस्पतिः	३२
नेत्रादीश्वरचोदितः	६४
प	
परमाणोः परं नाल्पं	१५२
परायत्तात् सुखाद् दुःखं	६६
परां कोटिं समारूढौ	१६४
परिणाममेव कारणमाहुः	२३
पापाद् दुःखं धर्मात्सुखमिति	८
पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः	१३०
पित पुत्रं पुत्रः	३४
पुण्यं कुरुष्व	३१
पुरा गर्भादिन्द्रो	११९
पुराणो ग्रहदोषोत्थो	१८३
पुरा शिरसि धार्यन्ते	१३९
पैशुन्यदैन्यदम्भ	३०
प्रच्छन्नकर्म मम कोऽपि २ २	२
प्रज्ञे दुर्लभा सुष्टु	९४
प्रसुप्तो मरणाशंकां	८२
प्राक् प्रकाशप्रधानः	१२०
प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः	५
प्रियामनुभवत् स्वयं	१३७
ब	
बन्धो जन्मनि येन येन	२४४
बाल्ये वेत्सि न	८९
बाल्येऽस्मिन् यदनेन	९०
भ	
भङ्क्त्वा भाविभवांश्च	५१
भर्तारः कुलपर्वता इव	३३
भव्यः किं कुशलं	७
भागत्रयमयं नित्यमात्मानं	२११
भ्रान्त्वापि भवावर्ते	२३८

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्लोकांश	श्लोक संख्या
भीतमूर्तीर्गतत्राणा	२९
भूत्वा दीपोपमो धीमान् १ २	१
भेयं मायामहागर्तान्मिथ्या	२२१
म	
ममेदमहमस्येति	२४२
महातपस्तडागस्य	२४७
मंक्षु मोक्षं सुसम्यक्त्व	२३४
माता जातिः पिता	२०१
मामन्यमन्यं मां मत्वा	२४३
मिथ्यात्वातंकवतो	१६
मिथ्यादृष्टि विषान् वदन्ति	१२६
मुच्यमानेन पाशेन	१७९
मुहुः प्रसार्य सज्ज्ञानं	१७७
मृत्योर्मृत्वन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह	१८८
मोहबीजाद्रतिद्वेषौ	१८२
य	
यत् प्राग्जन्मनि संचितं	२६२
यदादाय भवेज्जन्मी त्यक्त्वा	२०८
यदेतत्स्वच्छन्दं	६७
यद्यदाचरितं पूर्वं	२५१
यद्यपि कदाचिदस्मिन्	३
यमनियमनितान्तः	२२५
यशो मारीचीयं	२२०
यस्मिन्नस्ति स भूभृतो	९६
यस्य पुण्यं च पापं च	२४६
यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं	१४
याचितुर्गौरवं दातुर्मन्ये	१५३
यावदस्ति प्रतीकारस्तावत्	२०७
येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभि-	२६१
षां भूषणमङ्गसङ्गतरजः	२५९

श्लोकांश	श्लोक संख्या
र	
रतेररतिमायातः पुना	२३२
रम्येषु वस्तुवनितादिषु	२२८
रसादिराद्यो भागः	२१०
रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः	१८०
रागद्वेषौ प्रवृत्तिः	२३७
राज्यं सौजन्ययुक्तं	१३८
ल	
लक्ष्मीनिवासनिलयं	१
लब्धेन्धनोज्वलत्यग्निः	५६
लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं	१४३
लोकाधिपाः क्षितिभुजो	९५
व	
वचनसलिलैर्हास-	१२९
वनचरभयाद् धावन्	२२३
वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य	१९८
वचोगृहं विषयिणां	१३३
वसति भुवि समस्तं	२१९
वार्तादिभिर्विषयलोल	४७
विकाशयन्ति भव्यस्य	१४२
विज्ञाननिहतमोहं	१०८
विधूततमसो रागस्तपः-	१२३
विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृति	१०५
विरज्य सम्पदः सन्तस्त्यजन्ति	१०३
विरतिरतुला शास्त्रे	६८
विशुध्यति दुराचारः	१६७
विषयविरतिः संगत्यागः	२२४
विषयविषमाशनोत्थित	१७
विहाय व्याप्तमालोकं	१२४
विहितविधिना देहस्थित्यै	१५८

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्लोकांश	श्लोक संख्या
वेष्टनोद्वेष्टने यावत्तावद्	१७८
व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं	८१
श	
शमबोधवृत्ततपसां	१५
शय्यातलादपि तुकोऽपि	१६६
शरणमशरणं	६०
शरीरमपि पुष्णन्ति	१९६
शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि	९७
शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो	१७६
शिरःस्थं भारमुत्तार्य	२०६
शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते	४५
शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमो	२०२
शुभाशुभे पुण्यपापे	२३९
श्वो यस्याजनि यः	५२
षलितच्छलेन	८६
स	
सकलविमलबोधो देहगेहे	२६४
सत्यं वदात्र यदि	८३
सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि	२१८
स धर्मो यत्र नाधर्म	४६
सन्त्येव कौतुकशतानि	१६८
समाधिगतसमस्ताः	२२६
समस्तं साम्राज्यं	११८
सर्वं धर्ममयं क्वचित्	४१
सर्वःप्रेप्सति सत्सुखाप्तिम	९
सस्वमाशासते सर्वे	१५५
संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य	२२
संकल्प्येदमनिष्टमिष्ट-	४८
संसारे नरकादिषु	५३
साधारणौ सकलजन्तुषु	१४८

श्लोकांश	श्लोक संख्या
साम्राज्यं कथमप्यवाप्य	४०
सुखं दुःखं वा स्यादिह	२६३
सुखितस्य दुःखितस्य	१८
सुखी सुखमिहान्यत्र	१८७
सुहृदः सुखयन्तः	१८४
स्नेहानुबद्धहृदयो	२३१
स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत्	२६७
स्वान् दोषान्	२४९
स्वार्थभ्रंशं त्वमविगणयं-	१९९
ह	
हंसैर्न भुक्तमतिकर्क-	९३
हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड	१०१
हानेः शोकस्ततो दुःखं	१८६
हा हतोऽसि तरां जन्तो	२०३
हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा	१४६
हित्वा हेतुफले किलात्र	२१४
हृदयसरसि यावन्निर्मले	२१३
हे चन्द्रमः किमिति	१४०
क्ष	
क्षणार्धमपि देहेन	११७
क्षितिजलधिभिः	७५
क्षीरनीरवदभेदरूपतः	२५३
ज्ञ	
ज्ञानमेव फलं ज्ञाने	१७५
ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा	१७४
ज्ञानं यत्र पुरःसरं	१२५
श्र	
श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा	१०
श्रियं त्यजन् जडः शोकं	१०४
श्रुतमविकलं शुद्धा	

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com